खादी-मीमांसा

खादी-मीमांसा

[नवीन संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण]

लेखक

श्रीबालूभाई मेहता

प्रस्तावना लेखक

आचार्य काका कालेलकर

१९४९

सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

दूसरी बार : १९४६
मूल्य
तीन रुपए

मुद्रक
अमरचंद्र
राजहंस प्रेस, दिल्ली।

लेखक की ओर से—

मुझे यह देखकर खुशी होती है कि हिन्दी 'खादी-मीमांसा' के दूसरे संस्करण का सुयोग प्राप्त हो गया है। पूज्य श्री काका साहब कालेलकर ने इसकी प्रस्तावना लिखी है, इसे मैं इस संस्करण का सौभाग्य मानता हूं। इस समय हमारा राष्ट्र स्वतन्त्रता के दरवाजे पर खड़ा है। प्रत्येक राष्ट्र को अन्न और वस्त्र के मामले में स्वावलम्बी बनना चाहिए। बहुत से प्रान्तों में वस्त्र-स्वावलम्बन की योजनाएं जल्दी ही बनेंगी। ऐसे समय में मैं आशा करता हूं कि खादी की समूल व युक्ति-संगत जानकारी और खादी के नव-संस्करण सम्बन्धी महात्मा गांधी के विचार जनता तक पहुंचाने में 'खादी-मीमांसा' की यह नई आवृत्ति उपयोगी साबित होगी।

इस संस्करण को आंकड़ों, उद्धरणों व विचारधारा की दृष्टि से तातारीख (up to date) बनाने के लिए अ० भा० चर्खा संघ के श्री द्वारकानाथजी लेले व श्री कृष्णदासजी गांधी ने जो परिश्रम किया है, उसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूं।

—बालूभाई मेहता

खादी का भविष्य

(आचार्य काका कालेलकर)

लोग पूछते हैं "खादी का भविष्य क्या है ?" पर वे नहीं जानते कि अुनके अिस प्रश्न के पीछे दूसरा अेक सार्वभौम प्रश्न छिपा हुआ है कि "आज की दुनिया का भविष्य क्या है ?" पहला प्रश्न पूछने वाले खादी के बारे में जितने चिंतित हैं अुतने हो चिंतित अगर दुनिया के बारे में हो जायँ तो दोनों सवालों का जवाब अुन्हें अेक साथ मिल जायगा।

अेक महायुद्ध हुआ, दूसरा भी हुआ; अब तीसरे की पूर्व तैयारियां जोरों से चल रहीं हैं। दूसरे महायुद्ध में हिन्दुस्तान काफी निचोड़ा गया। हिन्दुस्तान का जन-धन बहुत बड़े पैमाने पर काम आया। तो भी अिम्फाल कोहीमा का छोटा-सा अपवाद छोड़कर हिन्दुस्तान की भूमि पर युद्ध नहीं हुआ।

सवाल यह है कि अब तीसरे महायुद्ध में हिन्दुस्तान घसीटा जायेगा या नहीं ? यदि जायेगा तो हिन्दुस्तान की कितनी और कैसी तैयारी होगी ? और अगर घसीटा गया तो अुसका क्या हाल होगा ? जिस समाज का हृदय अेक नहीं है वह अेक राष्ट्र नहीं बन सकता। अैसे समाज को जब लाचारी से युद्ध में घसीटा जाना पड़ेगा तब उसका क्या भयंकर हाल होगा, अिसका चित्र भी हम आसानी से नहीं खींच सकते।

अेक ज़माना था जब अंग्रेज़ न केवल हमारे राज्य-कर्ता थे, किन्तु हमारे सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और विद्या-विषयक गुरु भी बन बैठे थे। पिछले युद्ध तक अुनकी यही भूमिका रही। अुसके बाद अुन्होंने अपना गुरुपद तो छोड़ दिया, अुन्हें छोड़ना पड़ा। सिर्फ अपने सामर्थ्य का घमंड ही अब रखने लगे हैं। पिछले महायुद्ध तक वे अपनेको 'यावच्चंद्र दिवाकारौ' अजेय भी मानते थे। अब की बार जो युद्ध हुआ अुसमें

अुन पर अैसा वार हुआ कि यदि रूस की शक्ति और अमेरिका की संपत्ति की मदद न मिलती तो ब्रिटिश साम्राज्य का नामोनिशान भी नहीं रहता। अब, जब तीसरा युद्ध होगा तब अिंग्लैंड को पता नहीं कि अुसकी क्या हालत होगी। अिस युद्ध में तो हिन्दुस्तान को बिना पूछे निचोड़ सके। आअिन्दा अैसा न कर सकेंगे। अगले युद्ध में हिन्दुस्तान को वे घसीटना तो चाहेंगे ही। लेकिन अिंग्लैंड का काम तभी सफल होगा जब हिन्दुस्तान राजी-खुशी अुस युद्ध में शरीक होगा।

अेक जमाना था जब मिशनरी लोग हिन्दुस्तान को अीसाअी बनाने की कोशिश कर रहे थे। परन्तु बहुत कम लोग अीसाअी हुअे। अधिकांश लोग हिन्दू के हिन्दू और मुसलमान के मुसलमान ही रहे। अब की बार ब्रिटेन की मंशा हिन्दुस्तान को अीसाअी बनाने की चाह न हो, किन्तु अपने साम्राज्यवाद की दीक्षा देने की जरूर होगी। लेकिन वह मुंह से साम्राज्यवाद नहीं कहेगा, वह उसे प्रजासत्ता (Democracy) कहेगा।

ब्रिटेन ने देख लिया है कि हिन्दुस्तान में अगर हिन्दू और मुसलमान अेक हो गये तो वे अपनी स्वतंत्र जागतिक नीति चलायेंगे; अगले युद्ध में यों ब्रिटेन को हिन्दुस्तान की मदद नहीं मिलेगी। पर हिन्दू और मुसलमान अगर अेक दूसरे के दुश्मन बने रहें तो स्वराज पाकर भी अुन्हें अिंग्लैंड की नीति के अनुसार ही चलना पड़ेगा। अिसलिए अिंग्लैंड हमें अेक ओर स्वराज्य के अधिकार दे रहा है, और दूसरी ओर हिन्दू-मुसलमानों के बीच दुश्मनी क़ायम कर रहा है। जब तक हम अगले युद्ध के लिए अुपयोगी साबित होते रहेंगे तब तक अिंग्लैंड की यही नीति रहेगी।

अैसी हालत में हमारा कर्तव्य क्या होगा? बेशक यह कि हम अपने राष्ट्र को बचा लें। अितनी बड़ी अपनी लोक-संख्या को हम बचा लें; और साथ-साथ अैसी किसी शक्ति का संगठन हम बिल्कुल न होने दें जो अगले महायुद्ध में—अतियुद्ध में—अिस्तेमाल की जा सके। शहद की मक्खियों

के छत्ते में मधु होता है अिसलिअे वह छत्ता लूटा जाता है। बर्रे के छत्ते में शहद का अेक बूंद भी नहीं पाया जाता। तो अुसे कौन कैसा लूटेगा? अगर बर्र अहिंसक होता तो उसके छत्ते को कोअी तोड़ता भी नहीं।

अिस मिसाल से हमें अितना समझ लेना चाहिअे कि हमारे राष्ट्र मे अगर समाज अहिंसक बन जाय, स्वावलंबी और स्वयं-पूर्ण बन जाय और बड़े पैमाने पर युद्ध में काम आ सके, अैसी साधन-संपत्ति अुसके पास अिकट्ठा न हो, तो व तभी जाकर हिन्दुस्तान बच सकता है।

अगर हम किसी भी रूप में युद्धोपयोगी साबित हुअे तो अिंग्लैंड, अमेरिका और रूस हमें अगले युद्ध में घसीटे बिना हरगिज न रहेंगे। युद्ध में काम आ सकने जैसी ताकत संगठित होने का संभावना हिन्दुस्तान में अगर रही तो हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े भी क़ायम रहने वाले हैं— यानी हिन्दुस्तान बड़ी तेज़ी से विनाश की ओर दौड़ने वाला है।

अिन सब आपत्तियों से अगर हमें बचना है तो हमें अगले सौ बरस तक कुछ बातें छोड़ देनी होंगी। हम ज़रा देख लें कि वे कौन-कौन-सी हैं।

१. अपनी लोक-संख्या हमें बड़े-बड़े शहरों में, बड़ी तादाद में, केन्द्रित न होने देनी चाहिअे। हमारी जन-बस्ती छोटी-छोटी तादाद में देश भर में जितनी बिखर जाय अुतने हम सलामत हैं।

२. जनता का धन, जहां तक हो सके, न किसी पूंजीपति के हाथ में अिकट्ठा होना चाहिअे, न पूंजीपतियों से भी बदतर अिस ज़माने की सरकारों के हाथ में। जनता को अपने रोजमर्रा के लिअे जितना चाहिअे अुतना ही अुसके हाथ में रहे, अधिक नहीं। और जो कुछ भी कमाना है अुसकी कला जनता के हाथ में रहे, यही सबसे श्रेष्ठ और सलामत व्यवस्था है। सम्राट अशोक ने भी अिसी नीति को पसंद किया था। वह कहता है, "अल्प व्ययः साधु, अल्प भांडता साधु"—खर्च कम करो यही अच्छा है, धन संग्रह भी कम करो, यह भी अच्छा है।

अिस स्थिति को पहुँचने के लिअे जो कुछ भी कीमत चुकानी पड़े, कम है।

३. जनता के श्रम, आराम और विनोद तीनों अलग-अलग न हो कर अेक ही हो जायें। जीवन-दृष्टि से यही सर्वोच्च स्थिति है। सुधरे-हुअे आज के ज़माने में मज़दूरों को राक्षस के जैसा काम करना पड़ता है। अिसका नतीजा यह होता है कि आराम के लिअे अुन्हें शराब पी कर हैवान के जैसा बनना पड़ता है और फिर कभी-कभी विनोद के लिअे पिशाच की-सी लीला करने का अुन्हें मन होता है। बेचारे को मनुष्य बनने का मौका ही नहीं मिलता। यह मौक़ा अगर अुसे मिल जाय तो वह न तो किराये का सैनिक बनेगा, न किसी का गुलाम। और ज़ालिम बनने की तो अुसे कल्पना तक न होगी। खेती, कताअी, बुनाअी, बाग-काम और तमाम गृह-उद्योग मनुष्यता के पोषक हैं। कल-कार-खानों में मनुष्य का दिमाग ही यांत्रिक बन जाता है, और मनुष्यता खोकर वह यांत्रिक युद्धों के लिअे योग्य बनता है; अेवं युद्ध न मिलने पर वह या तो पिंडारी बनता है, या नोवाखाली का गुंडा।

४. जिस तरह पूँजीपति के बलवान-वर्ग की हस्ती ही समाज के लिअे खतरनाक है, अुसी तरह किसी भी ढंग की हो, समर्थ सरकार की हस्ती भी खतरनाक है।

तमाम सरकारें जीती हैं किसी न किसी को दबाने के लिअे। वे या तो अपनो ही प्रजा को दबाती हैं, या प्रजा को नोकर बना कर अपने पड़ोस के देशों को दबाता हैं,—यानी दोनों को दबाती हैं। आज कल की दुनिया पूंजीपतियों से जितनी घबराअी हुअी है अुतनी अिन सरकारों से नहीं घबराती; अिसका कारण यही है कि दुनिया भर में अेक यह भ्रम फैला हुआ है कि जनता के हाथ में वोट आने पर सरकार का तमाम सामर्थ्य जनता के ही हाथ में आ जाता है। जब प्रजा देखेगी कि राज्य-मात्र ही ज़ालिमों की संस्था है तब वह कहेगी कि राज्य-व्यवस्था चाहे पूंजीपति के हाथ में हो या समाज के प्रतिनिधियों के हाथ में, हमें नहीं चाहिए। मुझ पर कौन जुल्म करे और किस तरह से करे अिसका निश्चय मेरे हाथ में रहने से मैं थोड़े ही सुखी बनने वाला हूं ? आज कल

को सुधरी हुअी सरकारें आम जनता के हाथ से हिंसक बनने की शक्ति छीन लेती है और खुद तमाम हिंसा करने की ठेकेदार बन कर स्वयं भयानक हिंसामूर्ति बन रहती है।

अतः हमें अगर अहिंसक समाज की स्थापना करनी है तो हमारी राज्य-पद्धति भी अहिंसक ही होनी चाहिअे।

अिसलिए जैसे भी हो सके क्रमशः सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना जरूरी है। जहाँ जनता जाग्रत है और सत्ता विकेन्द्रित है, वहां जुल्म की गुंजाअिश ही नहीं रहती है। अगर सत्ता जुल्म करने लग जाय भी तो अुसका अिलाज तुरत और वहीं का वहीं हो सकता है।

५. हमारे सामाजिक विधान में भी अति विस्तृत संगठन न हो। जटिल व्यवस्था न हो। केन्द्रित नियंत्रण न हो। अति परस्परावलम्बन खतरनाक है। केवल धार्मिकता और सदाचार का वायु-मंडल ही सर्वव्यापी होना चाहिअे।

ये सब आदर्श हम खादी और विकेन्द्रित ग्रामोद्योग के द्वारा ही दुनिया के सामने रख सकते हैं। मिल का कपड़ा सस्ता ज़रूर होगा लेकिन वह सिर्फ पैसों के हिसाब से ही सस्ता होगा, जीवन के हिसाब से नहीं। और हमें तो पैसों के लिअे नहीं बल्कि जीवन के लिअे जीना है—अपने और अेक-दूसरे के कल्याणकारी जीवन के लिअे जीना है।

अिस वास्ते हमारे जीवन का मूल्यांकन हमें पैसे की तराजू में नहीं किन्तु जीवन की तराजू में करना चाहिअे। कहते हैं कि खादी आज मिल के कपड़े से ढाअी गुना मँहगी है। अैसी हालत में हमें खादी को छोड़ने की अपेक्षा यह सोचना चाहिअे कि मिल का कपड़ा क्यों कर सस्ता है। वह कम परिश्रम से बनता है या जीवन-द्रोह करके बनता है?

जो भी चीज़—फिर वह पैसा हो, आहार हो या समाज-व्यवस्था चलानें के लिअे बनाअी सरकार हो—अगर जीवन-द्रोही है तो, अिसी अेक दोष के लिअे, हमें अुसका त्याग करना चाहिअे।

अगर अूपर बताअी यह अहिंसक, सर्वोदयकारी जीवन-दृष्टि हमें मान्य हो जाय तो अिस किताब में की गअी सविस्तर खादी-मीमांसा हम आसानी से समझ सकेंगे और खुशी-खुशी अुसे मंजूर भी कर सकेंगे। अगर पैसों का हिसाब छोड़कर जीवन का हिसाब करने के लिअे हम तैयार हो गये तो खादी का भविष्य अत्यन्त अुज्ज्वल है। नहीं तो खादी कुछ दिन चलेगी और बाद में, पापी जीवन-व्यवस्था में न बैठ सकने के अेक मात्र कारण, वह छोड़ दी जायेगी। पिछले दो महायुद्धों ने हमें जो सबक सिखाये हैं वे अगर हम नहीं सीखे होते तो खादी के लिअे शायद कुछ भी भविष्य नहीं रहता। दो महायुद्धों की ठोकरें खाकर अहिंसक समाज और अहिंसक सरकार की स्थापना का महत्त्व हमें कुछ-कुछ प्रतीत होने लगा है। वह जितना ही स्पष्ट होगा अुतना ही खादी का भविष्य अुज्ज्वल समझिअे।

(२)

खादी के द्वारा अगर स्वावलंबन सीख लिया गया और सिद्ध हो गया तो वह सिर्फ खादी तक ही सीमित न रहेगा। हर चीज में वही वृत्ति प्रकट होगी। जब हम राष्ट्र के नाते और गांव के नाते अन्न-वस्त्र के बारे में स्वावलंबी बन जायेंगे तब बाकी की जीवनोपयोगी छोटी-मोटी बहुतसी बातों में स्वावलंबन का और, अपने-अपने दायरे मे, परस्परावलंबन का पालन करना हमारे लिए बहुत ही आसान हो जायगा। अिसमें हमारी समाज-व्यवस्था भी अितनी आसान हो जायगी कि आजकल के जैसे सरकारों के बड़े-बड़े आयोजन हमें न करने पड़ेंगे। जब सबके सब लोग अुद्योगी और संतोषी होंगे तब किसी के पास अितना विशेष धन नहीं रहेगा कि जिसे किसीको लूटने का मन हो। और कोअी भी अितना दरिद्र नहीं होगा कि जो दूसरे के थोड़े से धन में से भी चोरी करने की अिच्छा रक्खेगा। अैसे समाज का मनुष्य न किसी से डरेगा, न किसी का डर दिखायेगा। अैसे समाज की सरकार के लिअे अहिंसा की नीति अिख्तियार करना आसान होगा। लोगों में अितनी स्वाभाविक तेजस्विता

होगी कि वे अपनी-अपनी रक्षा, बडी सेना के बिना, सत्याग्रह से ही कर सकेंगे। 'स्ववीर्य-गुप्ता ही मनोः प्रसूतिः' (आदम के बच्चों को अपनी रक्षा अपनी ही ताकत से करनी चाहिये। न कि किसी राजा की फौज की मदद से।) अहिंसक सरकार का मुख्य काम होगा लोगों की हिफ़ाज़त करना, खिदमत करना और लोगों के संगठन को व्यवस्थित रखना।

खादी के सिद्धांत में जिस तरह स्वावलम्बन और अपरिग्रह का संदेश है, असी तरह अहिंसक आत्मरक्षा का—यानी सत्याग्रही प्रतिकार का भी संदेश असमें समाया हुआ है।

तिजारती ढंग से आज तक जो खादी बनाई गई, असुसे खादी का प्रचार बढ़ा, खादी की कला—धुनकने, कातने बुनने की कला—जो मृतप्राय हो गई थी, जाग्रत हुई। स्वराज-प्रेम के साथ और ग़रीबों की सेवा करने की शुभ वृत्ति के साथ भी हमने खादी को जोड़ दिया।

देश में जगह-जगह आज असा ही माना जाता है कि खादीधारी छूआछूत नहीं मानेगा, जातपांत की झंझट से दूर रहेगा। असुच्च-नीच भाव का हामी नहीं बनेगा। कहीं किसी पर अन्याय होता हो तो खादी-धारी मज़लूम की मदद को दौड़ पड़ेगा। शराब नहीं पीयेगा।

ये सब लाभ कुछ कम नहीं हैं!

अब खादी में हमें कुछ नये मानी भी भरने हैं। जो खादीधारी है वह कभी अन्याय को बरदाश्त नहीं करेगा, सत्याग्रह का शस्त्र असके पास हमेशा तैयार रहेगा। जो अहिंसक और विचारवान है वह बिना कारण या बे-मौके झगड़ा खड़ा नहीं करेगा। लेकिन असके पास सत्याग्रह-का शस्त्र हमेशा तेज़, चमकीला व तैयार तो रहना ही चाहिये।

जब खादी में असी अहिंसक प्रतिकार की—सत्याग्रही जीवन की—तेजस्विता आ जायगी तब खादी का कार्य पूरा हो गया असा समझना चाहिये।

हम कभी अन्याय को बरदाश्त नहीं करेंगे अैसी और अितनी तेजस्विता तो हममें होनी ही चाहिअे । साथ-साथ हमारा जीवन भी अितना सादा, सरल, संयमित, स्वाश्रयी, सन्तोषी और अपरिग्रही हो कि हमसे लड़ने का या हम पर अन्याय करने का किसी का दिल भी न हो ।

स्वावलंबन और सत्याग्रह, सादगी और संतोष, अहिंसा और तेजस्विता, अिन सब सामाजिक वृत्तियों की प्रतिनिधि है खादी । अगर समाज को अैसा आदर्श पसन्द आया तो खादी का भविष्य अुज्ज्वल है ही ।

विषय-सूची

परिशिष्ट

खादी-मीमांसा

: १ :

खादी और भारतीय संस्कृति

जब द्रव्य की तृष्णा की अपेक्षा चैतन्यमय मानवसृष्टि का कल्याण साधन करना, इस प्रकार की ही समाज-रचना होना जिसमें कि सम्पत्ति का समान बंटवारा हो, आमोद-प्रमोद की प्रवृत्ति कम करके बन्धु-भावना का विकास करने की ओर अधिक ध्यान देना, औद्योगिक प्रतियोगिता पर प्रतिबन्ध लगाकर पारस्परिक व्यवहार सहयोग द्वारा करने की प्रवृत्ति रखना, द्रव्य साध्य नहीं साधन है, इस भावना से आचरण करना, और स्वार्थ के लिए अविराम दौड़-धूप करने में सुख न मानना, यही भारत का स्वभाव है।[१]

— राधाकमल मुकर्जी

मनुष्य और राष्ट्र इनमें अनेक बार एक प्रकार का साम्य होता है। जिस तरह प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में एकाध विशिष्ट गुण की झलक प्रमुखता के साथ दिखाई पड़ती है, उसी तरह प्रत्येक राष्ट्र की अपनी कुछ-न-कुछ विशिष्टता होती है। संसार के मौजूदा प्रमुख राष्ट्रों की ओर इस दृष्टि से देखने पर हमें इंग्लैण्ड की नाविकता अथवा जहाज़रानी, जर्मनी की सैनिकता, फ्रांस की ललितकलाभिरुचि, अमेरिका की उद्यमशीलता और हिन्दुस्तान की आध्यात्मिकता इत्यादि सद्गुण प्रमुखता से विकसित हुए दिखाई देते हैं।

हिन्दुस्तान अध्यात्म-प्रधान राष्ट्र है। इसका अर्थ यह है कि वह रहस्यग्राही और दूरदर्शी राष्ट्र है। वह क्षणभंगुर और शाश्वत, देह और आत्मा, छिलका अथवा चोकर और सत्त्व का भेद पहचाननेवाला राष्ट्र है। ग्रीक, रोमन, बेबिलोनियन, मेसिडोनियन इत्यादि राष्ट्र उदय हुए और अस्त हो

१. "The Foundations of Indian Economics" पृष्ठ ४५९-६१ और ४६५-६७

गये, लेकिन उनके उदयाचल पर चमकने के पहले से मौजूद हिन्दुस्तान ही आजतक जीवित है, इसका कारण यही है कि उसका अस्तित्व आध्यात्मिकता के स्थायी पाये पर कायम हुआ है। हिन्दुस्तान की आज जो हीन स्थिति होगई है, उसका कारण, जैसा कि कई लोग समझते हैं, आध्यात्मिकता का अतिरेक नहीं, बल्कि इसके विपरीत उसका विस्मरण है।[1]

संस्कृति का अर्थ है आत्मा का विकसित दर्शन। मनुष्य अथवा राष्ट्र की संस्कृति उसके बाह्य सौंदर्य अथवा चमक-दमक पर नहीं, प्रत्युत उसके हार्दिक विकास पर और तज्जन्य प्रत्यक्ष कृति अथवा आचरण पर अवलम्बित होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कहना चाहिए कि मनुष्य का चारित्र्य

१. एक सज्जन ने महात्मा गांधी से यह प्रश्न किया था—'क्या यह सच नहीं है कि आध्यात्मिकता के विषय में जनता का परमोच्च विकास होने के कारण ही हिन्दू राज्य नाश को प्राप्त हुए?' महात्माजी ने इसका नीचे लिखा उत्तर दिया था—

"मुझे एसा नहीं लगता। वस्तुतः आध्यात्मिकता के अभाव के कारण अथवा दूसरे शब्दों में नैतिक दुर्बलता के कारण ही हिन्दुओं को हर बार हार खानी पड़ी है। राजपूत आपस में लड़े और हिन्दुस्तान गंवा बैठे। उनमें व्यक्तिगत शौर्य तो बहुत था; किन्तु उस समय उनमें वास्तविक आध्यात्मिकता का अभाव था। राम-रावण-युद्ध में रावण की पराजय और बानरों की सहायता लेकर लड़नेवाले राम की विजय होने का कारण राम की आध्यात्मिकता के सिवा और क्या है? क्या आध्यात्मिकता के बल पर ही पाण्डवों की विजय नहीं हुई? आध्यात्मिक ज्ञान और आध्यात्मिक विकास इन दोनों के बीच का अन्तर न जानने के कारण ही हमेशा गड़बड़ होती है। धर्मग्रन्थों का ज्ञान होने और तात्त्विक चर्चा करना जानने का ही यह अर्थ नहीं है कि आध्यात्मिकता हमारे जीवन में आगई। आध्यात्मिकता का अर्थ है अमर्यादित शक्ति देनेवाला हार्दिक विकास। निर्भयता आध्यात्मिकता की पहली सीढ़ी है। डरपोक लोग कभी भी नीतिवान् हो नहीं सकते।" Young India, part I, **पृष्ठ १०८८**

या शील उसकी संस्कृति का द्योतक होता है। राष्ट्र के धर्म, तत्त्वज्ञान और तदनुसार निर्मित राष्ट्रीय सुधार से ही राष्ट्र की संस्कृति व्यक्त होती है।

कलकत्ता हाईकोर्ट के एक भूतपूर्व न्यायाधीश सर जॉन वुडरफ ने 'Is India Civilised ?' (क्या भारत सभ्य है ?) नामक एक अत्यन्त गम्भीर और प्रभावशाली ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने वास्तविक सुधार क्या है, इस सम्बन्ध में मार्मिक और विश्लेषणात्मक ढंग से सविस्तर विवेचन किया है।

वुडरफ साहब के मत में वही वास्तविक सुधार है जो व्यक्तिगत और सार्वजनिक हित-साधन करनेवाले धर्म को प्रोत्साहन दे और मानव-समुदाय का तात्कालिक एवं आत्यन्तिक कल्याण करते हुए अखिल प्राणिमात्र को न्याय दिला कर उनके आध्यात्मिक विकास को पोषण दे।[1]

यही विचार उन्होंने दूसरे शब्दों में अधिक स्पष्टता के साथ निम्न प्रकार से प्रकट किये हैं। वह कहते हैं—

"जिस समाज का अधिष्ठान और पर्यवसान ईश्वर पर अवलम्बित है, और जिसके भौतिक और बौद्धिक व्यवहार आत्मा के विकास की दृष्टि से होते हैं, वह समाज सच्चा सुसंस्कृत होता है। इस समाज का ऐसा व्यवहार मानो आदर्श नीति-तत्त्व और धर्म-सिद्धान्तों का पदार्थ पाठ हो है। इस व्यवहार के द्वारा मनुष्य पहले अपने विशिष्ट दैवी स्वरूप को पहचानता है और फिर सारे जगत में व्याप्त दैवी शक्ति से एकरूप होकर उसके भी आगे चला जाता है, अर्थात् सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है।"[2]

सच्चे सुधार की यह कसौटी नियत करके जज महोदय कहते हैं—

"भारतीय उन्नति धर्म के आधार पर अधिष्ठित होने के कारण उसका ध्येय आध्यात्मिक है।[3] समाज का संगठन इसी ढंग से किया गया है जिससे

१. पृष्ठ २३१। २. पृष्ठ ११.

३. श्री प्रमथनाथ बोस कृत "Hindu civilisation during British period" Vol. I Introduction पृष्ठ ८ देखिए।

कि उक्त ध्येय साध्य हो जाय।[१] सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए परमार्थ की ओर प्रेरित करनेवाले हिन्दू धर्म के समान और कोई दूसरा धर्म नहीं है।"[२]

इस अध्याय के शीर्षक पर दिये गये अवतरण से स्पष्ट है कि प्रो० राधाकमल मुकर्जी की विचार-सरणी भी इसी प्रकार की है।

भारत की यह संस्कृति अत्यन्त प्राचीन, उज्ज्वल, भव्य, दिव्य और विशाल है। प्रो० मेक्समुलर, मोनियर विलियम्स,सर हेनरी मेन, सर थामस मनरो, मेकिण्डल, विन्सेण्ट, स्मिथ, विल्सन, हण्टर, टेलर, एल्फिस्टन, एन्स्टे, बॉर्डथार्टन, जार्नस्टजनी और डॉ० एनी वेसेण्ट आदि पश्चिमी तत्त्ववेत्ता, इतिहासकार, तथा प्राच्यविद्याविशारदों ने अपने ग्रन्थों में भारत की प्राचीन उच्च संस्कृति का अत्यन्त गौरवपूर्वक उल्लेख किया है। संस्कृति की प्राचीनता के सम्बन्ध में अंग्रेज लेखक मि० मोनियर विलियम्स लिखते हैं—

"जिस समय हमारे पूर्वज जंगली स्थिति में थे और जिस समय अंग्रेजों का नाम कहीं सुनाई भी न पड़ता था, उससे कई शताब्दी पहले हिन्दुस्तानी लोगों की अत्यन्त उच्चकोटि की संस्कृति मौजूद थी। इसके सिवा उनकी सुसंस्कृत भाषा, परिष्कृत साहित्य तथा गम्भीर तत्त्वज्ञान की प्राचीनता की भी ख्याति थी।"[३] भारतीय संस्कृति जितनी प्राचीन थी उसी प्रकार उस समय उसका प्रसार भी अत्यन्त दूर-दूर के राष्ट्रों तक था। "मिस्र, फिनिक्स, स्याम, चीन, जापान, सुमात्रा, ईरान, खाल्डिया ग्रीस, रोम इत्यादि अनेक प्राचीन और दूर-दूर के देश भारतीय सस्कृति से परिचित थे।"[४]

१. पृष्ठ २७०। २. पृष्ठ २४६.

३. Monier Williams "Indian Wisdom", Introduction पृष्ठ १६ Ed. 1875 quoted from N. B. Pavgees's Self-Government in India, Vedic & past Vedic पृष्ठ ३१.

४. Count Biornsteyruc Theogony of the Hindus पृष्ठ १६८. quoted from N. B. Pavgee's Self-Government in India, Vedic & Past Vedic पृष्ठ ३६.

अस्तु, थोड़े में कहा जाय तो यों कहना चाहिए कि जो संस्कृति धर्म और नीति का अनुसरण कर शरीर, मन और आत्मा के विकास में सहायक होती है, वही असल संस्कृति है। हिन्दुस्तान में जब-जब इस संस्कृति की विजय हुई, तब-तब वहां सुख, समृद्धि और आनन्द छाया रहता था। भगवान् रामचन्द्र, अशोक, हर्ष, विजयनगर के कृष्णदेवराय तथा बालाजी बाजीराव पेशवा के कार्यकलाप इस संस्कृति के सुन्दर स्मारक हैं।

इस संस्कृति की विशेषता कहनी हो तो यों कहना चाहिए कि समाज के सब व्यवहार सामान्यतः नीति और न्याय-सङ्गत होने के कारण समाज में असन्तोष फैलने के लिए कोई गुंजायश ही नहीं रहती थी। गीता की 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः' की उक्ति के अनुसार चारों ही वर्ण देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अपने अपने प्राप्त कर्तव्य का उत्तमता के साथ पालन कर अपनी इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति करते रहते थे। विभिन्न प्रकार के पेशेवालों में 'स्पर्धा' अथवा 'चढ़ा-ऊपरी' होने का कोई कारण नहीं रहता था; क्योंकि हरेक का अपना-अपना कार्य और कार्यक्षेत्र निश्चित रहता था। कार्य की अथवा कार्यक्षेत्र की कभी भी घाल-मेल नहीं होती थी।[1]

अन्न और वस्त्र शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तु हैं। पहले खेती की तरह वस्त्रोत्पादन—कपड़ा बनाने का काम भी बहुत बड़े परिमाण में होता था। वस्त्रोत्पादन—खादी के धंधे में किसान, सुनार, लुहार, लुढ़वैये, धुनिये कत्तिन, जुलाहे, धोबी, रंगरेज, छीपे आदि लोगों को काम मिलकर सम्पत्ति का उचित बंटवारा होता रहता था। इससे समाज में सन्तोष, सुख और शान्ति छाई हुई थी। सब जगह समान वर्षा होने से जिस तरह सबको एक समान आनन्द होता है, उसी तरह खादी के कारण पैसे का समान बंटवारा होता रहता था जिससे सब में समान सन्तोष

१. श्री प्रथमनाथ बोस कृत Hindu civilisation during British Period, Vol. I Introduction पृष्ठ ७९ तथा म० रा० बोडस कृत 'ग्रामसंस्था' पृष्ठ ४२–४३।

फैला हुआ था। ऐसी स्थिति में कोई 'जीवन-कलह' नामक शब्द जानता ही न था। वर्णव्यवस्था के आधार-भूत अनेक तत्त्वों में के एक तत्त्व में मर्यादित धनतृष्णा, अथवा भोग-लालसा से खादी का विशेष सम्बन्ध है। खादी के कारण सबको मर्यादित किन्तु सबको समान रूप से धन मिलता रहने के कारण सारा समाज एक समान सन्तुष्ट रहता है। समाज की आत्मा के इस प्रकार सन्तुष्ट रहने के कारण उसे ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति के लिए अवसर मिल जाता है। खादी समाज की बिखरी हुई कड़ियों को पुनः जोड़ देगी और इसलिए 'साम्यवाद' अथवा समाजवाद जैसी प्रवृत्ति के पैदा होने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी।

हमारी प्राचीन संस्कृति परमेश्वर से साक्षात्कार करने की है, जबकि आधुनिक पश्चिमी संस्कृति उससे दूर ले जाने वाली है। पश्चिमी संस्कृति ने आज तक अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक आविष्कार किये हैं, जिनके कारण संसार के ज्ञान और सुख-सुविधा में बहुत वृद्धि हुई है, यह बात उक्त संस्कृति के कट्टर शत्रु भी अस्वीकार न कर सकेंगे। श्री वुडरफ़ ने जो यह कहा है कि "पाश्चात्य संस्कृति कुछ दृष्टियों से प्रशंसनीय होने पर भी उसका आधार धर्म-मूलक न होने के कारण वह भारतीय जनता को विष के समान प्रतीत होती है,"[१] यह कुछ अंशों में सही है। "पाश्चात्य संस्कृति का अर्थ है कि पश्चिमी लोगों के अंगीकृत वर्तमान आदर्श और उनके आधार पर खड़ी की गई उनकी प्रवृत्तियां।" महात्माजी ने उस संस्कृति को त्याज्य माना है जो "पाशविक शक्ति को प्रधानता और पैसे को[२] परमेश्वर का स्थान देती है, जो ऐहिक सुखों की प्राप्ति के कार्यों में ही मुख्यतः समय बिताती और अनेक प्रकार के ऐहिक सुखों की प्राप्ति के लिए जी-तोड़ भारी साहसिक कार्य करती है तथा जो यांत्रिक शक्ति की वृद्धि के लिए मानसिक शक्ति का अपार व्यय करती, विनाशकारी साधनों के आविष्कार के लिए

१. पृष्ठ ३४९

२. श्री प्रथमनाथ बोस कृत Hindu civilisation during British period. Vol. I Introduction पृष्ठ १ देखिए।

करोड़ों रुपये खर्च करता है और यूरोप से बाहर की जनता को गौण मानने को धर्म समझती है।"[१]

पाश्चात्य संस्कृति का एक बड़ा दोष यह समझा जाता है कि उसके कारण आत्मा का समाधान नहीं होता। उसमें मिलों को बहुत अधिक महत्त्व का स्थान दिया जाता है। मिलों के कारण कुछ अंगुलियों पर गिने जाने जितने लोग अन्यायपूर्वक लखपती बन जाते हैं, लेकिन उनमें काम करनेवाले लाखों मजदूरों के सदा असन्तुष्ट बने रहने के कारण राष्ट्र पर बराबर हड़ताल, दंगे और गोलाबारी आदि के प्रसंग आते रहते हैं। मानो राष्ट्र पर यह एक स्थायी संकट ही आ बैठा है। मिल-मालिक तो इस उधेड़-बुन में रहते हैं कि हम कब और किस तरह लखपती से करोड़पती बन सकते हैं, और मजदूरों को यह चिन्ता रहती है कि मजदूरी बढ़वाकर अपने बाल-बच्चों की किस तरह व्यवस्था की जाय। इस प्रकार मिलों के मालिक और मजदूर दोनों ही श्रेणी के लोग सदैव असन्तुष्ट ही रहते हैं। इन्हें आत्म और अनात्म का विचार कहां से सूझेगा ?

अमेरिकन लेखक प्राइस कोलियर ने भारतीय स्थिति का निरीक्षण कर लिखा है—"अब हिन्दुस्तान पश्चिम के आर्थिक भँवर में फंसा है। मनुष्य की जायदाद कितनी है और उसने कितना द्रव्य पैदा किया है, इसपर उसका सामाजिक पद निश्चित किया जाता है, इस स्थिति के कारण वर्तमान असन्तोष में और वृद्धि हो गई है। धनवान और अभिमानी होने की अपेक्षा सुशील होना अधिक आसान है, फिर भी बहुत लोग धनवान और अभिमानी होना ही पसन्द करते हैं। उनके संकट में साम्पत्तिक असन्तोष की—पाश्चात्य विष की—और वृद्धि हो गई है।"[२] किसकी हिम्मत है जो यह कहने का साहस करे कि श्री प्राइस का उक्त कथन वस्तुस्थिति के अनुकूल नहीं है ?

१. **'नवजीवन' के १७ जनवरी १९२१ के अंक का परिशिष्ट।**

२. **प्राइस कोलिर** (Price Collier) "The East in the West" **पृष्ठ २२२-२२३.**

हमारी प्राचीन संस्कृति जिस प्रकार ईश्वर-परायण और आत्मा को सन्तोष देनेवाली है, उसी प्रकार वह स्वावलम्बी भी थी। अन्न-वस्त्र के लिए हमें कभी भी किसी विदेशी राष्ट्र का मुंह देखने की जरूरत ही नहीं पड़ी।

पहले शरीर के लिए आवश्यक अन्न-वस्त्र की सुविधा घर-के-घर में ही होने के कारण हमारी स्त्रियों पर पतिव्रत-धर्म के भंग होने अथवा शील-भ्रष्ट होने की आपत्ति आने का भी मौका ही नहीं आता था। हमारे पूर्वजों ने "चक्की, चूल्हा, व चक्र" इस 'च' त्रयी का कभी भी त्याग नहीं किया था। इस कारण वे अत्यन्त स्वावलम्बी और सुखी थे। प्रत्येक कुटुम्ब में चक्की, चूल्हा और चरखा या चक्री (तकली) अवश्य ही होनी चाहिए थीं। सूत चरखे अथवा चक्री—तकली—पर कातने की प्रथा थी। आजकल बड़े-बड़े शहरों में जगह-जगह इस 'च' त्रयी का त्याग हुआ दिखाई पड़ता है। आटे की मिल में आसानी से आटा पिसवा लाना, होटल में भोजन करना और बाजार से तैयार कपड़े लेना, ये आजकल की सुख-सुविधा के साधन माने जाते हैं। पर दूरदृष्टि से देखने पर इनसे राष्ट्रोन्नति को कितना पोषण मिलता है, पाठक स्वयं ही इसका विचार कर देखें! हमारे मत से आटे की मिलों ने बहुत-सी स्त्रियों को आलसी निरुद्योगी और परावलम्बी बना दिया है। यह अनुभव-सिद्ध बात है कि मिल के आटे में बहुत-सा सत्त्व कम हो जाने के कारण वह हाथ-पिसे आटे जितना लोचदार एवं स्वत्व-युक्त नहीं होता। आजकल के होटलों को नकली घी खपानेवाले अड्डे ही कहना चाहिए। वे अस्वस्थता के, गन्दगी के एवं संसर्गजन्य रोगों के घर ही बन गये हैं। कपड़ों की दूकानें हमारे रक्तशोषण के मानो केन्द्र बन गई हैं। हम अन्न-वस्त्र के मामले में दिन-प्रतिदिन कैसे और कितने परावलम्बी होते जाते हैं, यही ऊपर के विवेचन का सार है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्र हमें सिखाता है कि अपनी आवश्यकता को बढ़ाना उच्च संस्कृति का सूचक है।[1] परन्तु हमारे अध्यात्मशास्त्र—हमारी गीता—

१. इस सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक के "खादी और समाजवाद" नामक प्रकरण में देखिये।

हम संयमी बनने—जितेन्द्रिय होकर अपनी आवश्यकता कम करने के लिए कहते हैं।[1] गीता की शिक्षा जिस तरह निष्कामकर्मपरक है, उसी तरह संयमपरक भी है। जिस प्रकार लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य लिखकर गीता के निष्कामकर्मपरक स्वरूप को विशद् करके बताया है, उसी तरह महात्मा गांधी ने अपने आश्रम के द्वारा उसका संयमपरक स्वरूप संसार की दृष्टि के सामने स्पष्ट रूप से ला रक्खा है। ऐसी स्थिति में आधुनिक विद्वानों के सामने यह ज़बरदस्त प्रश्न खड़ा होता है कि हम पाश्चात्य अर्थ-शास्त्र को मानें अथवा गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करें। भोग भोगने से भोगेच्छा बढ़ती जाती है।[2] उससे मन को और आत्मा को शान्ति न मिलकर उल्टे असन्तोष बढ़ता जाता है। कोई भी विद्वान एवं चतुर मनुष्य स्वीकार करेगा कि इसकी अपेक्षा **'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपम्'** वाला संयम ही अच्छा है। डा० कुमार स्वामी कहते हैं—"आवश्यकता बढ़ाना संस्कृति का लक्षण नहीं, बल्कि अपनी आवश्यकताओं को सुसंस्कृत करना ही सच्ची संस्कृति का लक्षण है।[3] खादी सादी रहन-सहन अपनाकर हमें अपनी आवश्यकता कम करना सिखाती है, किन्तु पाश्चात्य संस्कृति हमारी आवश्यकतायें बढ़ाकर हमें विलासी बनाती हैं।

पश्चिमी और पूर्वी (भारतीय) संस्कृति का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करके वुडरफ़ साहब ने नीचे लिखा निष्कर्ष निकाला है:—

"हमारी पाश्चात्य संस्कृति महान 'भक्षक' है। हम सब स्वाहा कर

१. राधाकमल मुकर्जी कृत "Foundations of Indian Economics" पृ० ४५८ और ४६६; साथ ही श्री प्रथमनाथ बोस कृत "Hindu Civilisation during British period Vol. I, Introduction पृष्ठ ८ भी देखिए।

२. महात्मा गांधी कृत 'हिन्द स्वराज' (हिन्दी); साथ ही श्री वुडरफ कृत 'Is India Civilised ?' पृ० २८ भी देखिए।

३. Art and Swadeshi पृ० ८.

जाते हैं। जिसे 'उच्च-जीवन' कहा जाता है अभी तक उसका अर्थ यही समझा जाता है कि हम अधिकाधिक हड़प करते जांय। औद्योगिक युग ने हमें सन्तुष्ट करने के बजाय हमारी (पश्चिमी लोगों की) आवश्यकतायें बढ़ाई हैं। हमें अधिकाधिक सुख-साधनों की आवश्यकता रहने लगी है और अपने पास के साधनों के अपर्याप्त होने पर हम दूसरों के साधनों का आश्रय लेने लगते हैं। लारेन्स हाउसमन का यह कहना बिलकुल ठीक है कि 'आन्तरिक दृष्टि से देखने पर, द्रव्य-सञ्चय के पीछे पड़ने से प्रत्येक राष्ट्र थोड़े-बहुत परिमाण में परावलम्बी बन गया है।' अपने स्वार्थ की दृष्टि से जिस राष्ट्र पर हम अपना प्रभाव डाल सकते हैं, उसी पर हमें अवलम्बित रहना पड़ा है।[1] जो राष्ट्र अपने वैभव अथवा आवश्यकतापूर्त्ति के लिए अपने पैरों पर खड़े न रहकर, ज्यों-ज्यों दूसरे राष्ट्र पर अवलम्बित होते हैं, त्यों-त्यों उन्हें अपने जीवन के लिए उस राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में लपेट लेना पड़ता है। इन अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का अन्त भीषण रक्तपात और मानव इतिहास के परिचित महा भयङ्कर युद्धों में हुआ है। इन महायुद्धों का अन्तिम अध्याय अभी लिखा जाना बाकी है। भारत को यदि अपनी आत्मा को बचाये रखकर अपनी विशेषता कायम रखनी हो तो उसे अपने खुद को दूसरों में विलीन न होने देने की विशेष सावधानी रखनी चाहिए। उसे अपनी रक्षा के लिए स्फूर्ति और शक्ति अपनी संस्कृति के सिवा और कहां से मिलेगी? संसार के सब राष्ट्रों की जनता के, भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के उच्च एवं उदात्त तत्त्वों के, समर्थन और ग्रहण करने पर संसार में शान्ति स्थापित होगी।"[2]

उपरोक्त सारे विवेचन पर से पूर्वी (भारतीय) और पाश्चात्य संस्कृति के बीच का अन्तर संक्षेप में नीचे लिखे अनुसार किया जा सकता है—

पूर्व (भारतीय) संस्कृति	पाश्चात्य संस्कृति
(१) ईश्वर-परायण	द्रव्य-परायण

१. इंग्लैंण्ड अन्न के लिए हिन्दुस्तान पर अवलम्बित है।

२. श्री वुडरफ कृत 'Is India Civilised?' पृ० ३४५

(२) आत्मा को शान्ति देनेवाली : देह सम्बन्धी चोचले पूरे करने वाली
(३) स्वावलम्बी परावलम्बी
(४) संयमी विलासी

वस्त्रों के सम्बन्ध में खादी भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि है और मिल के कपड़े पाश्चात्य संस्कृति के समर्थक हैं। चरखे ने हमारी स्त्रियों के शील की रक्षा की है, मिलों ने उसके भ्रष्ट करने में सहायता की है। खादी और मिल के कपड़े के विरोध का अर्थ है उपरोक्त दोनों संस्कृतियों के बीच का झगड़ा। हिन्दू समाज और भारतीय संस्कृति को जीवित रखना हो... संसार के कल्याण की दृष्टि से उसका जीवित रखना आवश्यक है—तो हिन्दुस्तान को खादी का समर्थन करना चाहिए। खादी का सांगोपांग विवेचन करने के लिए उसकी प्राचीनता, विविधता और कला पर पहले विचार करना आवश्यक है। उसपर अगले अध्याय में विचार करना सुगम होगा।

: २ :

खादी की प्राचीनता, विविधता और कला

खादी और उसकी प्राचीनता, विविधता और कला ! कैसा विरोधाभास है यह ! पहली नजर में ऐसा विरोधाभास होना स्वाभाविक है। आमतौर पर खादी का अर्थ हाथ के कते सूत का मोटा-झोटा कपड़ा समझ लेना ही इस विरोधाभास का कारण है। हम समझते हैं कि मशीनयुग में मिलों के सफाई-दार माल से तुलना करने की दृष्टि से मोटे-झोटे खुरदरे कपड़े को 'खादी' के नाम से पहचानने का रिवाज पड़ा होगा। मशीन-युग का आरम्भ होने पर ही 'खादी' शब्द बना होना चाहिए। खैर, कुछ भी हो, सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन के समय से, जब खादी-शास्त्र का निर्माण हुआ तब, उसकी जो शास्त्रीय व्याख्या निश्चित की गई, वह इस प्रकार है—'हाथ से कते और हाथ से बुने कपड़े का नाम, फिर चाहे वे रुई के हों, रेशम के हों, ऊन के हों, सनके हों, रामबाण के हों, अंबाड़ी के हों अथवा वृक्षों की छाल के हों, 'खादी' है।'[1] इस व्याख्या की दृष्टि से मशीन-युग का जन्म होने से पहले जो-जो वस्त्र तैयार होते थे—इनमें के बहुत से बारीक होते थे—वे सब खादी की शास्त्रीय व्याख्या के अन्तर्गत आसकते हैं। इस पुस्तक में जहां-जहां 'खादी' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहां वह शास्त्रीय व्याख्या का अनुसरण करके ही व्यवहृत हुआ है। खादी की उपरोक्त व्याख्या से उसकी विविधता की भी कल्पना हुई ही होगी।

१. अखिल भारतीय-चरखा-संघ के जीवन-वेतन का सिद्धान्त स्वीकार करने के बाद व्यापारिक पद्धति से तैयार की गई खादी की व्याख्या इसकी अपेक्षा और भी व्यापक हो गई है। वह इस प्रकार है:—

"हाथ-लुढ़ी रुई से जीवन-वेतन के सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी देकर हाथ से कते और हाथ से बुने कपड़े का नाम 'खादी' है।"

खादी की प्राचीनता[1] और विविधता

हिन्दुस्तान में हाथ से कातने और बुनने की कला अत्यन्त प्राचीनकाल —वेदकाल—से प्रचलित है। औंध के 'स्वाध्याय मण्डल' के संचालक श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने 'वेद में चरखा' नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसमें उन्होंने हाथ से कते और हाथ से बुने कपड़े किस तरह और कौन तैयार करता था, इसका विस्तार के साथ विवेचन किया है। इसी तरह श्री गणेशदत्त शर्मा ने अपनी 'खादी का इतिहास' नामक पुस्तक में भी वेद-कालीन वस्त्रविद्या विषयक चर्चा की है।

वैदिक काल में (१) माता अपने पुत्र के लिए और (२) पत्नी अपने पति के लिए वस्त्र तैयार करती थी, इस आशय के वाक्य हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं—

(१) वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयंति ॥

—ऋग्वेद ५।४७।६

अन्वयार्थ—मातरः असो पुत्राय धियः अपांसि वितन्वते वस्त्रा वयंति—अनेक मातायें इस लड़के के लिए सद्विचार का ताना तनती हैं और उसमें सत्कार्य का बाना डालकर वस्त्र बुनती हैं।

१. खादी की प्राचीनता की यथार्थ कल्पना आने के लिए निम्नलिखित पौराणिक और ऐतिहासिक काल की जानकारी होना आवश्यक है—

भगवान् रामचन्द्र—रामायण-काल	**ईसवी सन् के पूर्व**		**५००० वर्ष**
युधिष्ठिर—महाभारत-काल	"		**३००० "**
गौतम बुद्ध	"		**६०० "**
चन्द्रगुप्त	"		**३०० "**
अशोक	"		**२५६ "**
विक्रमादित्य	"		**५६ "**
समुद्रगुप्त	"	**बाद**	**३०० "**
हर्ष वर्धन	"	"	**६०० "**

(२) ये अन्ता यावती: सिचो य ओतवो ये च तंतव:
वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्न: स्योनमुपस्पृशात्
--अथर्व १४।२।५१

अन्वयार्थ—ये अन्ता:—कपड़े का जो अन्तिम भाग है
यावती सिच:—जो किनारे है
ये ओतव:—जो बाना है
ये च तंतव:—जो ताना है, इन सबको मिलाकर
यत् पत्नीभि: उतंवास:—पत्नी ने जो कपड़ा बुना है
तत्—वह
न: स्योनं उपस्पृशात्—हमें सुख-स्पर्शदायी हो, अर्थात्
उसका स्पर्श हमें सुखदायी हो।

इस प्रकार के अनेक वचन देकर श्री सातवलेकर ने निम्न-लिखित निष्कर्ष निकाला है—

"इन सब वचनों से ऐसा मालूम पड़ता है कि वेद-काल में वेद में प्रदर्शित इच्छानुसार कपड़े बुनने का काम हरेक घर में होता होगा, अर्थात् प्रत्येक घर में फुरसत के समय करने योग्य यही धन्धा है।" (पृष्ठ ६६)

इस समय आसाम में यह प्रथा अब भी प्रचलित है।[१] वहां यह बात रूढ़ ही हो गई है कि जिस लड़की को बुनना नहीं आता उसका विवाह ही न किया जाय। इसी तरह उड़ीसा प्रान्त के सम्भलपुर जिले में भी ऐसी ही एक प्रथा है।[२] अभीतक प्रचलित इस रूढ़ि से वैदिक काल में घर-घर कपड़े बुनने की प्रथा होने में आश्चर्य मालूम होने की कोई बात नहीं है। और यह बिलकुल साफ है कि जिस हालत में बुनाई का काम इतनी तेजी से होता था उसमें उसके लिए आवश्यक सूत भी घर-घर काता जाना होना चाहिए।

१. श्री रामेशचन्द्र दत्त भाग २, पृष्ठ १८२
२. 'हाथ की कताई-बुनाई' " " १८

रामायणकाल में सिर्फ रेशमी वस्त्र पहनने का ही रिवाज था।[१] सीता ने जिस समय नवोढ़ा के रूप में दशरथ के राजमहल में प्रवेश किया था उस समय वह रेशमी वस्त्र पहने हुए थी और दशरथ की रानियों ने रेशमी वस्त्र पहन कर ही उसका स्वागत किया था। इसी तरह भरत जिस समय रामचन्द्रजी से भेंट करने के लिए गये उस समय उनकी पोशाक भी रेशमी ही थी। रावण सोने के समय भी रेशमी वस्त्र पहनता था। सीता जिस समय दण्डकारण्य में विरह-विह्वल बैठी थी, उस समय भी उसके शरीर पर रेशमी ही साड़ी थी। लेकिन यह तो हुई राजघरानों के स्त्री-पुरुषों की बात। यहां यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि साधारण लोगों की पोशाक रेशमी न होगी; लेकिन रामायण के अयोध्याकाण्ड के वर्णन से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उस समय साधारण दासी की साड़ी तक रेशमी ही थी।

महाभारत-काल में रुई के बारीक वस्त्रों के लिए तामिल देश प्रसिद्ध हुआ था। महाभारत में यह उल्लेख है कि राजसूय यज्ञ के समय चोल व पाण्ड्य राजाओं ने रुई के बारीक वस्त्र भेंट किये थे।[२]

मौर्य-काल में ऊनी वस्त्र सोलह प्रकार के होते थे।[३] उनमें पलंगपोश (तालिच्छाका), अंगरखे (बाराबाण), पतलून (संपुटिका), पड़दे (लम्बार), दुपट्टे (प्रच्छापट्ट) तथा गलीचे (सत्तालिका) आदि का समावेश होता था। इसके सिवा दक्षिण, मदुरा, कोकण, कलिंग; काशी, वंग, कौशांबी तथा माहिष्मती के रुई के वस्त्र सर्वोत्कृष्ट होते थे।[४]

१. Samadar Economic Condition of ancient India पृष्ठ ७७.

२. चिन्तामणि विनायक वैद्य कृत 'मध्ययुगीन भारत' भाग ३, पृष्ठ ४०९.

३. इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि मिस्र में तीन हजार वर्ष पहले गाड़ी हुई ममियों के शरीर पर के वस्त्र हिन्दुस्तान में तैयार हुए थे।

४. सतीशकुमार दास कृत "The Economic History of ancient India. पृष्ठ १४५.

जो यह समझते हैं कि कोंकण, वंग (बंगाल) में कपास अथवा रुई नहीं होती, इनको यह जानकारी बोधप्रद और उनकी विचारशक्ति और संशोधक बुद्धि को गति देने वाली होगी कि वहां अच्छी खादी बनती थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इस बात का उल्लेख आया है कि नैपाल में ऊन और रुई के वस्त्रों के सिवाय 'भिगीसी' और 'अपसारक' नामक वाटरप्रूफ़ वस्त्र भी तैयार होते थे।

मौर्यकाल में सूत कातने की प्रथा जोरों से प्रचलित थी। कौटिल्य-अर्थशास्त्र में उसके सम्बन्ध में सूक्ष्म जानकारी दी गई है। राज्य-कार्य के सुव्यवस्थित, संघटित तथा सुचारु रूप से चलाने के लिए जो विविध प्रकार के विभाग खोले गये थे, उनमें सूत कातने और वस्त्र बुनने के कार्य पर देख-रेख रखने वाला भी एक विभाग खोला गया था।

"बुनाई के काम पर नियुक्त अधिकारी को 'सूत्राध्यक्ष' कहा जाता था। उसे अपने-अपने विषयों के जानकर कारीगरों की सहायता से विभिन्न रेशे वाले वनस्पतियों के तंतुओं से सूत कातने और उस सूत के वस्त्र तथा जिरह-बख्तर अथवा कवच तैयार करवाने और इसी तरह कुछ वनस्पतियों के तंतुओं से रस्सियां बंटवाने—बांस से भी रस्सी बनाई जाती होंगी—आदि काम करवा लेना होता था।"

"ऊन कातने, तथा वृक्षों की छाल, घास, रामबाण आदि के तंतु निकालने और रुई का सूत कातने का काम अक्सर विधवाओं, जुर्माना देने में असमर्थ अपराधिनी स्त्रियों, जोगिनियों, देवदासियों, वृद्धावस्था को प्राप्त राजदासियों तथा वेश्याओं से करवा लिया जाता था। उन्हें उनके काम की सुघड़ता और परिमाण के अनुसार उसका वेतन दिया जाता था। निश्चत छुट्टियों के दिनों में अगर उनसे काम करवाना होता था तो उन्हें उस काम के बदले में विशेष मुआवजा दिया जाता था और काम के दिनों में कम काम होने पर उनके वेतन में से पैसे काट लिये जाते थे। वस्त्रादि बुनने का काम जिन विशेषज्ञ करीगरों के सुपुर्द किया जाता था उन्हें उनके कौशल और उनके काम की कुशलता व सुघड़ता के अनुसार वेतन दिया जाता था। इस

सब मजदूर-वर्ग पर सूत्राध्यक्ष की कड़ी नजर रहती थी।"[1]

उस समय के राजा-महाराजा प्रजा-हित में कितने दक्ष थे और छोटी-छोटी बातों पर भी उनका कितना ध्यान था; यह बात उन्होंने गरीब स्त्रियों की उपजीविका के लिए जो व्यवस्था को थी उससे स्पष्ट दिखाई देजाती है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि—

"जो स्त्रियाँ घर से बाहर नहीं निकलती थीं, जिनके पति परदेश गये होते थे, अथवा जो पंगु अथवा कुंवारी होती थीं उन्हें जब कभी परिस्थितिवश आजीविका के लिए काम की आवश्यकता होती थी, तब सरकारी बुनाई विभाग की ओर से नौकरानी भेजकर उन्हें उनकी हैसियत के अनुसार सूत कातने का काम देने की व्यवस्था थी।"[2]

हमारी अंग्रेजी-सरकार हमारे करोड़ों बेकार और बुभुक्षित लोगों के लिए क्या व्यवस्था करती है?

हर्ष-काल में रेशमी, ऊनी, रामबाण तथा जंगली पशुओं की ऊन के वस्त्र, क्रमशः कौशेय, कम्बल, क्षौम और होलल अथवा होरल के नाम से जाने जाते थे।

महाभारत-काल की तरह ही हर्ष-काल में भी भड़ौंच की रुई और उसके वस्त्र प्रसिद्ध थे।[3] इस के सम्बन्ध में श्री वैद्य अपने 'मध्ययुगीन भारत' के पहले भाग में लिखते हैं—

"उस समय हिन्दुस्तान में रेशम, ऊन, और रुई के अत्यन्त बारीक वस्त्र बुनने की कला पूर्णता को पहुंची हुई थी, और आज जिस प्रकार कुछ जगह—ढाका आदि में—विलायती बारीक वस्त्र से भी अधिक बारीक वस्त्र बुने जाते हैं, उस तरह उस समय भी होते थे। राज्यश्री[4] के विवाह

१. टिपणीसकृत "कौटिलीय अर्थशास्त्र-प्रदीप"

२. सतीशकुमार दास कृत "The Economic History of Ancient India" पृष्ठ १४४–४५

३. सतीशकुमार दास कृत ,, ,, पृष्ठ २७५–७६

४. हर्ष की बहन

के अवसर पर लाये गये वस्त्रों का 'बाण' ने जो वर्णन किया है उसे देखने से इस बात की कल्पना हो सकती है कि हर्ष के समय में वस्त्र बुनने की कला कितनी पूर्णता को पहुंच चुकी थी। बाणभट्ट कहता है— "राजमहल में जहां-तहां क्षौमें (सन् के), दुकूलें (रेशम): लालातंतु (कोसा के) अंशुकें, नेत्रें (ये वस्त्र क्या होंगे, यह समझ में नहीं आता) आदि विविध प्रकार के वस्त्र फैले हुए थे जोकि सांप की केंचुली के समान दमकनेवाले, फूंक से ही उड़नेवाले, हाथ के स्पर्श-मात्र से ही बोध करानेवाले तथा इन्द्रधनुष के समान चित्र-विचित्र रंग के थे।" पृ० १३१

यहांतक स्थूल रूप से खादी की प्राचीनता और विविधता का वर्णन हुआ। आइये, अब उसकी कला पर दृष्टि डालें।

खादी की कला

नवीं सदी के आरम्भ में 'सुलेमान' नाम का एक मुसलमान व्यापारी हिन्दुस्तान में आया था। उसने यहां के वस्त्रों के सम्बन्ध में लिखा है कि "इस देश में रुई के वस्त्र इतने बारीक और कौशल के साथ तैयार किये जाते हैं कि उस वस्त्र का बुना हुआ एक चोगा मुहर की अंगूठी में होकर निकल सकता है।"[१]

"एक कारीगर जुलाहे ने एक अत्यन्त बारीक वस्त्र बांस की छोटी-सी नली में डालकर अकबर बादशाह को भेंट किया था। वह वस्त्र इतना लम्बा चोड़ा था कि उससे एक हाथी अम्बारी सहित अच्छी तरह ढक सकता था।"[२]

सुप्रसिद्ध विदेशी यात्री टेवर्नियर अत्यन्त उत्साह के साथ लिखता है, "एक ईरानी एलची ने मोतियों से गुंथा एक नारियल अपने राजा को भेंट दिया जो शुतुरमुर्ग के अंडे के बराबर था। उसे फोड़ने पर उसमें से

१. सूर्यनारायणराव कृत "History of the never to be forgotten Empire" पृष्ठ ३००

२. गणेशदत्त शर्मा कृत 'खादी का इतिहास' पृष्ठ ३९

साठ हाथ लम्बी एक बारीक पगड़ी निकली।"[१]

"टेलर साहब ने सन् १८४६ में खादी का एक वस्त्र देखा था। वह बीस गज लम्बा और पैंतालीस इंच चौड़ा था; लेकिन उसका वजन था सिर्फ सात छटांक अथवा पैंतीस तोले।" उसी तरह "उन्होंने ढाका में इतना बारीक सूत देखा था कि उसकी लम्बाई तो १३४९ गज थी, लेकिन उसका वजन था सिर्फ २२ ग्रेन! आजकल की पद्धति से हिसाब करने पर उसका नम्बर ५२४ निकलता है।"[२]

औरंगजेब की लड़की शाहजादी जेबुन्निसा एक समय इतना बारीक वस्त्र पहने हुई थी कि उसमें उसका शरीर नंगा-सा दिखाई देता था। लड़की को ऐसी स्थिति में देखकर औरंगजेब उसपर सख्त नाराज हुआ। इसपर उसने जवाब दिया, "जहांपनाह, मैं अपने जिस्म पर सात कपड़े पहने हुए हूं।"[३]

ठीक इसी तरह का एक दूसरा उदाहरण है। इतिहास-लेखक मि० हण्टर लिखते हैं—"कलिंग देश के राजा ने अयोध्या के राजा को एक रेशमी वस्त्र भेजा था। राजकन्या के उसे पहिनने पर उसपर यह आक्षेप किया गया था कि वह कहीं नग्न तो नहीं है।"[४]

कपड़े की बारीकी के सम्बन्ध में ढाका अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रसिद्ध है। रे० वार्ड ने अपना मत व्यक्त किया है कि ढाका की मलमल तैयार करने में हिन्दू कारीगरों का कौशल आश्चर्यजनक है। कुछ कुटुम्बों में वह इतनी अनुपम बनाई जाती है कि एक थान बुनने में चार महीनें लग जाते हैं। वह थान चारसौ अथवा पांचसौ रुपयों में बेचा जाता है। वह मलमल इतनी बारीक होती थी कि उसे घास पर फैलाने पर यदि ओस पड़ जाय

१. Essay on Handspinning and weaving पृष्ठ २६

२. "खादी का इतिहास" पृष्ठ ७०

३. Essay on Handspinning and Weaving

४. सतीशकुमारदास कृत "The Economic History of Ancient India पृष्ठ २७५

तो वह दिखाई तक नहीं देती थी।"[१]

"प्राचीन और मध्ययुगीन" के लेखक मि० मोनिंग अपनी पुस्तक में लिखते हैं—"ढाका की मलमल इतनी बारीक तैयार होती थी कि उन्नीसवीं सदी की मशीनें उतना बारीक सूत निकाल नहीं सकी थीं।"[२]

'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में भी इसी आशय के विचार प्रदर्शित किये गये हैं—

"हिन्दुस्तान में हाथ के करघे पर बुने हुए रुई के अत्यन्त सुन्दर वस्त्र बारीकी की दृष्टि से इतने पूर्णावस्था को पहुंच चुके हैं कि अर्वाचीन यूरोप में मशीन के आश्चर्यजनक साधनों से भी उतने सुन्दर वस्त्र तैयार हो नहीं सकते।"[३]

यन्त्रशास्त्र विशेषज्ञ मि० क्लेअर ने इंग्लैण्ड की मिलों के सूत से ढाका के हाथ-कते सूत की तुलना करते हुए निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये हैं—

"इंग्लैण्ड में मिलों का सूत इतना बारीक होता है कि एक पाउण्ड सूत में ३३० अट्टी चढ़ती हैं। इनमें से प्रत्येक अट्टी की लम्बाई ८४० गज होती है। कुल सूत १६५ मील तक फैलेगा। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र—खुर्दबीन—की सहायता से इस धागे का व्यास निकालने पर वह एक इंच का ४८० वां हिस्सा ($\frac{१}{४८०}$") ठहरता है। लेकिन हिन्दुस्तान में हिन्दुओं द्वारा हाथ से कते हुए सूत का इसीप्रकार माप निकालने पर उसका व्यास एक इंच का एक हजारवां ($\frac{१}{१०००}$")ठहरता है। इसका मतलब यह हुआ कि हिन्दुस्तान में हाथ कते सूत के चार धागे लेकर एकसाथ बट दिये जांय तब इंग्लैंड की मशीन के सूत के बराबर मोटे होंगे।"[४]

अर्थात् श्री तालचेरकर लिखते हैं कि "भारतीय कारीगरों का हाथ का

१. तालचेरकर के "Charkha Yarn" पृष्ठ ७ से
२. भाग १, पृष्ठ ३५९। "खादी का इतिहास" पृष्ठ ३९ से
३. पृष्ठ ४४६
४. तालचेरकर के "Charkha Yarn" पृष्ठ ३६ से

काता हुआ सूत इंग्लैण्ड के ३३०नम्बर के सूत से चौगुना बारीक होता था।"[1]

नीचे के अंकों से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि ढाका की मलमल और फ्रेञ्च तथा इंग्लिश मलमल की प्रत्यक्ष तुलना की जाने पर बारीकी, बट, पोत, टिकाऊपन और कस में दोनों ही यूरोपियन राष्ट्रों की मलमल ढाके की मलमल की बराबरी नहीं कर सकी[2]—

वर्णन	धागे का व्यास एक इञ्च का भाग	धागों की संख्या प्रत्येक इञ्च में
फ्रेञ्च मलमल (अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी)	·००१९	६८·८
इंग्लिश मलमल (सन् १८५१; ४४० नम्बर)	·००१८	५६·६
ढाका की मलमल (अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी १८६२)	·००१५६२५	८०·७
ढाका की मलमल (भारतीय अजायबघर)	·००१३३७५	११०·१

सन् १६१७-१८ में 'सर थामस रो' के धर्मगुरु एडमण्डटेरी नौ महीने अहमदाबाद ठहरे थे। बारीक कपड़े पर रंग व छपाई के काम के सम्बन्ध में वह अपने यात्रा-वर्णन में लिखते हैं—"यहां के लोग रुई से भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़े तैयार करते हैं। इन कपड़ों को वे रंगते हैं और उनपर सुन्दर आकार-प्रकार के फूल और आकृति छापते हैं। ये रंग इतने पक्के होते हैं कि कैसे ही पानी में डालने पर भी वे नहीं उतरते। छापने की इस सुन्दर कला में ये लोग इतने प्रवीण होगये हैं कि गांव के और दूर-दूर के लोग इनसे छींटें खरीदने के लिए अपने साथ पैसे लेकर इनके पास आते हैं।[3]

हिन्दुस्तान से बढ़िया बारीक कपड़े कितनी अधिक तादाद में बाहरी

१. 'Charkha Yarn' पृष्ठ ८
२. Essay on Handspinning and Weaving पृष्ठ ३६
३. *"नवजीवन", ७ अक्तूबर १९२८.*

देशों को जाते थे, इस सम्बन्ध में टेवर्नियर लिखता है—"सन् १६८२ में अकेले सूरत बन्दर से १४,३६,००० और सारे भारतवर्ष से ३०,००,००० से अधिक थान विलायत के लिए रवाना हुए।"[१]

यह बात नहीं है कि केवल रुई के वस्त्रों के बारे में ही हिन्दुस्तान ने इतनी प्रगति की थी, रेशमी माल भी भारी तादाद में तैयार होता था। हिन्दुस्तान में तैयार होनेवाले माल के सम्बन्ध मे टेवर्नियर ने सिर्फ कासिम-बाजार का ही वर्णन किया है। वह लिखता है—"बंगाल के इस गांव से २२ लाख पाउण्ड वजन की, रेशमी कपड़े की, २२ हजार गांठें विदेश जाती हैं। सोने-चांदी के कलाबत्तू का काम कढ़े हुए रेशम के गलीचे आदि सैकड़ों तरह की अत्यन्त सुन्दर वस्तुएं भारत में तैयार होती हैं। ढाका की मलमल तो इतनी अपूर्व बनती है कि, कई बार तो वह सोने-चांदी के भाव बिकती है।"[२]

इसी तरह बर्नियर कहता है—"बंगाल में इतना रेशमी माल तैयार होता है कि वह मुगल साम्राज्य की ही नहीं, बल्कि यूरोपियन साम्राज्य तक की आवश्यकता पूरी कर सकता है।"[३]

रेशमी माल के लिए बंगाल में मुर्शिदाबाद अत्यन्त प्रसिद्ध था और अब भी है। इसी तरह बनारस, दक्षिण हैदराबाद, मैसूर और कच्छ भी प्रसिद्ध थे। पूना, सूरत और थाना का रेशमी माल भी अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध था। रेशम पर विविध रंगों और बेलबूटों के नक्काशीदार फूल और बेलबूटे काढ़ने के लिए बनारस और अहमदाबाद के शहर प्रसिद्ध थे।[४]

आइये, अब ऊनी माल का कुछ दिग्दर्शन करें।

"काश्मीर के शाल, पंजाब के पट्टू, मैसूर की बिना जोड़ की घुग्घी और धागे तथा नैपाल और तिब्बत का ऊनी माल वर्णन करने योग्य था।"[५]

१. "नवजीवन", ७ अक्तूबर १९२८

२. 'हिन्दी स्वराज्यची कैफियत' पृष्ठ २१

३. "खादी का इतिहास" पृष्ठ ७३

४-५. आर पलित कृत "Sketches on Indian Economics" पृष्ठ १५७-१५८

हिन्दुस्तान के दुशालों के सम्बन्ध में सर थामस मनरो का मत है कि उक्त शाल लगातार सात वर्ष तक व्यवहार में लाने पर भी उसमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ा। भारतीय शाल की नकल करके बनाये गये विलायती शाल के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था—"मुझे वैसा शाल कोई भेंट करे तो भी मैं वह कदापि इस्तेमाल नहीं करूंगा।"[1]

काश्मीर के दुशालों की अभी भी ख्याति है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि सन् १८४६ में अंग्रेजों की काश्मीर राज्य से जो सन्धि हुई, उसमें एक शर्त यह भी रक्खी गई थी कि काश्मीर राज्य प्रति वर्ष काश्मीर का बना हुआ एक शाल भारत-सम्राट को भेजता रहेगा। यह शाल करीब-करीब आठ हजार रुपये का होता है। इसके सिवा तीन ऊनी रूमाल भी शाल के साथ भेजने पड़ते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि ये भी उसी मान से कीमती होते हैं।[2]

१. दत, भाग २ पृष्ठ ४१
२. "खादी का इतिहास" पृष्ठ ८०

: ३ :

कपड़े का व्यवसाय कैसे मिटाया ?

वैदिक-काल से उन्नीसवीं सदी तक वस्त्रों के सम्बन्ध में हिन्दुस्तान ने कितनी प्रगति की थी, यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। उक्त वस्त्र-व्यवसाय का किस प्रकार गला घोंटा गया उसका हृदय-द्रावक इतिहास इस अध्याय में बताना है। इसके लिए क्रमशः नीचे लिखे मुद्दों का विवेचन करना है—

(१) भारतीय वस्त्रों का प्रसार और व्यापार,

(२) उस माल की इंग्लैण्ड में लोकप्रियता,

(३) उसपर ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा उठाया गया मुनाफा,

(४) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा—

(अ) प्रजा पर किया गया जुल्म,

(आ) जुलाहों के साथ की गई ज्यादतियां,

(इ) नवाबों को किस तरह लूटा गया ?

(५) इंग्लैण्ड का संरक्षक कर तथा भारतीय व्यापार पर उसका परिणाम,

(६) कस्टम-विभाग का जुल्म,

(७) 'मुतार्फा' कर का जुल्म,

(८) अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी, अजायबघर, आदि।

(१) भारतीय वस्त्रों का प्रसार और व्यवसाय

अत्यन्त प्राचीन-काल से हिन्दुस्तान की मलमल और दूसरा सूती माल खुश्की और जलमार्ग दोनों से एशियाखण्ड के पश्चिम भाग, सीरिया, बंबिलोन, ईरान, चीन, जावा, पेगू, मलाया, ग्रीस, रोम, तथा मिस्र आदि देशों को जाता था।[१]

१. Essay on Handspinning and Weaving, पृष्ठ १५

सिन्धु नदी के मुहाने पर का बार्बरीकान, खंभात की खाड़ी, उज्जैन, पैठन, देवगिरी, सूरत, नवसारी, कन्याकुमारी, मछलीपट्टम तथा काबेरीपट्टम आदि इस माल का निर्यात करनेवाले भारत के बड़े बन्दर और शहर थे।[1] भारत के इस माल के १५० प्रकार होने और उसके बेहद सस्ते और टिकाऊपन के कारण वह सर्वत्र लोकप्रिय हो गया था; विशेषतः उसने विलायत के बाजार पर कब्जा कर लिया था।[2]

(२) इंग्लैण्ड में भारतीय माल की लोक-प्रियता

बंगाल का वर्णन करते हुए लार्ड मेकाले कहते हैं—"लन्दन और पेरिस की स्त्रियां बंगाल के करघों पर तैयार होनेवाले कोमल वस्त्रों से विभूषित थीं।" इसी तरह अठारहवीं सदी के इंग्लैण्ड के इतिहास का लेखक लेके अपने ग्रन्थ के दूसरे भाग में कहता है—"सन् १६८८ की राज्यक्रान्ति के बाद जब महारानी मेरी ने अपने पतिसहित इंग्लैण्ड में प्रवेश किया उस समय उसकी पोशाक पर से ऐसा मालूम होता था मानो हिन्दुस्तान के रंगीन माल ने उसे आश्चर्य-मुग्ध कर दिया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि समाज में उसी माल का तेज़ी से प्रचार हुआ।[3] इन सस्ती और सुन्दर छीटों और मलमल के तेजी से लोकप्रिय होने के कारण सत्रहवीं सदी के अंत में इंग्लैण्ड का ऊन और रेशम का व्यवसाय तले बैठ गया। इस कारण उसने सन् १७०० और १७२१ में पार्लमेण्ट में कानून पास करवा कर हिन्दुस्तान के छपे हुए और रंगीन माल पर जबर्दस्त चुंगी लगवाई और इस प्रकार माल की आयात बन्द करवाई।[4]

इंग्लैण्ड में हिन्दुस्तान के माल की लोकप्रियता देखकर वहां के सुप्रसिद्ध

१. Essay on Handspinning and Weaving पृष्ठ १६

२. " " पृष्ठ ४५–५१

३. बी.डी. बसुकृत "Ruin of Indian Trade and Industries" पृष्ठ ४ से

४. 'लेके' (Leckay) भाग २ पृष्ठ २५५-५६, बी. डी. बसुकृत Ruin of Indian Trade and Industries पृष्ठ ४ से उद्धृत

लेखक डेनियल डीफो का हृदय तिलमिला उठा और इसलिए उसने लिखा कि पहले जिन छींटों और रुई के रंगीन वस्त्रों को हम अपनी चद्दरों और पलंग-पोश के काम में लाते थे अथवा जिस माल को पहले साधारण पुरुष एवं लड़के व्यवहार में लाते थे, उसी माल को अब कुलीन स्त्रियों ने व्यवहार करने की प्रथा डाली है। जिस माल को पहले हम ताजपोशी होने के समय काम में लाते थे वही अब हमारे सिर पर चढ़ने लगा है। बात इतने पर ही समाप्त नहीं होती, बल्कि हमारे शयन-गृह, दीवानखाने और गद्दी-तकिये आदि सब पर हिन्दुस्तान का माल सुशोभित होने लगा है। हिन्दुस्तान से जो माल यहां आता है वह भारी नफा लेने पर भी हमारे माल की अपेक्षा सस्ता ही पड़ता है।[१]

(३) भारतीय वस्त्र पर लिया जानेवाला मुनाफा

अब हम यह देखेंगे कि भारतीय माल पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी कितना मुनाफा लेती थी।

"सूती वस्त्र के जिस थान की कीमत ७ शिलिंग पड़ती थी वह २० शिलिंग में बेचा जाता था।"[२]

लियाल नामक एक अंग्रेज सिविलियन लिखता है—"हिन्दुस्तान पर हमारे शासन करने का मुख्य कारण यही है कि उसके व्यापार से हमें जबर्दस्त नफा मिलता है। सन् १६६२ में हम हिन्दुस्तान से ३,५६,२८८ पौण्ड का माल लाये और वह विलायत में १९,१४,६०० पौण्ड में बिका।"[३]

एक इतिहास-लेखक ने लिखा है कि "सन् १६७६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हिस्सेदारों को अपने एक हिस्से के जितन मुनाफा (बोनस) मिला, और जिसके दो हिस्से थे उन्हें ५ वर्ष तक बीस प्रतिशत मुनाफा मिला।"[४]

१. Essay on Handspinning and Weaving पृष्ठ ५०-५१ से उद्धृत

२. " " " " पृष्ठ ४६

३. गणपति ऐयर कृत "Indian Industrialism" पृष्ठ ६

४. Essay on Handspinning and Weaving पृष्ठ ४७

सर चार्ल्स डाविनेट लिखते हैं—"पेरू और मेक्सिको प्रदेशों पर शासन करने से जो राजकीय आय होती है उससे ६० लाख पौण्ड अधिक आय भारत के व्यापार से होती है।[1]

यह तो हुआ ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुनाफा। अब इस बात का विवेचन करना है कि उस कम्पनी के नौकरों ने किस तरह (अ) जनता पर अत्याचार कर, (आ) जुलाहों को सता कर और (इ) नवाबों को लूट कर अपनी तौंद भरी। इससे पहले इस बात की कल्पना आवश्यक है कि ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के जो नौकर हिन्दुस्तान में आते थे उनकी उस काम के लायक योग्यता कितनी होती थी और उनका सामाजिक एवं नैतिक दर्जा क्या होता था। लार्ड मेकाले ने अपनी सजीव भाषा में लिखा है—

"कम्पनी के कर्मचारी बहुतकर विलायत के नौसिखिये होते थे। उनमें नीतिमत्ता मामूली होती थी। कम्पनी के मुखियाओं में भी उदारता एवं सार्वजनिक हित करने की भावना क्वचित ही दिखाई देती थी। उनके दिमाग में यही विचार उठते रहते थे कि हिन्दुस्तान में जाकर हम कितने लाख रुपये पैदा करेंगे अथवा विजित राष्ट्र की आगामी जनता की छाती पर हम अपने कितने लड़कों, भतीजों और भानजों का पोषण करेंगे। भारतीय जनता के पास से लाख-दोलाख हड़प कर लाना, एकाध लार्ड की लड़की से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना, एकाध पुराना गांव खरीदना, अथवा शहर के किसी प्रमुख स्थान पर नाच-जलसे करना आदि यही सब कम्पनी के कर्मचारियों का मकसद था।[2]

कम्पनी के इस दर्जे के कर्मचारियों का जनता के साथ किस तरह का बरताव था वह देखिये—

(४ अ) जनता पर अत्याचार

बंगाल के नवाबों ने सिर्फ ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ही किसी प्रकार की

१. गणपति ऐयर कृत Indian Industrialism पृष्ठ ४

२. "Essay on Handspinning and Weaving" पृष्ठ ५७ से उद्धृत

जकात—चुंगी—न देकर आयात निर्यात व्यापार करने की इजाजत दी थी; किन्तु कम्पनी के कर्मचारियों ने अपने निजी व्यापार तक में उक्त रिआयत का उपयोग किया।[1]

बंगाल के नवाब मीरकासिम ने कम्पनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार के सम्बन्ध में कम्पनी के गवर्नर से नीचे लिखेअनुसार शिकायत की थी—

"कम्पनी के कर्मचारी प्रत्येक परगने, गांव और कारखाने में जाते हैं और कारीगर और व्यापारियों को माल की कीमत की चौथाई रकम देकर जबर्दस्ती माल ले जाते हैं और जिस विलायती माल की कीमत एक रुपया होती है उसे जनता को पांच रुपये में बेचने के लिए उसपर अत्याचार और जुल्म करते हैं। कम्पनी के कर्मचारियों की इस धींगामस्ती के कारण मेरे अफसर जनता के साथ न्याय नहीं कर पाते और न अनुशासन और कानून का ही पालन कर पाते हैं। कम्पनी के कर्मचारियों के इन अत्याचारों के कारण देश की स्थिति दुःखमय होने के सिवा मेरी आय में भी २५ लाख की कमी होगई है।"[2]

सार्जेण्ट ब्रेगो ने २६ मई १७६२ को कम्पनी डाइरेक्टरों को जो एक पत्र लिखा था उसमें वह लिखते हैं—

"कम्पनी का जो गुमाश्ता जिले में माल की खरीद-बिक्री के लिए जाता है, वह इसके साथ ही वहां प्रत्येक निवासी को अपना माल खरीदने अथवा उसका माल अपने को ही बेचने के लिए बाधित करना अपना एकमात्र कर्तव्य ही समझता है। अगर कोई उसके कहने के मुताबिक खरीद-बिक्री नहीं करता तो तुरन्त ही उसे कोड़े मारने अथवा कैद करने की सजा में से कोई-सी भी सजा सुनादी जाती है। जो लोग उसकी मर्जी के मुताबिक माल की खरीद-बिक्री करते हैं उनपर फिर एक दूसरी शर्त यह लाददी जाती है कि उसे हर तरह के माल की खरीद-बिक्री उसी से करनी

१. दत्त—भाग २, पृष्ठ १

२. दत्त, भाग २, पृष्ठ ६

चाहिए। वह जो माल खरीदता है, उसके लिए दूसरे व्यापारी उसकी जो कीमत देते हैं उससे वह बहुत कम कीमत देता है और बहुत बार वह कीमत देने से साफ इनकार तक कर देता है। मैं अगर उसके काम में दखल देता हूं तो वह फौरन ही झगड़े के लिए तैयार हो जाता है। कम्पनी के कर्मचारियों के दैनिक अत्याचारों के इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऐसे अत्याचारों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि बंगाल जिले के अत्यन्त समृद्ध शहर बाकरगंज के बहुत-से लोग शहर छोड़-कर चले जा रहे हैं। प्रत्येक दिन वहां के निवासी अपने लिए किसी विशेष सुरक्षित स्थान की तलाश में रहते हैं। यहां के बाजार में जो विपुल पदार्थ बिक्री के लिए आते थे, कम्पनी के इन गुमाश्तों की कम्पनी के पट्टेदारों तक को गरीब लोगों पर जुल्म करने की छूट होने के कारण, उसमें अब कुछ भी माल नहीं आता। जमीदारों को यह धमकी दी जाती है कि अगर वे इन लोगों को जनता पर जुल्म करने से रोकने का प्रयत्न करेंगे तो उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जायगा। पहले जनता को सरकारी अदालत से न्याय मिलता था; लेकिन अब प्रत्येक गुमाश्ता न्यायाधीश बन बैठा है और इसलिए प्रत्येक गुमाश्ते का घर ही अदालत बन गया है। वे जमीदारों तक को सजा देते हैं और उन्होंने हमारे पट्टेदारों से झगड़ा किया, अथवा जो वस्तु खुद कम्पनी के गुमाश्तों के लोग ही लेगये होंगे उनकी चोरी करने आदि के झूठे इलजाम उनपर लगाकर उनसे पैसे ऐंठते हैं।"[1]

(४ आ) जुलाहों पर सख्तियां

कम्पनी के कर्मचारियों ने जिस पद्धति से कारखानों पर कब्जा जमाया, वह भी इतनी ही अत्याचारी थी। विलियम वोल्ट्स नामक एक अंग्रेज व्यापारी ने अपनी आंखों देखी बात का जो वर्णन किया है वह, उसीके शब्दों में इस प्रकार है—

"कम्पनी का खुद हिन्दुस्तान में और इंग्लैण्ड के साथ जो व्यापार चलता है, वह, अगर सच कहा जाय तो अत्याचारों की एक शृंखला ही है।

१. दत्त, भाग २, पृष्ठ ७

देश के जुलाहों और कारखानेदारों को इन अत्याचारों का अनिष्ट परिणाम अत्यन्त तीव्रता के साथ अनुभव करना पड़ता है। देश में तैयार होनेवाली प्रत्येक वस्तु का एक ही मालिक बन बैठता है और अंग्रेज लोग अपने बनियों और कृष्णवर्गीय गुमाश्तों की सलाह से अपने मनमानी तौर पर यह फैसला कर डालते हैं कि प्रत्येक कारखानेदार को उसे कितना माल तैयार करके देना और उसकी कितनी कीमत लेनी चाहिए। गुमाश्ता कारखाने के केन्द्र-स्थान पर पहुंचकर अपने ठहरने का एक स्थान निश्चित करता है और उसे 'अदालत' कहता है। वहां जुलाहों के आने पर गुमाश्ता अपने पट्टेदारों और हलकारों अथवा चपरासियों की मार्फत उन्हें इस आशय के इकरारनामे पर दस्तखत करने के लिए मजबूर करता है कि 'हम आपको अमुक समय इतना माल देंगे।' और इसके लिए उन्हें कुछ पैसे पेशगी दे दिये जाते हैं। इसके लिए सामान्यतः गरीब जुलाहों की सम्मति लेना जरूरी नहीं समझा जाता, क्योंकि गुमाश्ते उन्हें मनमानी दस्तावेज पर दस्तखत करने के लिए बाधित करते और अगर वे पेशगी दिये जानेवाले पैसे लेने से इनकार करते हैं तो जबर्दस्ती उनकी कमर से बांध दिये जाते और फिर कोड़े मारकर उन्हें भगा दिया जाता है।

"इन जुलाहों में-से बहुतों के नाम सामान्यतः गुमाश्तों के रजिस्टर में दर्ज होते हैं। उन्हें अपने निश्चित गुमाश्ते के सिवा किसी दूसरे गुमाश्ते का काम करने की इजाजत नहीं होती। उस गुमाश्ते की बदली हो जाने पर उसके रजिस्टर में यह नोट कर दिया जाता था कि उसके बाद आने वाले गुमाश्ते के इतने-इतने जुलाहे गुलाम हैं। इस नोट करने का यही उद्देश्य होता था कि यह बाद में आनेवाला गुमाश्ता भी पहले गुमाश्ते की तरह अत्याचार और लूट कर सके। इस विभाग में जो लूट होती है वह कल्पनातीत है। इस सब लूट का अन्तिम परिणाम जुलाहों की लूट होता है, क्योंकि बाजार में उनके थान जिस कीमत में बेचे जाते, ये गुमाश्ते उसमें पन्द्रह फीसदी और कहीं-कहीं चालीस फीसदी तक कम कीमत ठहराते हैं। थान की जांच करने वाले को कीमत कम करने के सलाह-मशविरे में

शामिल रक्खा जाता था। जुलाहों पर जबर्दस्ती लादे गये करार-मुचलके का अगर उनसे पालन न हो सके तो उनका माल जब्त कर लिया जाता है और नुकसान की भरपाई के लिए वहीं-का-वहीं बेच दिया जाता है। कच्चा रेशम लपेटनेवाले 'नाडगौड़', पर भी इसी तरह के अत्याचार होते थे, इसलिए दुबारा इन जुल्मों से बचने के लिए उन्होंने अपने अंगूठे ही काट लिये, ऐसे कितने ही उदाहरण हम जानते हैं।

"कारखानेदारों में के बहुत-से लोग खेती भी करते थे, इसलिए उपरोक्त अत्याचारों के कारण केवल उद्योग-धन्दे ही डूबे हों, सो बात नहीं, बल्कि खेती पर भी उनका परिणाम स्पष्ट दिखाई देता है। गुमाश्तों के अत्याचारों के कारण कारखानेदारों के लिए अपनी खेती में सुधार या तरक्की करना अथवा लगान देना अशक्य हो गया। उनके इस दूसरे अपराध के लिए माल अथवा रेवेन्यू अफसर उन्हें और सजा देते और कई बार इन पर भक्षकों के जुल्मों से बचने के लिए कारखानेदारों को अपनी खेती का लगान चुकाने के लिए अपने लड़के बेचने अथवा देशत्याग करने तक के लिए मजबूर होना पड़ा है।"[1]

कम्पनी के जो नौकर जुलाहों से अपना माल जल्द देने के लिए तकाजा करने जाते थे, उनपर कितना जुल्म होता था, इस सम्बन्ध में पार्लमेण्टरी कमेटी के सामने गवाही देते हुए सर थामस मनरो कहते हैं --

"कम्पनी के नौकर 'वीर महाल' जिले में मुखिया-मुखिया जुलाहों को इकट्ठे करते थे और जबतक वे जुलाहे इस आशय के इकरारनामे पर दस्तखत अथवा उनपर अपनी स्वीकृति नहीं कर देते थे कि 'हम सिर्फ कम्पनी को ही अपना माल बेचेंगे' तबतक उन्हें हवालात में बन्द रक्खा जाता था। जो जुलाहा 'साई' अथवा पेशगी ले लेता था, वह शायद ही कभी अपनी जिम्मेदारी से बरी हो सकता था। उससे माल तैयार करवा लेने के लिए एक चपरासी उसके घर पर धरना देकर बैठ जाता था और अगर वह माल तैयार करने में देर कर देता था तो अदालत से वह सजावार

१. वही, भाग २, पृष्ठ १०

होता था। चपरासी के धरना देकर बैठने के दिन से ही जुलाहे को उसे एक आना रोज तलवाना देना पड़ता था।[1] इसके सिवा चपरासी के पास एक मजबूत लट्ठ रहता था। जुलाहे को कई बार उसका भी प्रसाद मिलता रहता था। जुलाहों पर जुर्माना होने पर उसकी वसूली के लिए उनके बर्तन तक जब्त कर लिये जाते थे। इस तरह गांव-गांव के सब जुलाहों को कम्पनी के कारखाने में गुलामी करनी पड़ती थी।"

कम्पनी के कर्मचारियों के सम्बन्ध में लार्ड मेकाले 'लार्ड क्लाइव' नामक अपने निबन्ध में लिखते हैं—

"अपनी खुद की तोंद भरने के लिए कम्पनी के नौकरों ने देश के सब अन्दरूनी व्यापार पर कब्जा कर लिया। वे इस देश के लोगों के साथ जबर्दस्ती करके अपना विलायती माल उन्हें महंगे भाव से बेचते और उनका माल सस्ते भाव में खरीदते। वे देश के न्यायाधीश, पुलिस और मुल्की अधिकारियों का अपमान करते। लेकिन इसके लिए कोई भी उनके कान नहीं ऐंठता था। उन्होंने कुछ स्थानीय गुर्गे पाल रक्खे थे और उनके जरिये प्रान्त भर में अंधेर मचाकर भयङ्कर वातावरण पैदा कर दिया था। कम्पनी के ब्रिटिश कारखानेदार को, उसके प्रत्येक नौकर को, उसके सब अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार कलकत्ते में कम्पनी के कर्मचारियों ने तेज़ी के साथ अटूट सम्पत्ति पैदा करली। लेकिन दूसरी तरफ प्रान्त की तीन करोड़ जनता धूल में मिल गई! यह ठीक है कि इस ओर की जनता जुल्म सहने की आदी थी। पर उसने इस तरह का जुल्म इससे पहले कभी नहीं सहा था। उन्होंने यह अनुभव किया कि सिराजुद्दौला के शरीर की अपेक्षा कम्पनी की चिटी उंगली अत्यन्त भारी है। पहले जनता के पास कम-से-कम एक साधन यह था कि अगर सरकार का जुल्म उसके लिए असह्य हो जाता था तो वह उस सरकार के खिलाफ बगावत कर उसे उखाड़ फेंकती थी। लेकिन अंग्रेज सरकार सुधार का ढिंढोरा पीटकर सर्वथा जंगली राज्यों की पद्धति का

१. एक आने का मतलब होता था एक मनुष्य के भोजन के लिए उस समय जितने पैसे खर्च होते थे उसका दस गुना।

अवलंबन करती थी, इससे जनता उसे हिला नहीं सकती थी।"[1]

(४ ई) कम्पनी के कर्मचारियों ने नवाबों को कैसे लूटा ?

ऊपर कम्पनी के सामान्य कर्मचारियों के ही जुल्मों और लूट का विवरण दिया गया है। अब हम यह देखेंगे कि कम्पनी के बड़े-बड़े अधिकारी बड़े-बड़े नवाबों को किस तरह लूटते थे—

सन् १७५७ में पलासी के युद्ध के बाद जब मीरजाफर को गद्दी पर बैठाया गया तब ब्रिटिश अधिकारी और फौज दोनों को कुल मिलाकर १,८५,७८,६२५ रु० मिले थे। इस रकम में से अकेले क्लाइव को ही ४,७२,५०० रु० मिले और इसके सिवा भारी पैदावार की खासी जागीर मिली सो अलग।[2]

लार्ड क्लाइव साहब के इस कार्य के लिए जब उनसे कैफियत तलब की गई तो उन्होंने यह कहकर उसका समर्थन किया कि अगर नवाब की उदारता के कारण लक्ष्मी स्वभावतः ही मेरे घर चली आई तो क्या मैं उसका निरादर करता ? इसके सिवा इतने अर्से तक कम्पनी की नौकरी में अपने जीवन को खतरे में डालते और उसका किसी तरह का नुकसान न होने देते हुए अगर अनायास ही मुझे पैसे प्राप्त करने का मौका मिल गया तो मैं नहीं समझता कि कम्पनी यह चाहती कि मैं उस मौके को गंवा देता।[3] कितना सुन्दर समर्थन है यह !

अकेले लार्ड क्लाइव साहब पर ही लक्ष्मी ने कृपा की हो, सो बात नहीं, कम्पनी के दूसरे अधिकारियों पर भी उसने अपनी कृपा दृष्टि की थी !

सन् १७६० में जिस समय मीरकासिम को नवाब बनाया गया, उस समय ब्रिटिश अधिकारियों को ३०,०४,०३५ रु० नजराना मिला, इसमें से ८,७४,९९५ रु० अकेले वैंजिटार्ट ने लिये।[4]

१. दत्त, पृष्ठ ४५

२. दादा भाई कृत "Poverty and un-British Rule in India" पृ० ५९९ से

३. दत्त, भाग २, पृष्ठ १५-१६

४. दत्त, भाग २, पृष्ठ १६

सन् १७६३ में जब मीरजाफर को फिर गद्दी पर बिठाया गया तब कम्पनी के अधिकारियों को ७५,०२,४७५ रु० नजराना दिया।[१]

सन् १७६५ में जब नाजिमुद्दौला को गद्दी पर बिठाया गया तब फिर ३४,५५,२५० रु० नजराने के तौर पर मिले।[१]

आठ वर्षों में नजराने के तौर पर वसूल किये गये ३,२५,४४,९७५ रुपयों के सिवा गद्दी पर बिठाने के हक जैसे कुछ और हक पेश कर ५,६५,६२,४९५ रु० और वसूल किये गये।[१]

कम्पनी के कर्मचारी अपना यह व्यवहार चलाते हुए अपने डाइरेक्टरों को जो पत्र लिखते थे और डाइरेक्टरों की ओर से दूसरों को जो पत्र जाते थे उनमें इन बातों का उल्लेख हुआ दिखाई देता है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बंगाल के तत्कालीन सञ्चालकोंने ३०सितम्बर १७६५ को जो पत्र लिखा था उसमें लिखा है कि अटूट सम्पत्ति प्राप्त करने का अवसर इतना अधिक आकर्षक है कि उसकी तरफ से आंखें बन्द की नहीं जा सकतीं और उसका मोह इतना जबर्दस्त है कि उसका प्रतिकार किया नहीं जा सकता। नजराना लेने की पद्धति का नतीजा यह हुआ है कि उसके लिए अब अत्यन्त लज्जास्पद अत्याचार और निन्दास्पद रिश्वतखोरी होने लगी है।[२]

कम्पनी के कोर्ट आव डाइरेक्टरों ने बंगाल के तत्कालीन अधिकारी को १७ मई १७६६ को एक पत्र लिखा था, उसमें उन्होंने स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि, "हमारे कर्मचारियों ने जिस तरह की रिश्वतखोरी और लूटमार की, जिस प्रकार के अत्यन्त नीच साधनों का अवलम्बन किया उससे शोचनीय स्थिति हो गई है, उस सबकी हमें स्पष्ट कल्पना है। ऐसा मालूम होता है कि कम्पनी के कर्मचारियों ने जितने अत्याचार कर अटूट सम्पत्ति प्राप्त की उतने अत्याचार किसी भी कौम और किसी भी देश में नहीं हुए।"[२]

स्वयं लार्ड क्लाइव साहब का ही पत्र देखिए—

१. बसु, भाग २, पृष्ठ १६. २. दादा भाई कृत "Poverty and Un-British Rule in India" पृष्ठ ६१५ से

८ सितम्बर १७६६ को कलकत्ते के एक सज्जन 'डडले' को एक पत्र लिखा था, उसमें उसने लिखा है—

"अगर इतने वर्ष पुराने अथवा विस्मृत कृत्यों का सिंहावलोकन किया जाय और उनकी जांच की जाय तो कुछ ऐसी बातों का पता लगेगा कि जो कभी जाहिर होनी ही न चाहिएं। उन बातों से देश का सिर नीचा होगा और बड़े-बड़े तथा भले कुटुम्बों की कीर्ति पर कालिमा लगेगी।"[1]

अपने एक और दूसरे पत्र में वह लिखते हैं—"मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूं कि मुझे पता नहीं कि इस तरह की अन्धाधुन्दी, रिश्वतखोरी और जबर्दस्ती से पैसे पैदा करने के उदाहरण मैंने बंगाल के सिवा और कहीं देखे या सुने हों। स्वतन्त्र व्यापारियों ने कम्पनी के कर्मचारियों के गुमाश्ते बनकर उनकी सलाह से ऐसे-ऐसे कृत्य किये हैं, जिनके कारण हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजों का नाम सुनते ही, मानो उसमें दुर्गंध आती हो, इस तरह अपनी नाक बन्द कर लेते हैं।"[2]

यह बात खास तौर पर ध्यान देने योग्य है कि सन् १७५७ में खुद लार्ड क्लाइव साहब ने ४,७२,५०० रु० निगलने के बाद ये पत्र लिखे हैं !

अंग्रेजों की पूंजी कहां से आई ?

ऊपर लिखे अनुसार हिन्दुस्तान की पूंजी का प्रवाह इंग्लैण्ड की ओर हो जाने से इंग्लैण्ड कैसा समृद्ध हो गया और उस पैसे के कारण ही इंग्लैण्ड के उद्योग-धन्धों को कितनी गति मिली, मि० ब्रुक्स एडम्स ने अपनी "The Law of Civilisation and Decay" नामक पुस्तक में इसका अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है। इस वर्णन को पढ़कर पाठकों को यह निश्चय हो जायगा कि अंग्रेज अधिकारी और कारखानेदार जिस 'अंग्रेजी

१. दादा भाई कृत "Poverty and Un-British Rule in India" पृष्ठ ६१५ से

२. दादा भाई कृत "Poverty and Un-British Rule in India" पृष्ठ ६००

पूंजी' की बार-बार इतनी शेखी मारते हैं, वह पूंजी वास्तव में हिन्दुस्तान की ही है। मि० एडम्स ब्रुक्स लिखते हैं—

"हिन्दुस्तान से बहकर आनेवाले द्रव्य के प्रवाह से इंग्लैण्ड की सिर्फ नकद पूंजी ही नहीं बढ़ी, बल्कि उनकी शक्ति बढ़कर उसे गति और स्थिति-स्थापकता प्राप्त हुई। प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल की लूट का माल लन्दन में आने लगा और उसके साथ उसी समय उसका परिणाम भी दिखाई पड़ने लगा, क्योंकि सब जिम्मेदार आदमी स्वीकार करते हैं कि अठारहवीं सदी की औद्योगिक-क्रान्ति का आरम्भ सन् १७६० से ही हुआ है। १७६० का यह वर्ष ही अठारहवीं सदी को इस तरह दो विभागों में बांट सकता है। मि० बेन्स के कथनानुसार सन् १७६० के पहले लङ्काशायर में सूत कातने के लिए जिन साधनों का उपयोग होता था वे हिन्दुस्तान के साधनों की तरह ही सीधे-सादे थे। और १७५० में ईंधन के लिए जंगल उजाड़े जाने के कारण इंग्लैण्ड के लोहे के कारखाने पूरी तरह अवनति की ओर जा रहे थे। उस समय इंग्लैण्ड में व्यवहार में आनेवाले लोहे का ⅘ भाग स्वीडन से आता था।"

"सन् १७५७ में प्लासी का युद्ध हुआ। उस समय से इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति में जो तेजी आई, वैसी और किसी दूसरी बात से नहीं आई। सन् १७६० में 'झटका करघे' का जन्म हुआ और भट्टियों में लकड़ी के बजाय कोयले काम में लाये जाने लगे। सन् १७६४ में हारग्रिव्ज ने एक ऐसी मशीन का आविष्कार किया जिसके जरिये बहुत-से तकुए एक साथ सूत निकाल सकते थे। इसी तरह सन् १७६६ में क्रांप्टन ने रुई धुनने की मशीन का और १७८५ में कार्ट राइट ने भाप से चलने वाले करघे का आविष्कार किया। और सन् १७८६ में जेम्स वेट ने भाप से चलनेवाले एंजिन को पूरी तरह तैयार कर इन सब पर बाजी मार ली। केन्द्री-भूत शक्ति को बाहर छोड़नेवाले यन्त्रों में यह यन्त्र अत्यन्त परिपूर्ण था। यद्यपि ये सब यन्त्र समय-चक्र को गति देने वाले थे, फिर भी वे वैसी गति देने में कारणीभूत नहीं हुए। यान्त्रिक शोध स्वतः तो निश्चल ही होती है। इनमें बहुत से यन्त्रों को अपने को गति देने वाली

आवश्यक शक्ति पाने की मार्ग-प्रतीक्षा करते हुए कई वर्षों तक सुप्तावस्था में ही पड़े रहना पड़ा। हिन्दुस्तान से द्रव्य की बाढ़ आने और साख के बढ़ने के पहले—जो जल्दी ही बढ़ गई—इस कार्य के लिए आवश्यक शक्ति अस्तित्व में नहीं आई थी और इसलिए जेम्स वाट अगर ५० वर्ष पहले पैदा हुआ होता तो उसका और उसके यन्त्र का एकदम नाश ही हो गया होता।"

"हिन्दुस्तान की लूट से जो पूंजी दी और उससे इंग्लैण्ड ने जितना नफा कमाया, उतना नफा संसार की और किसी भी पूंजी पर मिला नहीं मालूम होता, क्योंकि पचास वर्ष तक इंग्लैण्ड का कोई भी प्रतिस्पर्धी नहीं था। तुलनात्मक दृष्टि से सन् १६९४ से १७५७ तक इंग्लैण्ड की प्रगति मन्द गति से और १७६० से १८१५ के बीच यही प्रगति बहुत तेजी से और आश्चर्य-जनकरूप में हुई। 'साख' ही समाज के संग्रहीत धन का प्रिय वाहन होता है। 'साख' के होते ही द्रव्य के अनेक अंकुर निकल आते हैं। लन्दन में पूंजी जमा होते-न-होते उसमें आश्चर्यजनक गति से शाखा-प्रशाखायें फूट आईं।

बंगाल का सोना-चांदी आने के पहले लन्दन की बैंक आव इंग्लैण्ड २० पौण्ड से कम के—दस और बीस पौण्ड के नोट जारी करने की हिम्मत नहीं कर रहा था; लेकिन उक्त सोने-चांदी के पहुंचते ही उनके जारी करने में वह सहज ही समर्थ हो गया। प्राइवेट पेढ़ियां तक नोटों की वर्षा करने में समर्थ हो गईं।"[1]

(५) इंग्लैण्ड के संरक्षक कर

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तान के मालपर कितना मुनाफा कमाया, यह हम देख चुके। यह भी हम देख चुके कि कम्पनी के छोटे-बड़े कर्मचारियों ने भारतीय जनता पर कैसा जुल्म किया; जुलाहों को किस तरह तबाह किया और नवाबों को किस तरह लूटा। आइये, अब हम यह देखें कि 'मुक्त व्यापार'

१. बी. डी. बसु कृत "Ruin of Indian Trade and Industries" पृष्ठ ८१९ से

के हिमायती इंग्लैण्ड ने किस प्रकार संरक्षक करों का अवलम्बन कर हिन्दुस्तान के व्यापार को चौपट किया।

हिन्दुस्तान के व्यापार को तबाह करने के लिए इंग्लैण्ड ने पहले प्रतिबन्धात्मक (Prohibitive), बाद को दमनात्मक (Suppressive) और अन्त में पीड़नात्मक (Repressive) नीति ग्रहण की।[1]

सन् १६०० से १७०० के बीच की इस एक सदी में विलायत के साथ हिन्दुस्तान का व्यापार खूब जोरों पर था। १६८० तक विलायत में हिन्दुस्तान के माल के प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। लेकिन उसी वर्ष से उस पर चुंगी का जो क्रम जारी हुआ, वह नीचे के विवरण में देखिए—

१६८० से १६८३ तक रुई के प्रत्येक थान पर चुंगी की रकम ९ पैंस से ३ शि० तक थी। व[illegible]

१६८५ से १६९० तक हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड जाने वाले सब किस्म की रुई, सूत तथा वस्त्रों पर १०० पौण्ड के माल पर १० पौण्ड तक बढ़ी।

१७०० में सूती सब रंगीन वस्त्रों के आने पर रोक लगाई गई। इसलिए सफेद वस्त्र ही वहां जाने लगे। लेकिन बाद को इन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

सन् १७०० में, इंग्लैण्ड के राजा विलियम तृतीय ने कानून बना कर इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान के व्यापार को रोक दिया। उसने यह सरकारी हुक्म जारी किया कि "जो व्यक्ति—स्त्री अथवा पुरुष—रेशमी वस्त्र या सूती छींट बेचेगा अथवा व्यवहार में लायगा, उस पर २०० पौण्ड (३००० रुपये) जुर्माना होगा!" (खादी का इतिहास, पृ० ७१)

१७२१ में सूती रंगीन वस्त्र के व्यवहार पर प्रतिबन्ध लगाया गया। इसके अनुसार उसके व्यवहार के प्रत्येक अपराध पर ५ पौण्ड (७५ रु०) और बेचने वाले पर २० पौण्ड (३०० रु०) जुर्माना होता था।

१. "Essay on Handspinning and Weaving" पृष्ठ ६४

१७३७ में सूत के छपे हुए माल पर प्रतिबन्ध लगाया गया । पहले मिश्रित माल पर जो रोक लगाई गई थी, वह उठा ली गई।

इतने प्रतिबन्ध लगाये जाने पर भी फेशन के मोह से कहिए अथवा स्त्रियों के आग्रह के कारण, सूती माल का व्यापार चलता ही रहा। मलमल, सादी छींट तथा बंगाल के रेशमी रूमाल के 'छपे हुए माल' की संज्ञा में न आने के कारण इनकी तथा प्रतिबन्ध-रहित माल की मांग बहुत थी।

१७६६ में अंग्रेज इतिहासकार लेके अपने अठारहवीं सदी के इंग्लैण्ड के इतिहास (भाग ७ पृ० ३२०) में लिखता है—

"किसी भी स्त्री का हिन्दुस्तान का सूती माल व्यवहार करना अपराध समझा जाता था। लेकिन, (सूती वस्त्र ही क्या) गिल्ड हाल में एक स्त्री पर इसलिए २०० जुर्माना हुआ कि वह एक रून का हाथ-रूमाल अपने काम में लाई थी।"[१]

डिफो का तो यहां तक कहना है कि कॉलचेस्टर में एक बार इसी बात पर दंगा हो गया कि एक स्त्री ने हिन्दुस्तान का सूती वस्त्र अपने शरीर पर पहन लिया, और दंगे में स्त्री पर सिर्फ हमला ही नहीं किया गया बल्कि उसकी बेइज्जती तक की गई।[२]

हिन्दुस्तान के कपड़े पर इतनी जकात अथवा चुंगी होने पर भी वह इतना लोकप्रिय था कि विलायत में उसकी खपत अधिकाधिक परिमाण में होती थी। यह देखकर सन् १७७४ में पार्लमेण्ट ने इस आशय का एक महत्त्वपूर्ण कानून बनाया कि इंग्लैण्ड में बिकने वाला माल इंग्लैण्ड का ही कता और बुना होना चाहिए। निम्नलिखित अंकों से स्पष्ट दिखाई देगा कि इस कानून

१. बी. डी. बसु कृत "The Ruin of Indian Trade and Industries" पृष्ठ ५ से

२. "Essay on Handspinning and Weaving" पृष्ठ ५१

का भी उस व्यापार पर कुछ असर नहीं पड़ा।[1]

वर्ष	विलायत जाने वाले माल की कीमत
सन् १७७२	१,५६,२९, ३४० रु०
,, १७८२	१,९०,०६, ८४५ ,,
,, १७९२	२,६९,०४, ३७५ ,,

तब फिर पार्लमेण्ट ने हिन्दुस्तान से आने वाले माल पर नीचे लिखे अनुसार जकात बढ़ाई—

प्रत्येक १०० पौण्ड की कीमत के सूती वस्त्र पर[2]

वर्ष	सफेद सूती वस्त्र	मलमल और नानकिन
सन् १७६७	१८ पौ०—३ शि०—० पें०	१९ पौ०-१६शि०-०पें०
१७९८	२१ पौ०—३ शि०—०	२२ पौ०-१६शि०-०
१७९९	२६ — ९ — १	३० — ३ — ९
१८०२	२७ — १ — १	३० —१५ — ९
१८०३	३९ — १ — ३	३० —१८ — ९
१८०४	६५ — १२ — ६	३४ — ७ — ६
१८०५	६६ - १८ — ९	३५ — १ — ३
१८०६	७१ — ६ — ३	३७ — ७ — १
१८०९	७१ — १३ — ४	३७ — ६ — ८
१८१२	७३ — ० — ७	३७ — ६ — ८
१८१३	८५ — २ — १	४४ — ६ — ८

इसका मतलब यह हुआ कि सन् १८१३ में १५०० रु० के सफेद सूती वस्त्र पर १२७५ रु० और उतनी ही कीमत की मलमल अथवा पीले सूती वस्त्र पर ६७५ रु० जकात लगती थी। इस जकात का हिन्दुस्तान पर कितना अनिष्टकारी परिणाम हुआ वह निम्नलिखित अङ्कों से स्पष्ट दिखाई देगा[3]—

१. "Essay on Handspinning and Weaving" पृष्ठ ५४
२. "Essay on Handspinning and Weaving पृष्ठ ८७
३. बी०डी० बसु कृत "The Ruin of Indian Trade and Industries" पृष्ठ ३०

हिन्दुस्तान से विलायत जाने वाला माल

वर्ष	माल की कीमत
१८१६–१७	१,६५,८४,३८०
१८२०–२१	८५,४०,७६२
१८२४–२५	६०,१७,५५६
१८२८–२९	२२,२३,१६३
१८३२–३३	८,२२,८९१

इस मुकाबले में विलायत से हिन्दुस्तान में आने वाले कपड़े का परिणाम देखिये[1]—

सन्	माल की कीमत
१७९४	२,३४० रुपये
१७९८	६६,५४०
१८०२	२,४२,८६५
१८०६	७,२७,८७५
१८१०	११,२०,४२५
१८११	१७,१६,७३५
१८१२	१६,०९,५००
१८१३	१६,३३,३६०

यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि इसके बाद प्रतिवर्ष यह तादाद बढ़ती ही गई।

इंग्लैण्ड अब भले ही बड़े हर्ष के साथ यह कहे कि 'हम मुक्त अथवा अबाध व्यापार के हिमायती हैं।' लेकिन जकात के इन वार्षिक अंकों से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि किस तरह उसने संरक्षक जकात का अवलम्बन कर अपने उगते हुए धन्धों की परवरिश की। विजित राष्ट्र पर विजयी राष्ट्र के

१. बी०डी० वसु कृत "The Ruin of Indian Trade and Industries" पृष्ठ ३०

नि:शंक अन्याय का यह अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण है। इस सम्बन्ध में इतिहासकार विल्सन अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

"इस बात प्रमाण दिया जा चुका है कि सन् १८१३ तक इंग्लैण्ड के माल की अपेक्षा हिन्दुस्तान का माल ५० से ६० फीसदी तक सस्ता पड़ता था। इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दुस्तान के माल पर ७० से ८० फीसदी तक जकात लगाकर अथवा उस माल के आने की रोक करके इंग्लैण्ड के माल की रक्षा करनी पड़ी। अगर इंग्लैण्ड ने हिन्दुस्तान के माल पर इस तरह सरक्षक जकात न लगाई होती तो 'पेसले' और 'मेञ्चेस्टर' की मिलें प्रथमारम्भ में ही बन्द कर देनी पड़ी होतीं और भाप का उपयोग करके भी वे शायद ही खोली जा सकी होतीं! हिन्दुस्तानी कारखानेदारों का नाश करके ही वे मिलें खोली गईं। हिन्दुस्तान अगर स्वतन्त्र होता तो उसने इसके बदले में इंग्लैण्ड के माल पर पूर्णत: प्रतिबन्धात्मक जकात लगाकर इंग्लैण्ड का बदला चुकाया होता और अपने उद्योग-धन्धों को उसके हाथों नाश होने से बचा लिया होता। हिन्दुस्तान को अपना बचाव करने का मौका ही नहीं दिया गया। वह विदेशी सत्ता का भक्ष्य बन गया था। उस पर विलायती माल लाद दिया गया। इस माल पर किसी भी तरह की जकात न थी। प्रतिस्पर्धी के साथ बराबरी के नाते धर्मयुद्ध तो नहीं किया जा सकता था, इसलिए विलायती कारखानेदारों ने अन्यायी राज्य-सत्ता का सहारा लेकर उसे धर-दबोचा और अन्त में उसका गला घोंटकर उसे मार दिया।"[१]

इंग्लैण्ड की कामन्स-सभा की जांच-कमेटी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए मि० रिकार्ड्स ने कहा था—"इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान दोनों ही राष्ट्रों पर इंग्लैण्ड की सत्ता होने के कारण यह असंगतता दिखाई देती है कि विलायती माल तो बिना किसी तरह की जकात के बेरोक-टोक हिन्दुस्तान में उतार लिया जाता है; लेकिन सिर्फ इस्तेमाल तक के लिए आने वाले

१. एच० विल्सन कृत "History of British India" भाग १, पृष्ठ ३८५। बी० डी० बसु कृत "The Ruin of Indian Trade and Industries" पृष्ठ ६ से

हिन्दुस्तानी माल पर इंग्लैण्ड में जबर्दस्त जकात देनी पड़ती है। इनमें की बहुत-सी चीजों पर १०० से ऊपर ६००) तक और एक नग पर फीसदी ३०००) जकात देनी पड़ी।"[1]

इंग्लैण्ड के हिन्दुस्तान पर जबर्दस्त जकात लादने और 'मुक्त' व्यापार की डींग हांकने के सम्बन्ध में एक और अंग्रेज सज्जन के विचार देना अप्रासंगिक न होगा। मि० माण्टगोमेरी मार्टिन कहते हैं—

"चौथाई सदी के अर्से में ही—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में—हम (अंग्रेज लोग) ने हिन्दुस्तान को अपने कारखानों में तैयार हुआ माल खरीदने के लिए मजबूर कर दिया। इस माल में ऊनी माल पर तो जकात बिल्कुल ही नहीं थी। सूती और दूसरे माल पर अढ़ाई फीसदी के औसत से जकात लगती थी। लेकिन इसी अर्से में हमने हिन्दुस्तान के अथवा अपने ही साम्राज्यान्तर्गत माल पर करीब-करीब प्रतिबन्धक अथवा दस, बीस, तीस, पचास, सौ और एक हजार फीसदी तक जकात लगाने का दौर चलाया। इसलिए हिन्दुस्तान के साथ 'मुक्त' व्यापार का अर्थ यह हुआ कि इस देश—इंग्लैण्ड—से जो माल हिन्दुस्तान को जाय सिर्फ वही 'मुक्त' अथवा 'खुला', हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड जाने वाला माल 'खुला' नहीं।...सूरत, ढाका, और मुर्शिदाबाद तथा जहां-जहां ऐसा माल तैयार होता था, उन शहरों के विनाश की कहानी इतनी करुण है कि उस विषय में यहां कुछ विचार न करना ही अच्छा है! मैं नहीं समझता कि इसे सचाई का व्यापार कहा जा सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहां 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के न्याय को ही काम में लाया गया है।"[2]

इस सब कार्रवाई में ब्रिटिश-सरकार की व्यापार विषयक क्या नीति थी, इस सम्बन्ध में सर जार्ज टक्कर १८२३ में लिखते हैं—

"हम लोगों (अंग्रेजों) ने हिन्दुस्तान के साथ व्यापार के सम्बन्ध में

१. बी. डी. बसु कृत "The Ruin of Indian Trade and Industries" पृष्ठ ६० से

२. दत्त, भाग २, पृष्ठ ८८,

अपनी क्या नीति रखी है ? अपने बाजारों में से हमने उसके रेशमी और रेशम तथा सूत के मिले हुए माल का बहिष्कार कर दिया है । इधर हिन्दुस्तान से आने वाले माल पर ६७ फीसदी जकात लगा देने और खासकर हमारी उच्च कोटि की मशीनरी के कारण हिन्दुस्तान से भारी तादाद में आने वाले सूती माल का आना रुक गया है । इतना ही नहीं, प्रत्यक्षतः अब तो हम एशिया की जनता को अंशतः अपने ही कारखानों में तैयार हुआ माल देते हैं । इस तरह हिन्दुस्तान अब 'कारखानेदार राष्ट्र' के पद से च्युत होकर 'किसान-राष्ट्र' के दर्जे पर आ पहुंचा है ।'[1]

(६) कस्टम-विभाग के कष्ट

कपड़े के व्यवसाय का गला घोंटे जाने की करुण कहानी यहीं समाप्त नहीं हो जाती । विलायत के साथ चलने वाले हिन्दुस्तान के व्यापार को ही डुबोकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सन्तोष नहीं हुआ, बल्कि देश-का देश में चलने वाला व्यापार तक उसकी आंखों में खटकता था । अतः उसे समाप्त करने के लिए कम्पनी ने अपने कस्टम-विभाग का किस तरह उपयोग किया, उसकी ओर नजर डालना सर्वथा प्रासंगिक होगा ।

कस्टम-विभाग की लीलाओं का वर्णन करने के पहले देश में प्रचलित 'टोल' पद्धति का दिग्दर्शन करना आवश्यक है । प्रत्येक बैल, घोड़े, ऊंट तथा गाड़ी पर लादे जाने वाले माल पर यह कर वसूल किया जाता था । इस कर के वसूल करते समय माल की कीमत पर ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी जाती थी । उसी तरह यह कर इतना थोड़ा था कि माल को छिपाने-छिपूने का कुछ भी कारण नहीं रहता था । इसलिए माल के जांच की भी कुछ जरूरत नहीं रहती थी । प्रति चालीस, पचास, अथवा साठ मील के अन्तर पर यह कर देना पड़ता था । इस पर से ऐसा मालूम होता है कि जितने अन्तर से माल की आमद-रफ्त होती थी, उसी के अनुसार हफ्ते-हफ्ते भर में यह कर देना पड़ता था ।

१. दत्त भाग १, पृष्ठ २६२

लेकिन कम्पनी के अंग्रेज कर्मचारियों ने 'टोल' नाके बन्द करके उसके बजाय 'पास'-पद्धति शुरू की। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक व्यापारी को सारी जकात एकदम दे देनी पड़ती थी। उसके बदले में उसे पास (परवाना) मिलता था। व्यापारी के यह पास बता देने पर यात्रा समाप्त होने तक कोई भी नया कर नहीं देना पड़ता था। सम्भव है पहली ही नजर में यह पद्धति बहुत सुविधाजनक प्रतीत हो; लेकिन वास्तव में इससे व्यापारी को 'टोल' पद्धति से अधिक पैसा देना पड़ता था। क्योंकि, 'टोल'-पद्धति में यह लाभ था कि जितनी दूरी का सफर होता था, उतनी ही दूरी के लिए पैसे देने पड़ते थे। वह भी हफ्ते-भर में देने पड़ते थे। लेकिन पास-पद्धति में व्यापारी को भले ही माल नजदीक के गांव में अथवा दूर के शहर में ले जाना हो, यह खयाल करके कि उसे दूर-से-दूर का सफ़र करना है, उससे एकदम सारी जकात वसूल करली जाती थी। अवश्य ही इससे जकात की आमदनी बढ़ गई; लेकिन साथ ही व्यापारियों में भयंकर असन्तोष भी फैल गया।

व्यापारियों के लिए यह 'पास'-पद्धति कितनी कष्ट-दायक थी, इसका विवेचन तो अभी बाकी ही है। मान लो कि बनारस से एक ही व्यापारी का भिन्न-भिन्न प्रकार का माल कलकत्ते के लिए रवाना हुआ। उसके लिए उसे एक पास मिला। कलकत्ते में अगर सब माल की थोक बिक्री हो गई तो ठीक, नहीं तो जितनी तरह का माल होता, व्यापारी को उतने ही पास और लेने पड़ते और इन नये पासों के लिए उसे आठ आने फी सैकड़ा नई जकात देनी पड़ती थी। इसके लिए व्यापारी को जो समय बरबाद करना पड़ता था, माल की एकदम बिक्री होने में जो रुकावट पड़ती थी, और कस्टम-हाउस से माल हटाने में जो असुविधा होती थी, उसके मुकाबले में आठ आने फी सैकड़ा की यह करबन्दी इतनी असुविधा-जनक नहीं मालूम होती थी। पास की मियाद सिर्फ एक वर्ष की होती थी। अगर वर्ष के अन्त तक माल नहीं बिका तो व्यापारी को अपना पास बदलवा लेना अथवा नया करा लेना पड़ता था। लेकिन इतना निश्चित था कि वर्ष की मियाद पूरी

होने के पहले उसे अपना पुराना पास लौटाना ही पड़ता और उसमें लिखे माल की जांच कस्टम अधिकारियों को करा देनी पड़ती थी। इन सब क्रियाओं के पूरा होने के बाद आठ आने सैंकड़ा के हिसाब से पैसे देने पर ही नया पास मिल सकता था। अगर वह अपने इस कर्तव्य-पालन में चूक जाता तो उसे नई जकात देनी पड़ती। सच तो यह है कि व्यापारियों को माल की जांच कराना, समय-समय पर कस्टम-हाउस में उसकी निगरानी करना और अपना अमूल्य समय बरबाद करना इतना असह्य होता था कि इन सब असुविधाओं को सहने की बनिस्बत वे नई जकात दे देना ही पसन्द करते थे।

जगह-जगह पर कस्टम-विभाग की चौकियां होती थीं, जहां पर व्यापारियों को अपना माल दिखाना पड़ता था। एकाध बार किसी कारणवश पास लेना रह जाता, और व्यापारी ईमानदारी के साथ यह खयाल करके कि "चौकी पर पैसे अदा कर देंगे," रवाना हो जाता तो बिना पास के चौकी पर से जाने के अपराध में उसका माल जब्त कर लिया जाता।

माल की जांच के लिए जगह-जगह नाके मुकर्रिर थे, ताकि माल की आयात-निर्यात नियम-विरुद्ध एवं चोरी से न हो सके। पास में लिखे मुताबिक माल है या नहीं, यह जांच करना नाकेदार का काम था। कानून के अनुसार कस्टम्स हाउस से चार मील से अधिक फासले पर जांच के नाके अथवा चौकियां न रखने का नियम था, लेकिन उसकी अवहेलना करके सारे देश भर में ये नाके फैले हुए थे। कभी-कभी तो ये नाके कस्टम्स-हाउस से साठ-सत्तर मील तक के फासले पर होते थे। इन नाकों के नाकेदारों को इस बात की बारीकी से जांच करने का पूरा अधिकार रहता था कि पास में लिखेअनुसार माल की किस्म, संख्या और वर्णन के अनुसार माल ठीक निकलता है या नहीं। प्रत्येक नाकेदार अगर नियमानुसार अपने मन में उक्त प्रकार से बारीकी से माल जांचने की ठान लेता तो यह साफ है कि इससे देश का सारा व्यापार बन्द हो जाता, क्योंकि इतनी अग्नि-परीक्षा से गुजरने की अपेक्षा व्यापारियों ने व्यापार करना बन्द ही कर दिया।

इन सब जुल्मों के खिलाफ अगर शिकायत की जाती तो शिकायत करनेवाले को लाभ होने की बनिस्बत हानि ही अधिक उठानी पड़ती थी। अगर शिकायत की ही तो रोग की अपेक्षा उसका उपाय अधिक कष्टकर हो जाता था।

कस्टम्स हाउस के इस जुल्म के कारण देश का अन्दरूनी व्यापार बिल्कुल डूब गया। चार रुपये मासिक वेतन पानेवाला एक क्षुद्र नाकेदार जब लखपती व्यापारियों को उक्त प्रकार सताता हो तब अगर व्यापारियों ने ऐसा व्यापार छोड़ दिया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? देश का व्यापार डूबने का अर्थ हुआ कारखानेदारों की समाप्ति ! कस्टम्स अफसरों के पैसे ऐंठने के इस जुल्म के कारण कस्टम्स हाउस पर होकर जानेवाली स्त्रियों की इज्जत तक सुरक्षित नहीं रहती थी ![१]

(७) मुतारफा कर का जुल्म

कपड़े के व्यवसाय के प्रबल संगठन को उपरोक्त चारों ओर से सुरंग लगाकर ढहा देनें के जो प्रयत्न चल रहे थे, कम्पनी को शायद वे काफी मालूम नहीं हुए, इसलिए उसने 'मुतारफा' नामक एक नये कर का और सहारा लेकर उक्त संगठन को तो ढहाया ही, उसके साथ-ही दूसरे धन्धे-वालों का भी खात्मा हो गया।

खेती न करनेवाले प्रत्येक मनुष्य पर यह कर लादा जाता था। सुनार या बढ़ई, धातु के औजार आदि बनाने वाले कारीगर, और रास्ते पर परचूनी की दूकान करनेवाले सब को यह कर देना पड़ता था। कोई एकाध बुढ़िया रास्ते के कोने पर साग-सब्जी बेचने के लिए बैठती तो उसको तक इसके लिए कर देना पड़ता था।

कपड़े के व्यापारियों को भी यह कर देना पड़ता था। लेकिन यूरो-पियन व्यापारी इससे बरी थे। जो व्यापारी वर्ष-भर तक मेहनत-झंझट कर कपड़े बेचता और अपना पेट भरने लायक पैसा पैदा कर पाता था,

१. Sir Charles Travelyan's Report—बसु, भाग १ पृष्ठ ३०६ से

उसको तो यह कर देना पड़ता था, लेकिन सैकड़ों रुपये कमानेवाले उसी के पड़ोसी यूरोपियन व्यापारी को कुछ भी नहीं देना पड़ता था।[1]

व्यापार की मामूली-से-मामूली चीज पर और साधारण मनुष्यों के काम में आनेवाले सस्ते-से-सस्ते औजारों तक पर यह कर लादा जाता था। चरखे पर भी यह कर लाद दिया गया था। हिन्दुस्तान के रुई के व्यापार में मि. ब्राउन नामक एक अंग्रेज सज्जन ने काफी नाम कमाया था। जब १८४८ की 'भारतीय रुई' की सिलेक्ट कमेटी के सामने उनकी गवाही ली गई थी, उस समय वह अपने साथ एक चरखा ले गये थे, और गवाही देते हुए साफ तौर पर बताया था कि "प्रत्येक चरखे और प्रत्येक घर और कारीगर के बरतने के प्रत्येक औजार पर 'मुतारफा' नामक कर लगाया जाता है।[2]

चरखे की तरह हां हाथ के करघे पर भी यह कर लादा जाता था।[3]

इस कर की एक और विशेषता यह थी कि इसकी वसूली के लिए नियुक्त अधिकारियों की इच्छा पर ही इसकी वसूली का दारमदार था। इसलिए वे गैर-जिम्मेदार लोग जब चाहते धावा बोल देते और इस तरह जनता पर अत्याचार कर पैसे ऐंठते रहते थे। इस कर की वसूली के लिए लोगों के हाथों में हथकड़ी डालना और उन्हें कैद कर देना तो इन लोगों के लिए बायें हाथ का खेल हो गया था।[4]

(८) अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी, अजायबघर, आदि

आइये, अब इस दुःखान्तक नाटक के अन्तिम अङ्क पर नजर डालें। हिन्दुस्तान के कारखानेदारों और जुलाहों के धन्धों को खतम कर देने से विलायत के कारखानेदारों मजदूरों की खूब चांदी हो गई। हिन्दुस्तान की कपड़े की आवश्यकतापूर्ति के लिए मानो उन्होंने बीड़ा ही उठा लिया था

१. दत्त, भाग २. पृष्ठ ११७

२. दत्त, भाग २. पृष्ठ १०४

३. "Essay on Handspinning and Weaving पृष्ठ६४

४. दत्त, भाग २. पृष्ठ ११६

और इसलिए वहां किस-किस तरह के माल की खपत है, इस बात की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करने के लिए सन् १८५१ में लन्दन में एक भारी अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी करने का आयोजन किया। सर थॉमस मनरो ने ब्रिटिश पार्लमेंट के सामने गवाही देते हुए कहा था कि "कारखानेदार के रूप में हम हिन्दुस्तान के बहुत पीछे हैं।" इसलिए ब्रिटिश कारखानेदारों ने प्रदर्शनी के बहाने भारतीय कारीगरों के हुनर का रहस्य खोज निकालने का कमाल का प्रयत्न किया।[१]

इस सम्बन्ध में मि० कीथ नामक अंग्रेज सज्जन ने जो कुछ कहा है, उससे यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि इस सम्बन्ध में भी भारतीय कारीगरों पर काफी जुल्म हुए हैं। वह कहते हैं—

"हुनर की खूबियों या रहस्यों को गुप्त रखने में कितनी सावधानी रक्खी जाती है, यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है। अगर हम इंग्लैंड के मेसर्स डाल्टन के चीनी के बर्त्तनों का कारखाना देखने जाते हैं तो वे बड़ी शिष्टता से हमारे साथ आनाकानी कर जाते हैं। लेकिन मेञ्चेस्टर के कारखानेदारों ने धुनने और दूसरे विषयों में अपने धंधेका हुनर या कला की खूबियां बताने के लिए हिन्दुस्तानी कारीगरोंके साथ ज़बर्दस्ती करके उनसे वे खूबियां जान ही लीं।"[२]

डा० राइल ने तजवीज़ पेश की कि इस प्रदर्शनी में भारतीय कला-कौशल के जो काम दिखाये गये हैं उनका एक स्थायी अजायबघर क़ायम किया जाना चाहिए। उनकी यह तजवीज मंजूर हो गई और हिन्दुस्तान के खर्चे से उसका कायम किया जाना तय पाया। इस अजायबघर के जरिये ब्रिटिश कारखानेदारों और मजदूरों का जीवन सुखी करने की मानो स्थायी तजवीज की गई।

१. बी. डी. बसु कृत "The Ruin of Indian Trade and Industries" पृ० ११०-११

२. 'पायोनियर' ७ सितम्बर १८६८, बसु की पुस्तक के पृष्ठ १२०-२१ से

इस अजायबघर में भारतीय बुनाई के काम के जो महत्त्वपूर्ण नमूने थ, वे अठारह बड़े-बड़े ग्रन्थों में संगृहीत किये गये। इन अठारह ग्रन्थों के एक-समान नमूने के बीस सेट तैयार किये गये। इन ग्रन्थों में भारतीय कला के ७०० नमूने सुव्यवस्थित प्रकार ग्रथित किये गये हैं। इन बीस सेटों में से १३ सेट विलायतमें और सात हिन्दुस्तानमें रखना तय पोयागया। इस से इंग्लैंड की स्वार्थी नीति स्पष्ट हो जाती है। इन ७०० नमूनों के कारण ब्रिटिश कारखानेदारों के लिए भारतीय रुचि के अनुसार मन-चाहा माल निकालना अत्यन्त सुगम हो गया। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय जुलाहों और कारखानेदारों के विनाश के लिए निकाली गई अनेक युक्तियों में यह प्रदर्शनी एक खास और कदाचित अन्तिम युक्ति थी।[१]

यह हुआ कपड़े के व्यवसाय का गला घोटे जाने का इतिहास। भारतीय परिस्थिति का अध्ययन कर श्री रमेशचन्द्र दत्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी की गैरकानूनी राज्य-पद्धति के कारण होने वाली हानियों की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"कातने-बुनने के धन्धे के विनाश के साथ-ही-साथ भारत के दूसरे पुराने धन्धों का भी नाश हो गया। रंगाई, रंग तैयार करने, चमड़ा कमाने और उसके उपयुक्त पदार्थ बनाने, लोहे और दूसरी धातुओं पर कला-कौशल का काम कर उनके उपयुक्त पदार्थ बनाने, शाल और दरियां बनाने, मलमल और जरी का काम और लेखन-पठन की सामग्री आदि सबका सत्यानाश हो गया है। इन उद्योगों के जरिये करोड़ों भारतीयजन अपनी आजीविका चलाते थे; लेकिन अब उन्हें अपना पेट भरने के लिए अन्तिम उपाय के तौर पर खेती का आश्रय लेना पड़ता है।"[२]

१. बी० डी० बसु कृत "Ruin of Indian Trade and Industries" पृ० १११

२. रमेशचन्द्र दत्त कृत"Speeches and papers on Indian Questions" पृष्ठ १०६, ९०, ८१—डा० बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" पृष्ठ ९०-९१ से

: ४ :

सोलहों आने दरिद्रता

शासक वर्ग और भारतीय राजनीतिज्ञों को चेताते हुए श्री रमेशचन्द्र दत्त लिखते हैं, "किसी भी देश को—पृथ्वी पर के अत्यन्त समृद्ध देश तक को—अगर ऐसी स्थिति में रक्खा जाय कि उसके उद्योग-धन्धे नष्ट-भ्रष्ट होगये हों, खेती भाररूप और अनिश्चित करों के बोझ के नीचे दबी पड़ी हो और आमदनी का आधा भाग प्रतिवर्ष देश से बाहर चला जाता हो[१] तो जल्दी ही उसे अकाल की वेदना अनुभव होने लगेगी। देश के द्रव्योत्पादक साधनों को व्यापक बनाने और जनता से कर के रूप में प्राप्त धन को उसी पर और उसी के लिए खर्च किये जाने से ही देश समृद्ध होता है। इसके विपरीत अगर सम्पत्ति के साधन संकुचित कर दिये जांय और करके रूप में

१. हिन्दुस्तान से जिन-जिन मार्गों से विलायत को पैसा जाता है वे इस प्रकार हैं—

(१) सिविल और मिलिटरी अधिकारियों की पेंशन और छुट्टी के भत्ते।

(२) रेल्वे, सेना और दूसरे विभागों के लिए आवश्यक माल की विलायत में खरीद।

(३) विनिमय की दरों के हेर-फेर

(४) दूषित चलन-पद्धति

(५) 'राष्ट्रीय-ऋण'—उस पर ब्याज

(६) हिन्दुस्तान में लगी हुई इंग्लैंड की पूंजी पर ब्याज

(७) विलायती जहाजों के जरिये होनेवाला भारतीय माल का आवागमन

(८) कपड़े तथा दूसरे माल की आयात, आदि-आदि

वसूल होने वाले धन का खासा भाग देश के बाहर जाने लगे तो वह देश दरिद्री बन जाता है। अर्थशास्त्र का यह अत्यन्त सरल और स्पष्ट नियम है। हिन्दुस्तान और दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार इन्हीं नियमों के अनुसार होते हैं। हिन्दुस्तान के अपने उद्योग-धन्धों के पुनरुद्धार हुए बिना, भारतीय किसानों पर निश्चित और सहज मर्यादा डाले बिना और भारतीय आय का पर्याप्त भाग भारत में ही खर्च किये बिना भारत की दरिद्रता का नष्ट होना सम्भव नहीं है।'[1]

साधारण मनुष्य वर्तमान में प्रचलित व्यवहार के भावी परिणाम का अनुमान नहीं कर सकते, लेकिन दृष्टा, राजनीति विशारद और राष्ट्र के सच्चे नेता इस बात को सहज ही समझ जाते हैं।

गत डेढ़सौ वर्षों की अवधि में जिन अंग्रेज सज्जनों को प्रसंगानुसार भारत की स्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण करने का मौका मिला, उनमें के कुछ लोगों ने भारत की भावी स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भविष्यवाणियां लिख रक्खी हैं। इन भविष्यवाणियों से भारत की स्थिति का स्पष्टतर ज्ञान मिलने में सहायता मिलती है, अतः समय के क्रम के अनुसार वे नीचे उद्धृत की जाती हैं।

सन् १७६९ में मि० वेरेल्स्ट नामक अंग्रेज सज्जन बंगाल के गवर्नर थे। वह उसी सन् के ७ अप्रैल के अपने एक पत्र में कम्पनी के डायरेक्टरों को लिखते हैं—

इस विवेचन की कदाचित ही आवश्यकता हो कि, जिस राष्ट्र के वार्षिक तलपट में उसकी कुल आय की ⅓ से अधिक रकम उसके नाम लिखी जाती हो—प्रतिवर्ष जिस पर इतना कर्ज लादा जाता हो—वह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, उसके समृद्ध बने रहने की बात तो दूर रही, वह अधिक समय तक अपना अस्तित्व तक कायम न रख सकेगा। इसके सिवा राष्ट्र की सम्पत्ति का ह्रास करने वाले और भी कितने ही ऐसे कारण हैं, जिन्हें अगर जल्दी ही दूर नहीं किया गया तो राष्ट्र जल्दी ही दम तोड़ने लगेगा। मैंने देखा

१. दत्त, भाग १, Introduction पृष्ठ १६

है कि पहले राजाओं के विलासितापूर्ण खर्चीले रहन-सहन, और राज्य की आय में से भिन्न-भिन्न कुटुम्बों को बड़ी-बड़ी देनगी दी जाने के कारण देश का पैसा देश में ही बना रहता था; लेकिन अब वसूल की गई सारी-की-सारी मालगुजारी या भूमि-कर अपनी तिजोरी में आ पड़ता है। इसमें से कुछ आवश्यक खर्च अथवा कम्पनी के व्यवहार के लिए होने वाली देन-लेन के सिवा और कोई रकम यहां वापस नहीं आती।"[१]

सन् १८३० के लगभग सर जॉन शोर बंगाल के गवर्नर थे। उन्होंने हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है। उसमें वह कहते हैं—

"अपने खुद के लाभ के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय से भारत को अपने आश्रित कर लेना ही अंग्रेज राजनीति का मुख्य उद्देश्य है। उसपर अधिकाधिक कर लाद दिया गया है, और एक के बाद एक जो-जो प्रान्त हमें मिलता जाता है, वह अधिकाधिक धन ऐंठने का एक क्षेत्र ही बन जाता है।... हिन्दुस्तान की समृद्धि के दिन बीत गये। एक समय उसके पास जो सम्पत्ति थी वह समुद्र पार बह गई। थोड़े लोगों के लाभ के लिए लाखों के हितों की हत्या करने की कुटिल राज्य-पद्धति के कारण हिन्दुस्तान की शक्ति का विकास होना रुक गया है।"[२]

मि० माण्टगामेरी मार्टिन[३] नामक सज्जन सन् १८३८ में अपनी पुस्तक में हिन्दुस्तान की लूट के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"ब्रिटिश हिन्दुस्तान से प्रतिवर्ष ३०,००,००० पौण्ड की जो रकम जाती है, उसका अगर भारतीय दर के अनुसार प्रतिवर्ष बारह सैकड़ा चक्रवृद्धि ब्याज से हिसाब लगाया जाय तो वह ७२,३६,६७,९१७ पौण्ड अथवा हलके दूर से हिसाब किये जाने पर २०,००,००० पौण्ड के हिसाब से ५० वर्ष में ८,४०,००,०००,००० पौण्ड (१,२६,००,००,००,०००) रु०

१. दत्त, भाग २ पृष्ठ ३०

२. दत्त, भाग १ पृष्ठ ४११-१२

३. उन्होंने खुद अपने खर्च से दस वर्ष तक ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों में प्रवास करके उनके सम्बन्ध में सप्रमाण जानकारी और

होता है। ऐसे सतत और संगठित प्रवाह का परिणाम इंग्लैण्ड तक को दरिद्री बनाये बिना न रहेगा। फिर जिस राष्ट्र में मजदूरों की दैनिक मजदूरी दो से तीन पेंस तक है उस हिन्दुस्तान पर इसका कितना घातक परिणाम हुआ होगा ?"[१]

यह तो हुआ १८३८ तक का हिसाब। इसके बाद सन् १९०१ में श्रीदादाभाई नोरोजी ने हिसाब लगाकर यह सिद्ध किया था कि प्रति वर्ष ३,००,००,००० पौण्ड (४५,००,००,००० रु०) विलायत को जाते हैं। १९०१ और १९४६ की स्थिति में काफी अन्तर पड़ गया है। आजतक हिन्दुस्तान कर्जदार था वह गत ५ वर्षों में साहूकार राष्ट्र बन गया है। हिन्दुस्तान से प्रतिवर्ष कितनी भारी रक़म विलायत को गई और युद्ध सहायता के नाम पर गत सात सालों में कितनी असंख्य धनराशि विलायत को चली गई होगी, यह विषय अङ्कशास्त्रियों का है।

सुप्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ जान ब्राइट इंग्लैण्ड की अतीत स्वार्थ-परायणता पर नजर डालते हुए लिखते हैं—

"अभी (१८५०) तक इंग्लैण्ड ने तरह-तरह की सूक्ष्म और नई-नई अंक आदि संगृहीत करके इसी भारी ग्रन्थ में उपनिवेशों का पूरा इतिहास लिखा है। उपनिवेशों की तरह हिन्दुस्तान में भी रहकर उन्होंने यहां की परिस्थिति का भी अध्ययन किया था। ईस्टइण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों की हिमायत के अनुसार डा० बुकनन ने हिन्दुस्तान के उत्तर और दक्षिण के भागों का दौरा कर जो बहुमूल्य सामग्री एकत्र की थी, उसके प्रकाशित होने के पहले वह इस संसार से विदा हो गये थे। तब उनका यह अधूरा काम पूरा करने की जिम्मेदारी मि० मार्टिन पर डाली गई। मि० मार्टिन ने डा० बुकनन की सब सामग्री को सिलसिलेवार लगाया और उस पर प्रसंगानुसार जगह-जगह पर अपने सम्पादकीय नोट लगाकर उसे ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया है।

१. दादाभाईकृत "Poverty and un-British Rule in India," Introduction, पृष्ठ ७ से।

युक्ति-प्रयुक्तियों से हिन्दुस्तान को लूटकर अपने को मालामाल बनाया है। हिन्दुस्तान के साथ न्याय और सम्मानपूर्वक तरीके से व्यवहार करके इंग्लैण्ड इससे भी कई गुना अधिक सम्पत्तिशाली बन सकता है। मैं चाहता हूं और प्रतिपादन करता हूं कि इंग्लैण्ड अपने में ऐसा सुधार करे। इंग्लैण्ड अगर इस तरह व्यवहार करे तो वह हिन्दुस्तान और स्वयं अपने लिए भी हितकर सिद्ध होगा और उससे मानवजाति के लिए एक श्रेयस्कर उदाहरण पैदा हो जायगा।[१]

इंग्लैण्ड के अर्थशास्त्रज्ञ और इतिहासकार जान स्टुअर्ट मिल (१८०६ से १८७३) अपने 'हिन्दुस्तान का इतिहास' में लिखते हैं—

"अपनी सम्पत्ति के प्रवाह से राष्ट्र (हिन्दुस्तान) के साधन-सामग्री पर बड़े जोरों का बोझ या दबाव पड़ा है, जिससे वह सर्वथा थक गया है। इस तरह होने वाली हानि की पूर्त्ति के लिए और कोई दूसरी योजना अमल में नहीं लाई गई। सम्पत्ति का यह प्रवाह राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों की धमनी में से राष्ट्र-पोषक जीवन-रस का शोषण कर लेता है।"[२]

आज उपरोक्त राजनीतिज्ञ के वर्णन के अनुसार हिन्दुस्तान की प्रत्यक्ष स्थिति हो गई है। इतना ही नहीं आज की स्थिति उससे भी अधिक शोचनीय है। मि० हेनरी सेण्ट जान टक्कर ने इंग्लैण्ड का व्यापारिक उद्देश्य बताते हुए जो इच्छा प्रदर्शित की थी, उसके अनुसार हिन्दुस्तान अब 'कारखानेदार राष्ट्र' के दर्जे से च्युत होकर इंग्लैण्ड को केवल कच्चा माल जुटाने वाला 'किसान-राष्ट्र' रह गया है। वह किस तरह, सो आगे देखिये।

सन् १९४१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार हिन्दुस्तान की जन-संख्या ३८,८९,००,००० है। इस जन-संख्या का, विभिन्न धन्धों के लिहाज से वर्गीकरण तथा संसार के दूसरे राष्ट्रों के साथ तुलना करने पर उसका क्या दर्जा

१. दादाभाई कृत "Poverty and un-British Rule in India" पृष्ठ ६२०।

२. दादाभाई कृत "Poverty and un-British Rule in India" Introduction पृष्ठ ८ से।

ठहरता है वह नीचे के अंकों से स्पष्ट दिखाई देगा—

नाम	वर्ष	खेती	उद्योग-धन्धे व्यापार	सम्माननीय धन्धे	घरू नौकरी	दूसरे धंधे	सेना
हिन्दुस्तान		६५-६०	१५-९१	१-६१	७-५१	५-२७	
इंग्लैण्ड		७	६८	१०	१२	२	१
फ्रांस		३८	५०	६	४		२
जर्मनी	१९२५	३१	५८	६	४½		½
इटली	१९२१	५६	३५	४½	२½		२
रूस	१९२६	८७	९	२	२		०
अमेरिका	१९३०	२२	५१	८	१०	८	½

(नोट—अंक जनता का प्रतिशत परिमाण दिखाते हैं)[1]

खेती और उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में आय की दृष्टि से दूसरे राष्ट्रों से हिन्दुस्तान की तुलना करने पर उसका कौनसा स्थान है, यह नीचे के अंकों से दिखाई देगा।

प्रत्यक्ष काम करने वाले लोगों की प्रति व्यक्ति आय—

देश का नाम	खेती से	उद्योग-धन्धों से
हिन्दुस्तान	५९) रु०	१२) रु०
जापान	५७) ,,	१५८) ,,
स्वीडन	१२३) ,,	३८४) ,,
ग्रेटब्रिटेन	६२) ,,	४१२) ,,
कनाडा	७१३) ,,	४००) ,,
युनाइटेड स्टेट्स, अमेरिका	१७५) ,,	७२१) ,,

अर्थ शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि जो राष्ट्र उद्योग-धन्धों से अधिक आमदनी पैदा करते हैं अथवा जिस राष्ट्र के बहुसंख्यक लोग उद्योग-धन्दों में संलग्न रहते हैं वे अधिक सम्पन्न और जो राष्ट्र अधिकांश में कच्चा माल तैयार करते हैं वे आर्थिक दृष्टि से दरिद्र होते हैं।

१. छ० न० जोशी कृत "आपणा आर्थिक प्रश्नो"

हिन्दुस्तान किस प्रकार कृषि-प्रधान राष्ट्र है, यह उपरोक्त कोष्टक से स्पष्ट दिखाई दे जाता है। सन् १९४१ में हिन्दुस्तान में खेती के काम में आनेवाली कुल जमीन २७ करोड़ ८० लाख एकड़ थी और गांवों में रहने वाले लोगों की संख्या ३३,९२,००,००० थी। इस हिसाब से प्रति व्यक्ति ¾ अर्थात् पौन एकड़ से भी कम जमीन का औसत पड़ता था। यह तादाद बहुत ही कम है। अमेरिका में प्रति व्यक्ति ५.१ एकड़ और आस्ट्रेलिया में प्रति व्यक्ति ३ एकड़ का औसत है।

हिन्दुस्तान में अब बिना खेती की जमीन बहुत कम रह गई है। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने हिसाब लगाकर बताया है कि अगर इस जमीन को भी खेती की जमीन के साथ मिला लिया जाय तो प्रति व्यक्ति के औसत में अधिक-से-अधिक आधा एकड़ की वृद्धि और होगी।[1]

सरकार को जनसंख्या अर्थात् आबादी के लिहाज से खेती की जमीन के इस अत्यल्प परिमाण को ध्यान मे रखकर सिंचाई की अर्थात् बन्द अथवा नहर की ही सुविधा करनी चाहिए थी; लेकिन उसकी ओर से ऐसी कोई सुविधा की गई हो, यह दिखाई नहीं देता।

सन् १९४१ में हिन्दुस्तान में कुल २९ करोड़ ८० लाख एकड़ जमीन जोती गई। उसमें से करीब ५ करोड़ ४६ लाख एकड़ भूमि के लिए ही सिंचाई की सुविधा थी। इसमें भी सरकारी बन्द या नहर की सुविधा तो करीब २॥ करोड़ एकड़ के लिए ही थी, बाकी करीब ३ करोड़ एकड़ भूमि का काम प्राइवेट नहर और निजी तालाब तथा कुओं से चलता था।

कुल जोती गई जमीन में से पानी की सुविधा वाली जमीन का परिमाण सिर्फ ३० फीसदी है। इनसे यह सहज ही दिखाई पड़ता है कि सर्वत्र बन्द आदि के द्वारा सिंचाई की सुविधा करना किस प्रकार आवश्यक है।

सरकारी बन्द केवल ९ फीसदी हैं उनमें के बहुत-से हिन्दू और मुसलमान राजाओं के समय के हैं। उनमें कई जगह मरम्मत की जरूरत है;

१. डा० राजेन्द्रप्रसाद कृत "Economics of Khadi" पृष्ठ ३-४

लेकिन सरकार से वह भी अभीतक नहीं की जाती।[1]

देश के बहुसंख्य लोगों के किसान बन जाने के कारण खेती के काम में आनेवाली जमीन का परिमाण बढ़ गया। इस परिमाण के बढ़ जाने के कारण खराब जमीन का भी सहारा लिया जाने लगा। उसमें फसल खराब और कम पैदा होने लगी।[2] इसके सिवा जमीन की उत्पादक-शक्ति भी कम हो गई।[3] इस तरह खेती से होनेवाली किफाहत भी नष्ट होने लगी!

किसानों को उपज का आधा लगान देना पड़ता है। इसके सिवा कुछ अतिरिक्त कर भी देना पड़ता है। इस अतिरिक्त कर का कुछ भी परिमाण नहीं रहता है। सरकार की इच्छानुसार वह अमर्यादित रूप में बढ़ा दिया जाता है। देश में खेती के लगान की पद्धति की अनिश्चित, और लगान के दिन-प्रतिदिन लगातार बढ़ते ही जाने के कारण रष्ट्र का खेती का धन्धा भी डूब गया। संसार के किसी भी राष्ट्र को हिन्दुस्तान की-सी स्थिति में रक्खा जाय तो उसकी भी वही गति हुए बिना रह नहीं सकती। भारत के किसान थोड़े में ही गुजारा चलानेवाले, उद्योगी और शांतिप्रिय होते हुए भी उपरोक्त कारणों से दरिद्री और साधनरहित होगये हैं और इसलिए हमेशा ही अकाल और भुखमरी के शिकार होते रहते हैं।[4]

सर्वथा खेती पर अवलम्बित रहने के कारण राष्ट्र केवल अकाल अथवा भुखमरी का ही शिकार नहीं होता; बल्कि साथ ही उसकी बौद्धिक और मानसिक हानि भी कितनी होती है, यह बात सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ फेडरिक लिस्ट के निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट होगी—

१. होमरूल लीग की ओर से प्रकाशित गुजराती पुस्तक 'किसानों के दुःख' पृष्ठ १२–१४.

२. Director of Agriculture for Bombay. डा० बालकृष्ण कृत 'Industrial Decline in India' पृष्ठ १०८ से।

३. ना० गोखले, डा० बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" पृष्ठ १० से

४. दत्त भाग २, भूमिका पृष्ठ ८

"सर्वथा कच्चे माल की खेती करनेवाले राष्ट्र में मानसिक दुर्बलता, शारीरिक वक्रत ग्रौर पुराने ग्राचार-विचार तथा रीति-रिवाज, इन तीनों को दृढ़ पकड़ रखनेवाली हठवादिता ग्रादि दुर्गुण पैदा हो जाते हैं ग्रौर वह ग्रपनी संस्कृति, वैभव ग्रौर स्वतंत्रता से हाथ धो बैठता है। इसके विपरीत व्यापार ग्रौर उद्योग-धन्धों में संलग्न राष्ट्र बौद्धिक ग्रौर शारीरिक विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। ग्रौर साथ ही उनमें सांत्विक स्वाभिमान पैदा होकर वे स्वतन्त्रता-प्रिय बन जाते हैं।"[१]

श्री हरिगणेश फाटक ग्रपनी 'स्वदेशी की मीमांसा' नामक पुस्तक में भारतीय किसानों की वास्तविक स्थिति का चित्र खींचते हुए लिखते हैं—

"गांव का पटवारी, तलाटी, पुलिस का सिपाही, सर्कल इन्स्पेक्टर, रेंजर, सबरजिस्ट्रार, फौजदार, तहसीलदार, ग्राबकारी-ठेकेदार, ग्राम-पंचायत का ग्रधिकारी, परगना व जिला बोर्ड के सदस्य, स्कूल-मास्टर, काजीहौस जमादार, गांव का मुखिया, साहूकार ग्रौर मारवाड़ी व्यापारी छोटे-बड़े सभी उसके—किसान के—मालिक बन जाते हैं। हरेक की बरदाश्त करते-करते उसका नाक में दम ग्रा जाता है। ग्रगर बैल भूल से रक्षित जंगल में चला गया तो किसान पर जुर्माना! कोई लड़का-बच्चा जंगल से लकड़ी-चारा उठा लाया कि जुर्माना! पटैल की फर्मायश पूरी नहीं की गई; इसलिए भुगत सजा! पुलिस को सन्तुष्ट नहीं कर सका; इसलिए खा लात-घूंसे! फौजदार बेगार में गाड़ी-बैल ले गया तो रो बैठकर! दस्तावेज लिखानी हो तो ला दक्षिणा! कोई संस्कार कराना हो तो पकड़ पैर ब्राह्मण के! कोई कर भरना हो तो जोड़ सरकार के हाथ! लोकल फण्ड देना हो तो गिड़-गिड़ाते फिरो ग्रफसरों के पास! दरख्वास्त लिखानी हो तो लाग्रो पैसे!

"इस प्रकार बेचारे किसान की जियो या मरो की-सी स्थिति हो गई है; तिस पर ग्रगर वर्षा नहीं हुई तो उसकी मुसीबतों का कोई ग्रन्त नहीं।

"ग्रकाल पड़ने पर सरकार की तरफ से लगान की माफी मिलना

१. डा० बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" पृष्ठ २४-२५ से।

कठिन होता है; घर का गहना-गांठ अथवा बैल-बकरा बेचे बिना गति नहीं होती। घर में खाने को दाना नहीं। अकाल में मजदूरी के लिए बाहर जाना मरणान्तक दुःख के समान होता है, उस समय किसी तरह साहस कर घर से बाहर निकले भी तो सुकाल में जंगली सूअर, सियार, चोर आदि का कष्ट। इन सबके परिणाम में अगर किसान दुःख से 'भगवान्, न तो मुझे आपकी यह खेती चाहिए, न ये सब मुसीबतें ये उद्गार निकाल कर गांव छोड़ जांय तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

"महाराष्ट्र में लोग खेती छोड़-छोड़कर भागने लगे हैं। जहां ५०-५७ घर होने चाहिये थे, अच्छी पशुशाला व पुष्ट बैल होने चाहिए थे, अनाज की कोठियां भरी हुई, तिल्लेदार पगड़ी सिर पर सुशोभित दिखाई देनी चाहिए थी, वहां टूटे-फूटे मकान, दुबले-पतले पशु, नरकंकाल जैसे बच्चे, मिट्टी के हांडी-बर्तन, सिरपर फटी-टूटी पगड़ी की चिंधिया, ऐसा हृदय-द्रावक दृश्य दिखाई देता है।[1]

यहां तक हमने देखा कि देश के व्यापार और उद्योग-धन्धों की किस तरह बरबादी हुई। देश के किसानों की कैसी शोचनीय स्थिति है। यह बात भी हमारे ध्यान में आई। उसी तरह विभिन्न मार्गों से किस प्रकार देश की आर्थिक लूट चल रही है। इसकी भी कुछ कल्पना हुई।

राष्ट्र के सम्पत्तिशास्त्र का यह एक नियम है कि साधारण जनता के पास से कर के रूप में जो द्रव्य वसूल किया जाता है, वह उसी राष्ट्र में जनता के हितमें खर्च किया जाय तभी राष्ट्र के पास पैसा रहता है। और तभी उसका व्यापार, उद्योग-धन्धे और कृषि सब फूलते-फलते हैं। इसका कारण यही है कि उस दशा में देश का पैसा किसी-न-किसी रूप में घूम फिर कर जनता को वापस मिल जाता है। लेकिन जब कर के रूप में वसूल किया हुआ द्रव्य एक देश से दूसरे देश को भेज दिया जाता है, तब उससे हमेशा के लिए हाथ धो लेना पड़ता है और इसलिए व्यापार, उद्योग-धन्धे और खेत को उत्तेजन मिल नहीं पाता।

१. श्री हरिगणेश फाटक कृत 'स्वदेशी की मीमांसा' पृष्ठ ८२

भारतीय राष्ट्र की सम्पत्ति के तीनों ही स्रोतों—व्यापार, उद्योग-धन्धे और खेती—के इस प्रकार सूख जाने और लगभग एक शताब्दी से उसका इसप्रकार निरन्तर द्रव्य-शोषण होते रहने पर भी अगर वह दरिद्री नहीं होता तो ही आश्चर्य की बात होती ![1]

हिन्दुस्तान की दरिद्रता की ऊपर जो मीमांसा की गई है, वैसी ही मीमांसा सन् १९०४ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अध्यक्ष सर हेनरी काटन ने की थी। उन्होंने लिखा है—

"जांच के बाद मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वैसे तो हिन्दुस्तान की बढ़ती हुई दरिद्रता के अनेक कारण हे, लेकिन मुख्य कारण उसके घरेलू उद्योग-धन्धों का नाश और देश के माल की जगह विदेशी माल की प्रभुता है। खेती की बढ़ती भी एक सबल कारण है। देश की मुख्य फसल के लिए खेती की जमीन बढ़ाने के लिए शक्ति-भर प्रयत्न किया जाता है और यह दिखाने की कोशिश की जाती है कि देश के कच्चे माल की निकासी में होनेवाली वृद्धि राष्ट्र की बढ़ती हुई समृद्धि का लक्षण है। लेकिन सच बात यह है कि वह राष्ट्र की समृद्धि का लक्षण न होकर उलटे उसकी अधोगति का ही सूचक है।"[2]

अब हम हिन्दुस्तान की दरिद्रता कितनी है, इस पर नजर डालें। अनेक अर्थशास्त्रियों और अंक-विशारदोंने हिन्दुस्तान की दरिद्रताके सम्बन्ध में जुदा-जुदा अनुमान निकाले हैं। व्यक्ति अथवा राष्ट्र की साम्पत्तिक स्थिति सदा एकसी नहीं रहती। इसलिए भिन्न-भिन्न समयों में निकाले गये सब अनुमानों का भी एकसा होना सम्भव नहीं है।

हिन्दुस्तान की औसत वार्षिक आय का ठीक-ठीक अनुमान निकालना बड़ा कठिन काम है; क्योंकि इसके लिए हिसाब में कौन-कौन से विषय लेने चाहिए, इस सम्बन्ध में कभी एकमत नहीं हो सका। इसके सिवा

१. दत्त, भाग २, भूमिका पृष्ठ ८–९

२. डा० बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" पृ० १६६ से

जुदा-जुदा वर्षों में जो अनुमान निकाले गये हैं, उनका तुलनात्मक अध्ययन करते समय उन वर्षों के वस्तुओं के भावों को ध्यान में रखकर वे निकाले गये होंगे। इतनी प्रास्ताविक सूचना के बाद, इस सम्बन्ध में अभी तक जो प्रयत्न किये गये हैं वे क्रमश: नीचे दिये जाते है–

क्रम संख्या	औसत निकालने वाले	औसत का वर्ष	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय
१	दादा भाई नौरोजी	१८७०	२०—०—०
२	बेअरिंग बार्बूर	१८८२	२७—०—०
३	अटकिन्सन	१८७५	२५—०—०
		१८९५	३४—०—०
४	डिग्बी	१८९८-९९	१८—९—०
५	लार्ड कर्जन	१९००	१०—४—०
६	डिग्बी	१९००	१७—४—०
७	वाडिया और जोशी	१९१३-१४	४४—५—६
८	विश्वेश्वरैय्या	१९१९	४५—०—०
९	शाह और खंबाटा	१९२१-२२	६७—०—६
१०	काले	१९२१	४०—०—०
			४८—०—०
११	फिंडले शिरास	१९२१	१०७—०—०
		१९२२	११६—०—०
१२	,,	१९२३	११७—०—०
१३	,,	१९२४	१२६—०—०
१४	,,	१९२५	११४—०—०
१५	,,	१९२६	१०८—०—०
१६	,,	१९२७	१०८—०—०
१७	,,	१९२८	१०६—०—०
१८	,,	१९२९	१०९—०—०

१९	,,	१९३०	८४—०—०
२०	,,	१९३१	६६—०—०
२१	,,	१९३२	५८—०—०

प्रो० घोष ने १७२५ में प्रत्येक व्यक्ति की औसत वार्षिक आय रु० ४६—६—० निकाली थी। बाद में सर विश्वेश्वरैय्या ने अपनी पुस्तक "Planned Economy for India" में कहा है कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक व्यक्ति की औसत वार्षिक आय ८२) रु० माननी चाहिए। अवश्य ही यह अंक जिस वर्ष फसल अच्छी हुई होगी, उस वर्ष का समझना चाहिए।

इस आय से विदेशी राष्ट्रों की प्रति व्यक्ति औसत आय से तुलना करने पर यह मालूम होगा कि इस दृष्टि से संसार में हिन्दुस्तान का कौनसा स्थान है।

क्रम संख्या	देश का नाम	सन्	वार्षिक आय
१	ब्रिटिश हिन्दुस्तान	१९३१	६७॥)
२	इंग्लेंड	१९३१	१८२६)
३	आस्ट्रेलिया	१९२४	११२३)
४	अमेरिका (युनाइटेड स्टेट्स)	१९३२	१२०१॥)
५	फ्रांस	१३२८	५५३॥)
६	चेकोस्लोवाकिया	१९२५	४७२॥)
७	डेन्मार्क	१९२७	७४२॥)

फिडले शिरास के नियत किये हुए ५८) रु० और ऊपर उल्लिखित ६७॥) में अन्तर है। जुदा-जुदा अर्थशास्त्रियों ने जुदा-जुदा पद्धतियों से यह औसत निकाला है, इसलिए उनमें ऐसा अन्तर होना स्वाभाविक है। फिर भी इससे वार्षिक आय का औसत किसी दो अंकों के बीच है, यह सहज ही दिखाई देता है।

सन् १९३८ में एक पौंड की कीमत १३॥) थी। उसी हिसाब से उक्त अंक दिये गये हैं। आज उसमें कुछ अन्तर पड़ेगा।

अब हम यह देखेंगे कि आय के अनुपात से कर का परिमाण क्या है।

क्रम संख्या	कर का विषय	समर्थ लोगों पर पड़नवाले कर का बोझ (करोड़ रु०)	गरीबों पर पड़न वाले कर का बोझ (करोड़ रु०)
१	जकात	२०	२१
२	भूमिकर और जलकर	२०½	२१½
३	आयकर	२०	०
४	आबकारी	०	२०
५	नमक	१¼	७½
६	जंगल और चरागाह	२	५
७	स्टाम्प	६½	६½
८	रेल्वे	३३	६०
९	पोस्ट आफिस	५	५½
१०	म्युनिसिपल कर	३	१०
११	जिला लोकल बोर्ड	०	१०
		१११¼ करोड़ रु०	१६७ करोड़ रु०

इन अंकों पर प्रो० शाह इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि आर्थिक दृष्टि से दुर्बल और कम समर्थ लोगों पर ही हिन्दुस्तान के करों का अधिकाधिक बोझ पड़ता है। स्थूल दृष्टि से इस बोझ का औसत धनवान लोगों पर १०० करोड़ और गरीबों पर १५० करोड़ रुपये हैं। हिन्दुस्तान की जन-संख्या के ५२ फीसदी से भी कम लोग कुल ६०० करोड़ रुपये की सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। इसमें से औसत वार्षिक १०००) रु० की आय वाले कुटुम्बों से वसूल होने वाले करों से १०० करोड़ रु० वसूल होते हैं। बाकी की जन-संख्या के ९६ फीसदी लोग कुल १००० से १२०० करोड़ रुपयों का सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। इन पर पड़ने वाले करों का बोझ १५० कराड़ रुपये होता है।

करों का यह विभाजन न्याय अथवा आर्थिक दृष्टि से उचित है, ऐसा

शायद ही कहा जा सके ।[1]

हिन्दुस्तान में प्रति व्यक्ति करों का क्या औसत पड़ता है यह फिर नीचे के अंकों से दिखाई देगा—

वर्ष	कर का औसत रु० आ० पाई०
१९२२-२३	५ – ४—५
१९२५-२६	५—६—७
१९२७-२८	५—५—०
१९३२-३३	५—०—६[2]

प्रो० जथार और बेरी का मत है कि वर्तमान मन्दी के जमाने में प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय ५५ रु० मानना चाहिए । इस हिसाब से प्रति व्यक्ति ५) रु० कर का मतलब हुआ उसकी आय का ग्यारहवां भाग ! कितना जबर्दस्त कर है यह !

ऐसे इस ग़रीब देश में गवर्नर-जनरल आदि बड़े-बड़े अधिकारियों की तनख्वाह क्या है, वह देखिए—

अधिकारी	मासिक वेतन
गवर्नर जनरल	२१,३३३-५-८
प्रान्तीय-गवर्नर	१०,६६६-१०-८
गवर्नर-जनरल की कार्य-कारिणी का सदस्य	७,३३३-५-४
प्रान्तीय गवर्नर की ,, ,,	५,३३३-५-४

संसार के किसी भी राष्ट्र के, फिर चाहे वह कितना ही उन्नत और समृद्ध क्यों न हों, बड़े-से-बड़े अधिकारी को इतना वेतन नहीं दिया जाता । इंग्लैण्ड में रहनेवाले गवर्नर-जनरल के अधिकारी भारत-सचिव की तनख्वाह ६२५०) रु० है ।

१. प्रो० जथार और बेरी कृत "Indian Economics" (१९३७) भाग २, पृ० ५६५

२. प्रो० जथार और बेरी कृत "Indian Economics" (१९३७) भाग २, पृ० ५६२

हिन्दुस्तान संसार का गरीब-से-गरीब राष्ट्र है; लेकिन उसके अधिकारी का वेतन संसार के समृद्ध-से-समृद्ध राष्ट्र के अधिकारी के वेतन से भी अधिक ! कैसी असंगत बात है यह ! ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान दरिद्री न बनता तो ही आश्चर्य होता।

इस दरिद्रता का परिणाम जनता को किस प्रकार भुगतना पड़ता है, इस सम्बन्ध में अनेक प्रभावशाली अंग्रेज सज्जनों ने जो मत व्यक्त किये हैं, उनसे परिस्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक सर विलियम हण्टर सन् १८८० में लिखते हैं—

"चार करोड़ हिन्दुस्तानी अपर्याप्त भोजन पर अपने दिन काटते हैं।"[१]

इसी प्रकार सर चार्ल्स इलियट का अनुमान है कि "किसान वर्ग में से आधे किसानों की भूख वर्ष के आरम्भ से लेकर अन्त तक कभी भी पेट भर भोजन करके शांत नहीं हुई।[१]

सन् १८९१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में लिखा है—"यह निश्चित प्रतीत होता है कि करीब-करीब ७ करोड़ लोग यह तक नहीं जानते कि दोनों बार पेट-भर भोजन किसे कहते हैं। समृद्धिकाल में ही वे केवल इस आनन्द का उपभाग कर सकते हैं।[२] दोनों बार पेट भर भोजन को आनन्द कहना यह केवल भारतीय जनता के ही भाग्य में बदा है ?

सन् १८९३ में मि० ग्रियर्सन सी० आई० ई० ने अपनी पुस्तक 'गया जिले के नोट्स' में जो कुछ लिखा है, उस पर से "पायोनियर" पत्र ने निम्नलिखित सार निकाला है—

"मजदूर वर्ग में के सब लोग और किसान तथा कारीगरों में के दस फीसदी अथवा कुल जनसंख्या के ४५ फीसदी लोगों को पूरा अन्न अथवा वस्त्र दोनों ही चीजें नहीं मिलतीं, अगर यह मान लिया जाय कि गया की परिस्थिति अपवादात्मक नहीं है, तो हिन्दुस्तान के करीब १० करोड़ लोग

१. बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" पृष्ठ १६४ से
२. बालकृष्ण "Industrial Decline in India" पृष्ठ १६६

अठारह बिस्वे दरिद्रता में ही अपने दिन काटते हैं।[1]

'पायोनियर' जैसे भारत-विरोधी एंग्लो-इण्डियन पत्र ने जो यह सार निकाला है, वह विश्वसनीय ही समझना होगा।

ब्रिटिश मजदूर दल के सुप्रसिद्ध नेता (अब स्व०) मि० रेमजे मेकडानल्ड अपनी "हिन्दुस्तान की जाग्रति" नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"इसे लेकर ५ करोड़ तक कुटुम्ब (जिसका मतलब हुआ १५ से लेकर २५ करोड़ तक मनुष्य) साढ़े तीन आने की आय पर अपना गुजारा करते हैं। ... ...हिन्दुस्तान की दरिद्रता केवल कल्पना नहीं प्रत्यक्ष वस्तु स्थिति है। सर्वथा सम्पन्न काल तक में कर्जरूपी चक्की का अच्छा-खासा मोटा पाट किसान के गले में लटका रहता है।"[2]

उन्होंने अपनी पुस्तक में इससे भी अधिक भयंकर वस्तु स्थिति का चित्र खींचा है। वह लिखते हैं—

"देहात में घूमने पर ऐसे शरीर दिखाई पड़ते हैं जो दिन-रात के परिश्रम से चकनाचूर होगये हैं और जो भूखे पेट मन्दिर में खिन्न बदन होकर परमेश्वर की उपासना करते हैं!" बेचारे धर्म-भीरु लोग! भगवान् का नहीं तो किसका आश्रय लेंगे?

मि० आर्यविन अपनी "Garden of India" नामक पुस्तक में मजदूरों की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"अनाज में से कंकर की तरह निकाले हुए अधनंगे-भूखे लोग गांव-गांव में सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। उनके पास मवेशी या ढोर-डंगर न होने के कारण आजीविका का कोई साधन नहीं है। कुदाली से खोदी हुई थोड़ी-सी जमीन के सिवा उनकी जीविका का और कोई साधन नहीं है। उन्हें २ सेर के भाव का बिल्कुल हलका अनाज अथवा डेढ़ या दो आने रोज की

१. डा० बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" पृष्ठ २६३-६४ से

२. डा० बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" पृष्ठ १६४।

दैनिक मजदूरी मिलती है और यह नगण्य मजदूरी भी पूरे वर्ष-भर नहीं मिलती ! क्षुधा-पीड़ित और बहुधा वस्त्र-विहीन स्थिति में ये लोग सर्दी के दिनों में चोरों और पशुओं से अपनी खेती की रक्षा करके किस तरह जी सकते हैं, यह एक सतत आश्चर्य ही है ![1]

अब दरिद्रता के परिणाम पर नजर डालिए ।

कोई हिन्दुस्तानी एक बार दरिद्रता के चंगुल में फंसा नहीं कि उसपर एक के बाद एक आपत्ति की शृंखला ही शुरू हो जाती है । दीनबन्धु एण्डरूज ने इस शृंखला का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है । उनके इस विवेचन से उनकी निरीक्षण शक्ति कितनी सूक्ष्म है इसकी सहज ही कल्पना होती है । वह कहते हैं—"जब खाद्य पदार्थों की अन्तिम सीमा आ पहुंचती है तब दरिद्री मनुष्य का जीवन उसके भी नीचे चला जाता है और वह ऐसे भंवर के चक्कर में जा फंसता है कि उससे उसका छुटकारा होना कठिन हो जाता है । दरिद्री मनुष्य का दुःखमय जीवन ही उसे नीचे गिरने पर मजबूर करता है । वह मानों दुःख के समुद्र में ही डूब जाता है । आये दिनकी कर्जदारी[3] और अपने बाल-बच्चों की चिन्ता में वह दब जाता है । बार-बार उसे बेकारी का मुकाबिला करना पड़ता है अथवा पसीना-पसीना कर देने वाली कड़ी मजदूरी—गुलामी से भी ऐसी मजदूरी कम कष्टदायी नहीं होती—करनी पड़ती है । प्रत्येक मजदूर यह जानता है कि वह कब बीमार पड़ जायगा, इसका कोई नियम नहीं । बीमारियों के कारण उसका जीवन इतना दारिद्र्यमय हो जाता है कि उसे जो मजदूरी मिलती है वह किसी तरह पूरी नहीं पड़ती । यहां जाकर वह घातक भंवर रुकता है![2]

देश का सार्वजनिक स्वास्थ्य हलके दर्जे का और मृत्यु-संख्या बढ़ाने

१. डा० बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" पृष्ठ २२८ से

२. 'यंग इंडिया'—२० जुलाई १९२८

३. 'भारतीय किसान पर १६०० करोड़ रुपया कर्ज होने का अन्दाज है, हमारा आर्थिक प्रश्न, पृष्ठ १९०

वाला हो तो देश की दरिद्रता का सूचक होता है।[1] अमेरिकन डा० बाइड एम० डी० का मत है कि संक्रामक अर्थात् छूत से फैलने वाले रोगों के प्रतिकार की शक्ति देश-निवासियों के आर्थिक दर्जे पर अवलम्बित है। जिस क्षेत्रफल के बहुसंख्यक लोग अत्यन्त दरिद्री होते हैं, वहां रोग का प्रादुर्भाव बारम्बार होता रहता है। जिस भाग की आर्थिक स्थिति उन्नत होती है अथवा सुधर जाती है वहां रोगों का प्रादुर्भाव कम होता है। इसका कारण यही है कि वहां के निवासियों का भोजन अच्छा पुष्टिकारक होता है और वहां रोगों के प्रतिकार की अधिक सुविधा होती है।"[2]

डा०बाइड का यह मत सर्वथा ठीक है। भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न अवधि में लाखों हिन्दुस्तानी किस तरह मृत्यु के मुंह में गये यह देखिए[3]—

अवधि	कारण	संख्या
१८७१ से १९२१ (५० वर्ष)	अकाल	२८८ लाख
१८९६ से १९२१ (२५ वर्ष)	प्लेग	१०० लाख
१९०१ से १९२१ (२० वर्ष)	शीतज्वर	१८३ ,,
१९१८ से १९१९ (९ महीने)	इन्फ्ल्युएंजा	१३३ ,,

अब हिंदुस्तान और दूसरे देशों की आयु का औसत तथा वहां के मनुष्यों और बालमृत्युओं का औसत देखिए—

राष्ट्र का नाम	औसत-आयु	मनुष्यों का औसत फी हजार	शिशुओं का औसत फी हजार	जनमते ही मरने वाले शिशुओं का औसत फी सदी
हिंदुस्तान	२२·९५	३०·२	१६४	१९·४
इंग्लैण्ड	५३.४२	११.७	७५	७.५

१. रिचार्ड बी० ग्रेग कृत "Economics of Khaddar" पृष्ठ १५३

२. "Young India" —२५ अक्तूबर १९२८

३. प्रो० सी० एन० वकील "Yonng India" २६ जुलाई १९२८

फ्रांस	४७·४३	११·५	८५	८·५
जर्मनी	४९·४	१३·२	१०८	१०·८[1]

उपरोक्त सारे विवेचन से पाठकों को इस बात की स्पष्ट कल्पना हो जायगी कि हिन्दुस्तान की हद दर्जे की दरिद्रता का देश पर कितना भयंकर परिणाम हो रहा है ।

१. प्रो० जथार और बेरी कृत "Indian Economics" भाग १ (१९३७) पृष्ठ ५८.

: ५ :

हिन्दुस्तान के अकाल

हिन्दुस्तान दरिद्रता की तरह अकाल का भी घर बन गया है। सन् १७५७ के पलासी के युद्ध से लेकर १९०० तक ३५ अकाल पड़े, जिनमें ५ करोड़ लोग उनकी बलि चढ़े।[1] डा० अज़ारिया के मतानुसार यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि सन् १८०० से १८२५ तक २ अकाल, सन् १८२५ से १८५० तक २, सन् १८५० से १८७५ तक ६, और १८७५ से १९०० तक १८, इस प्रकार सौ वर्षों में कुल २८ और इससे पहले सन् १८५७ से १८०० तक के ४३ वर्षों में ३ अकाल पड़े। सन् १८५१ से १९०० तक के ५० वर्षों में पड़े २४ अकालों के सम्बन्ध में डा० अजारिया कहते हैं—"तीन करोड़ लोग इन अकालों की बलि चढ़े और १५ करोड़ लोग इतने दुर्बल हो गये कि सब तरह के संसर्गजन्य अर्थात् छूत के रोगों के वे सहज ही शिकार हो जाते हैं।"

ये अङ्क मनन करने योग्य हैं। सन् १८०० से १८५० तक ८ और १८५१ से १६०० तक २४ अकालों का पड़ना और उनमें ३ करोड़ लोगों का मृत्यु के मुख में जाना —कितनी शोचनीय और हृदयद्रावक स्थिति है यह! उन्नीसवीं सदी के द्वितीयार्द्ध अर्थात् ५० वर्षों में २४ अकाल पड़े, इसका मतलब यह है कि प्रति दो वर्षों में एक अकाल का औसत हुआ! इसके बाद सन् १६०१ और सन् १६०७ में संयुक्तप्रान्त में, १६१२ में अहमदनगर में १६१८ और १९२० और फिर १९४५ तक हिन्दुस्तान के जुदा-जुदा भागोंमें और अकाल पड़े हैं। बंगाल के अकालकी कहानी जितनी करुणोत्पादक है, उतना ही वह अकाल मनुष्यकृत होने से दिल में खीझ पैदा करने वाला है। इस साल भी यानी १६४६ में भी अकाल पड़ने वाला है, ऐसा जोरों से कहा जा रहाहै।

१. "Forward" के १९२७ के नववर्षांक में श्री ज्ञानाञ्जन नियोगी

आइए, अब इन अकालों के कारणों की मीमांसा करें। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् और अंकविशेषज्ञ श्री ज्ञानाञ्जन नियोगी जोर देकर कहते हैं—"सरकार की तरफ से बार-बार कहा जाता है कि वर्षा का अभाव ही अकाल का कारण है; लेकिन उसका यह कथन जितना पोच है उतना ही असत्य भी है। १५० वर्ष पहले जितनी वर्षा होती थी, अब उससे कम होती है। यह सिद्ध करने के लिए उसके पास कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत हमारे पास ऐसे प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे यह प्रतिपादन किया जा सकता है कि प्रान्त में वर्षा का इतना अधिक अभाव कभी नहीं हुआ जिससे कि वह अपने लिए आवश्यक अन्न पैदा न कर सके। लोगों के पास अनाज ख़रीदने के लिए पैसा न रहना ही उनके मत से अकाल का असली कारण है। वह दावे के साथ कहते हैं कि लोगों की यह भुखमरी रेलें चालू करने से मिटने वाली नहीं है।[1]

हिन्दुस्तान से प्रति वर्ष द्रव्य का जो अधिकाधिक शोषण होता रहता है, श्री रमेशचन्द्र दत्त के मत से, हाल के अकालों का यही प्रमुख कारण है। वह कहते हैं—

"शासन में परिवर्तन होने के बाद—१८५७ में शासनसूत्र ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकलकर महारानी विक्टोरिया के हाथों में आने के बाद—बारह वर्ष के अन्दर ही यह द्रव्यशोषण चौगुना होगया। इस निरन्तर और बढ़ते जाने वाले शोषण को सहन कर हिन्दुस्तान ने उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में बार-बार और व्यापक परिमाण में आने वाले अकालों की भूमिका तैयार कर रखी थी? संसार का कोई भी देश इस निरन्तर द्रव्यशोषण को सहन नहीं कर सकता। स्वभावतः ही उसका आर्थिक परिणाम अकाल होता है।[2]

अमेरिका के सुप्रसिद्ध विद्वान् और वृद्ध लेखक डा० सण्डरलैण्ड ने हिन्दुस्तान के अकाल के सम्बन्ध में नीचे लिखे अनुसार अपना मत व्यक्त किया है—

१. "Forward" सन् १९२७ का नववर्षांक, पृष्ठ ९०

२. दत्त, भाग २, पृष्ठ १३८

"हिन्दुस्तान में जो अकाल पड़ते हैं, उनके कारणों के सम्बन्ध में अगर खुले दिल और पूरी तरह से जांच की जाय तो यही सिद्ध होगा कि जनता की दरिद्रता ही उसका फल और मुख्य कारण है। यह दरिद्रता इतनी तीव्र और भयङ्कर है कि जिस वर्ष खूब अच्छी फसल होती है उस वर्ष तक में लोगों को भूखा रहना पड़ता है। इतना ही नहीं, आड़े वक्त पर काम आने के लिए जो थोड़ा बहुत अनाज संग्रह करके रखना चाहिए, इस दरिद्रता के कारण वह तक नहीं किया जा सकता, और इसलिए जब फसल धोखा दे जाती है, उस समय उसकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। उस हालत में अगर दान-धर्म के किसी फण्ड से उनको कुछ सहायता मिल गई तब तो वे बच जाते हैं, नहीं तो मृत्यु तो अपना मुंह बाये बैठी ही रहती है।"[1]

इस प्रकार पैसे का अभाव—लोगों की हद दर्जे की दरिद्रता—ही अकाल का प्रधान कारण है। अकाल अनाज का नहीं, पैसे का पड़ता है, लोग अगर सामान्यत: सम्पन्न स्थिति में हों—उनके पास काफी पैसा हो—तो पड़ौस के प्रान्त से भी अनाज लाकर अकाल के संकट को टाल सकते हैं! ऐसा करने से कम-से-कम किसी तरह की प्राण-हानि तो नहीं होती। लेकिन जब लोगों के पास कुछ दम नहीं रहता—एक पाई भी पास नहीं रहती, तब वे पड़ौस के प्रदेश से अनाज खरीद नहीं सकते। ऐसी स्थिति में हजारों ही क्या, लाखों को मृत्यु का शिकार होना पड़ता है।

पण्डित मदनमोहन मालवीय कहते हैं—

अनाज का अभाव कोई अकाल का कारण नहीं है। इस देश में काफी अनाज पैदा होता है। अनाज खरीदने के लिए लोगों की जेब में काफी पैसे नहीं होते, अकाल का यही असली कारण है।"[2]

इसीप्रकार का मत श्री मजबूर रहमान ने भी व्यक्त किया है। वह कहते हैं—

"अकाल का कारण अनाज का अभाव नहीं, बल्कि द्रव्य का अभाव ही उसका प्रधान कारण है।"[3]

१. "Forward" सन् १९२७ नव वर्षांक से—पृष्ठ ९१
२. Swadeshi Symposium पृष्ठ १२३
३. " " पृष्ठ २४१

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि क्या पहले अकाल नहीं पड़ते थे ? ठीक है पड़ते थे ;[१] लेकिन यह बात सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि इस तादाद में कभी नहीं पड़ते थे ! पहले के और अब के अकालों की संख्या में कितना अन्तर है ! पहले ४००वर्ष में या बहुत हुआ तो १००वर्ष में एकाध अकाल पड़ता था; लेकिन अब तो एक वर्ष बीता नहीं कि अकाल का दौरा तैयार है ! पहले जमाने में जब अकाल पड़ता था तब उससे पहले वर्ष में फसल की पैदावार अच्छी होती थी और अकाल निवारण के लिए तत्कालीन नरेशों[२] की तरफ से तुरन्त ही उपाय किये जाते थे, इस कारण उसके संकट

१. सन् ६५० और १०३३ में भयंकर अकाल पड़े थे। मुगल-शासन-काल में सिर्फ चार ही अकाल पड़े थे। (श्री रमेशचन्द्र दत्त के "Famines in India" की भूमिका पृष्ठ १९ में वर्णित श्री दादाभाई के उद्गार)

२. मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अकाल प्रतिबन्ध के उपाय के रूप में ये नियम बना रखे थे — (१) सरकारी कोठार में का सिर्फ आधा ही अनाज काम में लाया जाता था (पहले कर अनाज के रूप में ही वसूल होता था) बाकी का आधा अनाज संकट-ग्रस्त लोगों के संकट-निवारण के लिए सुरक्षित रखा जाता था और (२) अकाल के समय अगली फसल बोने के मौके पर जनता को देने के लिए अच्छे बीज का संग्रह रखा जाता था, इसके सिवा, (३) अकाल-पीड़ितों की सहायता के विचार से कुछ नई इमारतें बनाने का काम शुरू करके उन्हें मजदूर के तौर पर उसमें लगाया जाता था, और उपरोक्त कोठार में से उन्हें मुफ्त में अनाज दिया जाता था; (४) धनवान लोगों से अकाल फण्ड वसूल किया जाता था, और मित्र-राष्ट्र की भी शक्ति-भर सहायता ली जाती थी।

इन उपायों से भी अगर अकाल का काम पूरा न हो तो कौटिल्य ने सुझाया है कि (१) राजा को चाहिए कि जहां अच्छी फसल पैदा हुई हो, कुछ समय क लिए अपनी प्रजा को लेकर वहां रहने के लिए चला जाय, (२) किसी तालाब, नदी या समुद्र के किनारे जाकर नया उपनिवेश बसावे। वहां अनाज, शाक-सब्जी, मछली, शिकार आदि के जरिये लोगों की उप-

की अवधि अल्पकालीन और उसकी तीव्रता अत्यन्त न्यून भासित होती थी। कुछ मुगल सम्राट हृदय के उदार और हिन्दुस्तान के ही स्थायी निवासी थे; इसलिए अकाल के कारण और प्रतिबन्ध के लिए उदारतापूर्वक उपाय सोचते थे।[1] अब हर दो साल में एक बार अकाल पड़ता है, और बहुत-सा अनाज विदेश को रवाना हो जाता है; इसलिए लोग उसका संग्रह कर ही नहीं पाते। फसल के तैयार होते ही लगान की अदायगी के लिए उसका अनाज बेच देना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अकाल का मुकाबला करना सम्भव नहीं रहता।[2]

अपने मुख्य अनाज का विदेश भेजा जाना भी हिन्दुस्तान के अकाल का एक कारण है। सन् १८९१ से १९२१ तक हिन्दुस्तान की जनसंख्या में ढाई करोड़ की वृद्धि हुई; लेकिन गेहूं और चावल की पैदावार में वृद्धि नहीं हुई, इसके विपरीत निर्यात काफी तादाद में बढ़ गया। इस निर्यात के कारण हिन्दुस्तान में अनाज का संग्रह बहुत कम रहता है। गत तीन वर्षों में चावल और गेहूं की पैदावार क्रमशः ७६ और २४ करोड़ मन हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि जनसंख्या की वृद्धि के बराबर अनाज की पैदावार में वृद्धि नहीं हुई। 'यूल' साहब का मत है कि जिस राष्ट्र की ऐसी स्थिति हो उसे स्वभावतः ही भुखमरी सहन करनी पड़ती है और धीरे-धीरे अन्तमें वह नष्ट हो जाता है।[3]

जीविका चलावे।

(श्री एस. के. दास कृत "Economic History of Ancient India" पृष्ठ १७७ से—राज्याधिकारी वर्ग इससे खासा सबक सीख सकते हैं।

१. "Forward" सन् १९२७ के नववर्षांक पृष्ठ९० में श्रीज्ञानांजन नियोगी।

२. दादाभाई कृत "Poverty and un-British Rule in India" पृष्ठ ६५५

३. "Forward" सन् १९२७ के नववर्षांक पृष्ठ९० श्रीज्ञानाञ्जन नियोगी।

अनाज की निकासी के साथ-साथ देश का खाद भी देश के बाहर जाता रहता है, इसलिए उसकी फसल के अच्छा होने में भी उसका अनिष्टकारक परिणाम हुए बिना नहीं रहता।

श्री ज्ञानाञ्जन बाबू "Forward" सन् १९२७ के नववर्षांक में लिखते हैं—

"भारत से प्रत्येक मिनट पर ७ मन हड्डी, ७ मन खली और १४ मन तिलहन विदेश को रवाना होता है।"

इसके सिवा दादाभाई ने हिन्दुस्तान के अकालों का एक और भी कारण बताया है। वह अत्यन्त मार्मिक है और साधारण लोगों के ध्यान में आने योग्य नहीं है। वह कहते हैं—

"साम्राज्यांतर्गत युद्धों का और उनके लिए रक्खी जाने वाली अपार सेना का खर्च हिन्दुस्तान पर डाला जाता है। उसे यह खर्च बरदाश्त नहीं करना चाहिए। वह बरदाश्त कर नहीं सकता, फिर भी वह लादा जाता है, इसीसे उसपर बहुतांश में अकाल का संकट आता रहता है।[२]

यह है हिन्दुस्तान के अकालों की मीमांसा।

अब अकाल-ग्रस्त लोगों की स्थिति पर नजर डालिए। मि० डब्ल्यू० एस० लिली, आई० सी० एस० अकाल-ग्रस्त भाग का अपना अनुभव लिखते हुए कहते हैं—

"मैं अकाल सम्बन्धी अपने अनुभव कभी भी नहीं भूलूंगा। प्रति दिन शामके वक्त जब मैं घोड़े पर चढ़कर घूमता था तो कुछ हाड़-मांस सूखे हुये मनुष्यों के झुण्ड-के-झुण्डों इधर-उधर भटकते हुए दिखाई देते थे। इसी तरह रास्ते के एक ओर कुत्तों और गिद्धों की खाई हुई अरक्षित और दाहसंस्कार न की गई मनुष्यों की लाशें पड़ी नजर आती थीं! इससे भी भयंकर दृश्य मैंने देखा—माताओं ने अपने नन्हें बच्चों को छोड़ दिया था। ग्रीक लोग बच्चों को संसार का आनन्द मानते हैं; परन्तु उन्हीं

२. दत्तकृत 'Famine in India' की भूमिका पृष्ठ १९में दादाभाई का उद्धरण।

कोमल बच्चों की चमकती हुई आँखें बुखार के कारण अन्दर धँस गई थीं। शरीर में थोड़ी हलचल बाकी थी। सिर की हड्डी निकल आई थी। फाके-कशी में ही वे गर्भ में आये, जन्मे और परवरिश पाये। इससे तरह-तरह की बीमारियों से ग्रस्त हुए! यह उनका हाल था। वह दृश्य और उसके विचार अबतक मेरा पीछा नहीं छोड़ते हैं।[1]

सन् १९०७ के अकाल के सम्बन्ध में फरीदपुर के तत्कालीन कलक्टर मि० जेकसन ने अत्यन्त आश्चर्यजनक बात कही है। वह लिखते हैं—

"अभी वृक्षों में पत्ते बाकी हैं और स्त्रियां अभी तक वेश्यायें नहीं बनीं हैं, इससे मालूम होता है कि इस भाग में अभी अकाल नहीं है।"[2]

इसमें सन्देह नहीं कि अकाल की भयंकर स्थिति की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने की मि० जेकसन की यह कसौटी सचमुच अद्वितीय है।

१९४३ के बंगाल के अकाल की कहानी बिलकुल ताजी है। उस सम्बन्ध में लिखकर यह मजमून बढ़ाना उचित नहीं है।

१. "Forward" का नववर्षांक, पृष्ठ ९०
२. ,, ,, पृष्ठ ९१

: ६ :

बेकारी और आलस्य

पिछले अध्याय में हम देख ही चुके हैं कि हिन्दुस्तान किस तरह औद्योगिक राष्ट्र के पद से गिरकर कृषिप्रधान राष्ट्र बन गया और दरिद्रता और अकालों ने उसे किस तरह घेर रक्खा है। अब इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि इस कृषिप्रधान राष्ट्र को खेती भी पर्याप्त काम देती है या नहीं।

खद्दर का सम्पत्ति शास्त्र (Economics of Khaddar) के लेखक मि० ग्रेग ने इसका हिसाब लगाया है। वह लिखते हैं—"सन् १९२१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार सिर्फ ब्रिटिश इलाके में १० करोड़ ७० लाख लोग 'चराई और खेती' के काम पर अपनी उपजीविका चलाते हैं। पिछले अध्याय में हम यह देख ही चुके हैं कि प्रति व्यक्ति भूमि का औसत बहुत कम होने से इन १०,७०,००,००० लोगों को भी लगातार बारह महीने बराबर काम नहीं मिलता—कम-से-कम वर्ष के तीन महीनें तक वे बिलकुल बकार रहते हैं। उक्त १० करोड़ ७० लाख मनुष्य हिन्दुस्तान की कुल आबादी का करीब-करीब एक तिहाई भाग है।

हिन्दुस्तान की बढ़ती हुई दरिद्रता और खेती की विशेष परिस्थिति के कारण इन १० करोड़ ७० लाख लोगों को, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्ष में से कुछ महीने बेकार रहना पड़ता है। इस कारण उनकी स्थिति 'दुबले को दो असाढ़' अथवा 'मरे को मारे शाहमदार' की सी हो जाती है। सारे धन्धे पहले ही डूब गये, बचते-बचते बचा था खेती का धन्धा, वह करने गये तो उससे भी पूरा नहीं पड़ता, तब मजबूर होकर कर्ज और भुखमरी के शिकार बनकर दिन काटने पड़ते हैं।

हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में खेती पर निर्वाह करने वालों को

कितने महीने काम मिलता है और कितने महीने उन्हें बेकार रहना पड़ता है। इस सम्बन्ध में सन् १९११ की मर्दुमशुमारी के प्रान्तीय अधिकारियों ने जो विवरण दिये थे, वे महत्त्वपूर्ण हैं। उन सबके सुर एक ही हैं।

बंगाल की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में मि० थॉमसन लिखते हैं—

"हरेक किसान के हिस्से में २·२१५ एकड़ भूमि का औसत पड़ता है। इस स्थिति के कारण ही किसान गरीब हैं। जमीन का औसत २¼ एकड़ से भी कम पड़ने के कारण उन्हें वर्ष में बहुत कम दिन काम मिलता है। किसान जब अपनी जमीन जोतता है तब उसे बहुत कड़ी मेहनत करनी पड़ती है; लेकिन वर्ष के अधिकांश दिनों में उसके पास बहुत कम या कुछ भी काम नहीं रहता।"[1]

चौथे अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि सारे हिन्दुस्तान में जमीन का औसत प्रति व्यक्ति ¾ एकड़ पड़ता है। ऐसी हालत में बंगाल में २¼ एकड़ औसत होना यह उसकी अपनी खुद की विशेषता है। वहां दायमी बन्दोबस्त की प्रथा है; इसलिए वहां का यह औसत बढ़ा हुआ है। लेकिन दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा वहां जमीन का औसत अधिक होते हुए भी, मि० थॉमसन के कथनानुसार वहां के किसानों के पास अधिकांश दिन काम नहीं रहता। इससे दूसरे प्रान्तों की क्या स्थिति होती होगी इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

'बिहार और उड़ीसा प्रान्त में प्रति व्यक्ति जमीन का औसत ¾ एकड़ है।'[2] इस प्रान्त के मर्दुमशुमारी अफसर मि० टेलेण्ट्स लिखते हैं—

"कुल वर्ष-भर में कुछ समय तो ऐसा होता है कि किसानके कुटुम्बके सब मनुष्यों के लिए खेत पर काम रहता है; लेकिन कुछ समय ऐसा भी होता है जब उनके पास काम न होने की वजह से उन्हें हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना पड़ता है। ऐसे समय में उनकी काफी शक्ति बेकार जाती है,

१. श्री ग्रेग कृत "Economics of Khaddar" पृष्ठ १९३
२. बाबू राजेन्द्रप्रसाद कृत "Economics of Khadi" पृष्ठ ३

इसलिए उनके लिए किसी दूसरे सहायक धन्धे की जरूरत है।[1]

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि मि० टेलण्ट्स व्यर्थ जाने वाली शक्ति का और सहायक धन्धे का उल्लेख करते हैं।

संयुक्त प्रान्त के मर्दुमशुमारी-अफसर मि० एडाई का विवरण इससे भी अधिक स्पष्ट है। वह कहते हैं—

आबादी का घना भाग तो खेतिहर है और यहां खेती का अर्थ साधारण रीति से साल में दो फसल जोतना, बोना, काटना और रखना है। विलायत की-सी मिली-जुली खेती यहां नहीं है। इस तरह की खेती में कभी-कभी थोड़ी मुद्दत के लिए बड़ी-कड़ी मेहनत रहती है—साधारण रीति से दो बोवाई, कटाई, बरसात में कभी-कभी निराई और सर्दी में तीन बार की सिंचाई—और बाकी साल भर प्रायः कोई काम नहीं रहता। ऐसे भागों में जहां खेती की दशा अनिश्चित रहती है, कभी-कभी मौसम भर और कभी साल भर भी बेकार रह जाना पड़ता है। ये बेकारी के दिन अधिकांश अवस्था में सुस्ती में ही बीतते हैं। जहां किसान कोई ऐसा काम कर सकता है, जो खेती से बचे हुए समय में सहज ही हो सके और जिसमें बार-बार लगे रहने की जरूरत न हो, तो उस काम की जो मजदूरी मिले, वह बचाये हुए समय के दाम हैं, उससे बरबादी बचती है और वह साफ मुनाफा है। इनमें सबसे अच्छा नमूने का काम और जिसका सबसे अधिक प्रचार भी है, हाथ से कते सूत का कपड़ा तैयार करना है।"

मि० एडाई के उक्त विवरण पर से ये तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुद्दे निकलते हैं—(१) विलायत की-सी मिली-जुली खेती यहां सम्भव नहीं है; (२) सहायक धन्धे का रूप कैसा होना चाहिए और (३) सूत कातना विशेष प्रकार का सहायक धन्धा है।

किसी भी विचारशील व्यक्ति के मन में स्वभावतः ही ये प्रश्न उठे बिना रह नहीं सकते कि आखिर हिन्दुस्तान के किसान कुछ अर्से तक बकार क्यों रहते हैं? उन्हें वर्ष-भर काम क्यों नहीं करना चाहिए?

१. ग्रेग कृत "Economics of Khaddar" पृष्ठ ११४

मि०एडाई का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है उसमें अज्ञात रूप में इन प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। एक तो यह कि हिन्दुस्तान के किसानों के पास उनकी गरीबी के कारण, जमीन थोड़ी होती है, जिससे उनकी खेती का काम जल्दी ही पूरा हो जाता है। दूसरे, वर्षा का परिमाण अनिश्चित रहता है, इसलिए कुछ अर्से तक निठल्लापन अनिवार्य हो जाता है। यहां इंग्लैण्ड की तरह किसानों के पास न तो जमीन के मोटे-मोटे टुकड़े हैं, न नियमित वर्षा ही होती है, इसलिए उनको बड़ी दिक्कत होती है।

ऐसे किसानों के लिए सहायक धन्धे की अत्यन्त आवश्यकता है। इस धन्धे का कैसा स्वरूप होना चाहिए, मि० एडाई ने यह अच्छी तरह स्पष्ट करके दिखा दिया है। उनका यह कहना है कि "जिसमें बराबर लगे रहने की जरूरत न हो" ऐसा धन्धा चाहिए। यह ठीक ही है! अगर सहायक धन्धे में ही सारा समय लगने लगे तो वह सहायक न रहकर मुख्य धन्धा हो जायगा। जब मन में आवे तभी किया जा सके और करना सम्भव हो सके ऐसा ही सहायक धन्धा उपयुक्त हो सकता है, दूसरा नहीं।

मि० एडाई ने जो यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उपर्युक्त दृष्टि से विचार करने पर सूत कातना ही एसा विशेष सहायक धन्धा है, यह उनके लिए अत्यन्त प्रशंसा की बात है।

अब हम, कुछ अंग्रेज लेखकों और अधिकारियों ने किसानों की बेकारी की अवधि के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किये हैं, उन पर कुछ नजर डालेंगे।

पंजाब सरकार के सहयोग विभाग के रजिस्ट्रार मि० एच० केलबर्ट किसानों के काम का हिसाब लगाकर अपनी Wealth and Welfare of the Punjab नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"पंजाब का औसत किसान जो कुछ काम करता है,वह बारहों मासकी पूरी मेहनत में डेढ़ सौ दिनों से अधिक का नहीं ठहरता और इन हरेक दिनों में भी काम का औसत कुछ उन्नत पाश्चात्य देशों की अपेक्षा

काफी कम होता है।[१]

बारह महीने में डेढ़सौ दिन काम का मतलब हुआ वर्ष में पांच महीने काम और सात महीने बेकारी।

बंगाल सरकार के भूतपूर्व सेटलमेन्ट अफसर मि० जे० सी० जेक अपनी "Economic Life of a Bengal District" नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"जब किसान की जमीन सन बोने लायक नहीं रह जाती, तब उसका साल भर का समय तीन महीने की कड़ी मेहनत और नौ महीने की बेकारी में बीतता है। और अगर वह जूट के साथ ही चावल की भी खेती करे तो जुलाई-अगस्त के महीनों में उसे छः हफ्ते का काम और मिल जाता है।"[२]

इसका अर्थ हुआ वर्ष भर में साढ़े चार महीने काम और साढ़े सात महीने बेकारी।

मध्यप्रान्त की स्थिति यह है कि साल भर में सिर्फ बरसात के चार महीने काम रहता है और बाकी के करीब-करीब आठ महीने बेकारी में बिताने पड़ते हैं। इस प्रान्त के मर्दुमशुमारी अफसर मि० शेटन लिखते हैं—

"बहुसंख्यक लोग जिस खेती पर अवलम्बित रहकर अपनी जीविका चलाते हैं, वह खेती लोगों को पूरे साल भर काम नहीं देती। प्रान्त में अधिकांश भाग ऐसा है जहां बरसात के अन्त में काटी जानेवाली खरीफ की फसल ही महत्त्व की चीज है। इस फसल का अनाज काटकर इकट्ठा करने के बाद दूसरी बरसात शुरू होने तक बीच के समय में किसानों के पास शायद ही कोई काम रहता है।"[३]

१. पृ० २४५ : ग्रेग "Economics of Khaddar" पृष्ठ १९४ से

२. पृष्ठ ३९ : " पृष्ठ १९५ से

३. ग्रेग "Economics of Khaddar" पृष्ठ १९५।

मद्रास प्रान्त में काम के दिन कुछ अधिक प्रतीत होते हैं। मद्रास यूनिवर्सिटी के प्रो० गिल्बर्ट स्लेटर अपनी "Some Months in Indian Villages" नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"मद्रास प्रान्त की एक फसलवाली जमीन पर किसान को साल भर में सिर्फ पांच महीने काम मिलता है और जहां की जमीन में दो फसलें होती हैं वहां किसान को आठ महीने काम रहता है।"[१]

उसके लिखने के मुताबिक यही दशा मैसूर की और शेष समस्त दक्षिण भारत की भी है।

लेकिन आगे यह भी कहते हैं—

"इस समय दक्षिण भारत में ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि किसानों को काम बहुत कम मिलता है, जिसके कारण उन्हें कई महीने बहुत ही कम वेतन पर काम करना पड़ता है।"[२]

हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों की साधारणतया यह स्थिति है। कम-से-कम १० करोड़ ७० लाख आदमियों को साल भर में कम-से-कम चार महीने बेकार रहना पड़ता है, इससे राष्ट्र की कितनी प्रचण्ड शक्ति व्यर्थ जाती है इसकी सहज ही कल्पना हो सकती है। हमारे यहां एक कहावत है—"उद्योगी के घर ऋद्धि-सिद्धि पानी भरती है।" इस कहावत के अनुसार अगर उपरोक्त बेकार लोगों के फुरसत के समय का किसी उपयुक्त धन्धे में उपयोग किया जाय तो उससे उनकी आर्थिक स्थिति में कम-से-कम आंशिक उन्नति तो अवश्य हुए बिना नहीं रहेगी। अगर उनका वह समय आलस्य में बीता तो यह अनुभव सिद्ध बात है कि अंग्रेज़ी कहावत के अनुसार शैतान अपनी शैतानी से बाज़ नहीं आयेगा।

१९४१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार उपर्युक्त हिसाब में कुछ इज़ाफा ही हुआ है। क्योंकि अन्य परिस्थिति जैसी थी वैसी ही है।

१. पृष्ठ १६ : ग्रेग Economics of Khaddar पृ० १९६ से
२. पृष्ठ २३४ ग्रेग की ,, ,, पृ० १९६ से

: ७ :

चरखा-संजीवनी

"वास्तव में गांधीजी एक महान् औद्योगिक इञ्जीनियर प्रतीत होते हैं।"[१]

"हिन्दुस्तान में आजकल बेकारों की संख्या बहुत अधिक है। वास्तव में ये बेकार वे एंजिन हैं जिनमें अन्न-जल रूपी थोड़ा बहुत कोयला-पानी तो दिया जाता है, लेकिन जिन्हें माल उत्पन्न करनेवाले यन्त्र या मशीन आदि से जोड़ा नहीं जाता। गांधीजी उन्हें चरखे के साथ जोड़कर उनसे काम लेना चाहते हैं, अर्थात् इस समय जो अपार सूर्य-शक्ति बेकार जा रही है उसे काम में लाना चाहते हैं।"[२]

जो भारतवर्ष अनेक बार वैभव के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ रहा, आज उसकी कैसी दयनीय स्थिति हो गई है ! उसके सारे उद्योग-धन्धे डूब गये हैं; लगभग डेढ़सौ वर्ष से उसकी सम्पत्ति का स्रोत कल-कल करता हुआ निरन्तर विदेश की ओर प्रवाहित हो रहा है; ६७ प्रतिशत लोगों के पास खेती के सिवा जीविका का और कोई साधन न रहने के कारण वे सोलहों आने दरिद्रता के चंगुल में फंसे हुए हैं; अकालों का तांता बंध गया है और आबादी का कम-से-कम एक तिहाई हिस्सा सालों-साल चली आने वाली बेकारी से त्रस्त और बेदम हो गया है। इस प्रकार हमारी मातृभूमि —भारतवर्ष—लगभग मरणासन्न स्थिति तक पहुंच चुकी है !!

ऐसे समय में उसके लिए संजीवनी मात्रा की अत्यन्त आवश्यकता थी, उसके सपूत—महात्मा गांधी—ने वही आज उसे दी। इस दृष्टि से देखने पर महात्मा गांधी राष्ट्रीय धन्वन्तरी ठहरते हैं।

१. ग्रेग Economics of Khaddar पृ० ३३

२. ,, ,, पृष्ठ १६ (खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र पृ० ३१)

लेकिन वह केवल धन्वन्तरी ही नहीं, एञ्जीनियर भी हैं। Economics of Khaddar—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र—के लेखक श्री रिचर्ड बी० ग्रेग ने उनका नाम 'राष्ट्र के महान् औद्योगिक एञ्जीनियर' रखकर उनकी दूरदर्शिता का सम्मान किया है।

मि०ग्रेग ने 'खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र' लिखकर उसमें खादी के आन्दोलन की वैज्ञानिक और मार्मिक मीमांसा कर हिन्दुस्तान की बड़ी सेवा की है। इसके लिए इसमें कोई शक नहीं है कि भारतीय जनता सदैव उनकी ऋणी रहेगी।

इस अध्याय में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है, वह उन्हीं की पुस्तक के आधार पर किया गया है! मि० ग्रेग अमेरिकन हैं और वकील होने के साथ-साथ एञ्जीनियर भी हैं। वे प्रत्येक वस्तु को एञ्जीनियर की दृष्टि से देखते हैं उनके ग्रन्थ में यह बात पग-पग पर दिखाई देगी। उनका दृष्टिकोण यह है—

"संसार में दो तरह की शक्तियां हैं—आध्यात्मिक(spiritual) और आधिभौतिक (Physical) इनमें की आधिभौतिक शक्ति सूर्य से मिलती है। यह शक्ति भी दो तरह की है—सङ्कलित और प्रवाही अथवा तरल। कोयला और पेट्रोलियम—ये गत युग के सूर्य-शक्ति के प्रवाह के रूपान्तरित संग्रह और तालाब ही हैं। समुद्र के पानी का वाष्पी-करण सूर्य ही करता है। इसलिए पानी हमें प्रकारान्तर से बादल और बारिश के रूप में सूर्य से ही मिलता है। ये सारे संकलित शक्ति के उदाहरण हैं। घोड़े, मवेशी, और मनुष्य की शक्ति का भी उद्गमस्थान सूर्य ही है। ये प्रवाही सूर्य-शक्ति के उदाहरण हैं। इन सब प्राणियों का जीवन वनस्पतियों पर अवलंबित है। बनस्पतियां, सूर्य-शक्ति इकट्ठा करती हैं, क्योंकि वनस्पतियां सूर्य से ऑक्सीजन ग्रहण करके कारबन छोड़ती हैं। फसलों की वृद्धि भी सूर्यकिरणों से ही होती है। इस फसल से, धान्य से, अन्न से ही ये सब प्राणी-जीवित रह सकते हैं, तब प्रकारान्तर से सूर्य ही—सूर्य-किरण ही सारी जड़शक्ति का उत्पादक है। ऐसी हालत में इस सूर्यशक्ति का, सूर्य-किरण का, अन्न का,

अन्न खानेवाले मानव की शक्ति का, पहले जितना उपयोग होता था उससे अधिक उपयोग करके उसे व्यवस्थित और कार्य-स्वरूप देनेवाली कोई भी योजना एंजीनियर की दृष्टि से और आर्थिक दृष्टि से भी हितकारक ही सिद्ध होगी।

मानव-प्राणी जो अन्न खाता है उससे ही उसे शक्ति प्राप्त होती है। और अन्न सूर्य-किरणों की सहायता से तैयार होता है, इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि वह प्रकारान्तर से सूर्य-किरणों पर—सूर्य की शक्ति पर—जीवित रहता है। पिछले अध्याय में हम यह देख ही चुके हैं कि हिन्दुस्तान में १० करोड़ से अधिक लोग बेकार हैं। इन सबको अन्नरूपी ईंधन से काम करने का शक्ति मिलती है; लेकिन क्योंकि उनके पास काम नहीं है, इसलिए उनका वह शक्ति—सूर्य-शक्ति व्यर्थ जाती है। दस करोड़ से अधिक बेकार लोगो की शक्ति को इस तरह व्यर्थ जाने देने का अर्थ हुआ इतनी सूर्य-शक्ति को बेकार जाने देना। इस प्रकार इस शक्ति के व्यर्थ जाने से राष्ट्र की अपार हानि होती है। ऐसी दशा में महात्माजी जैसे व्यवहार कुशल वैश्य के दिमाग में जो यह बात समाई कि उस शक्ति को व्यर्थ न जाने देकर किसी भी काम के जरिये उसका उपयोग कर लेना चाहिए, इसी में उनकी दूरदर्शिता और व्यवहार-कुशलता दिखाई देती है।

महात्माजी अपना एक मिनट भी व्यर्थ नहीं गंवाते और अपनी शक्ति भी बेकार नहीं जाने देते। ऐसी दशा में उन्हें अपने करोड़ों देशवासियों के समय और शक्ति को स्वयं अपनी आंखों के सामने बेकार जाते हुए देखना कैसे सहन हो सकता है? बेकार लोगों को काम देकर उनकी व्यर्थ जाने वाली शक्ति का उपयोग कर लेना, इसीमें महात्माजी का एंजीनियरिंग-कौशल है। दूसरे एंजिनियरों और महात्माजी में केवल उतना अन्तर है कि दूसरे एञ्जीनियर तैल, भाफ, वायु (Gas) और विद्युत अथवा बिजली की सहायता से चलने वाले यन्त्रों एवं मशीनरी का उपयोग करते हैं और महात्माजी उसके बजाय चलते-फिरते, बोलते-चालते मनुष्यरूपी एंजिन का उपयोग करते हैं। दोनों ही तरफ के एंजिनों की शक्ति का उद्गम-स्थान सूर्य ही है। जिस तरह

दूसरे प्रकार के एंजिनों को किसी मशीन आदि एकाधिक यन्त्रसे संलग्न होना पड़ता है, उसी तरह महात्माजी ने मनुष्यरूपी एंजिनों को चरखे तथा करघे से संलग्न किया है। दूसरे एंजिनों को किसी-न-किसी तरह का ईंधन देना पड़ता है, उसी तरह मनुष्यों के लिए अन्न ईंधन का काम दे सकता है। नीचे दिए हुए विवरण से यह कल्पना विशेषरूप से स्पष्ट होगी।
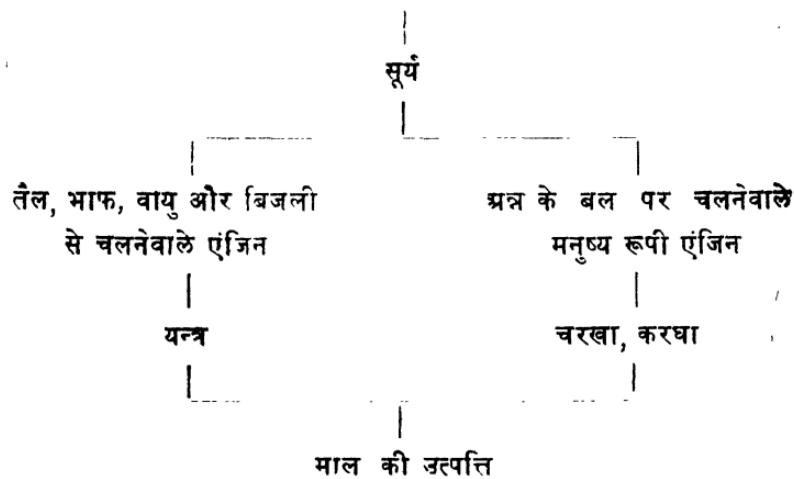
मि० लिप्सन अपनी (Increased Production) बढ़ी हुई उत्पत्ति—नामक पुस्तिका में लिखते हैं—

"देश की सम्पत्ति मुख्यतः उसके निवासियों की कार्य-क्षमता पर ही निहित होती है। जिस देश में प्राकृतिक साधनों की तो बहुतायत है, किन्तु निवासी आलसी और पिछड़े हुए हैं; दूसरी ओर देश में नैसर्गिक साधनों की तो इतनी विपुलता नहीं है, लेकिन निवासी पूरे अध्यवसायी और परिश्रमी हैं, इन दो तरह के राष्ट्रों की तुलना करने पर पहली तरह का राष्ट्र ही दरिद्री ठहरेगा। काम करने वाले लोगों की कार्य शक्ति को बढ़ानेवाली कोई भी बात हो, उससे राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि ही होगी, इसके विपरीत उसकी कार्य क्षमता में कमी करनेवाली कोई भी बात राष्ट्र की सम्पत्ति को

धक्का पहुंचानेवाली होगी। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी समाज को अपनी किसी भी इकाई की द्रव्योपार्जन शक्ति का ह्रास न होने देना चाहिए। बेकारी की केवल चिन्ता अथवा भय उत्पादक कार्य के सहयोग में विघ्नरूप हो बैठता है। हमें भूतदया की इस दृष्टि से भी यह बात—बेकारी का यह प्रश्न—भूलना नहीं चाहिए।[1]

मि० लिप्सन का यह विवेचन हिन्दुस्तान की स्थिति पर सर्वथा लागू होता है। महात्माजी ने बेकारी के इस प्रश्न को हाथ में लेकर करोड़ों मानव प्राणियों के जीवन को सुखी बनाने और साथ ही राष्ट्र की सम्पत्ति में भी वृद्धि करने का कैसा प्रयत्न आरम्भ किया है यह इस पर से सहज ही मालूम पड़ जाता है।

पहले हम यह देखेंगे कि हिन्दुस्तान के बेकारों की कितनी शक्ति व्यर्थ जाती है। हिन्दुस्तान पर पड़नेवाली सूर्य-किरणों की शक्ति का माप लेने पर उसका औसत प्रतिवर्ष ४९,९६,००,००,००,००,००,००,००० अश्व शक्ति[2] (हॉर्स पॉवर) होता है। मनुष्य साधारणतः एक मिनट में १/६ अथवा १/१० अश्व शक्ति काम कर सकता है।

पिछले अध्याय में हम यह देख ही चुके हैं कि हिन्दुस्तान में १० करोड़ ७० लाख मनुष्य केवल खेती का काम करते हैं, इससे उनके पास वर्ष भर में पांच से लेकर सात महीने तक कोई काम नहीं रहता। मनुष्य १/१० अश्व-शक्ति काम करता है। अगर १० करोड़ ७० लाख आदमी इस औसत से काम करने लगें तो उनका काम १ करोड़ ७० लाख अश्व-शक्ति होगा। अगर यह मान लिया जाय कि चरखे पर कातने के लिए १/१०० शक्ति की आवश्यकता होती है तो उससे १ अरब ७० करोड़ चरखे चलाने के लिए आवश्यक शक्ति का निर्माण होगा।

सन् १९१९ में बम्बई की मिलों और कारखानों में मिलाकर कुल

१. ग्रेग "Economics of Khaddar" पृष्ठ ६१

२. ५०० पौंड वजन एक सेकन्ड में एक फुट ऊंचा उठाने में जितनी शक्ति की दरकार होती है उतनी को १ अश्वशक्ति (हॉर्स पॉवर) कहते हैं।

१लाख अश्व शक्ति ही काम होता था। हिन्दुस्तान के सब कारखाने १०लाख अश्वशक्ति से कुछ ही अधिक काम देते हैं। इस दृष्टि से हिसाब लगाने पर बम्बई की मिलों और कारखानों की अपेक्षा हिन्दुस्तान के अकेले बेकारकिसानों की काम करने की शक्ति अधिक है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इसमें देश के दूसरे बेकारों की शक्ति का समावेश नहीं किया गया है। यह हुआ देश के बेकार किसानों की शक्ति का कामचलाऊ औसत हिसाब। अब हम यह देखेंगे कि इस बेकारी के कारण आर्थिक दृष्टि से राष्ट्र की कितना हानि होती है और बेकारों को काम दिया जाने पर उस हानि की किस तरह पूर्ति हो सकती है।

हम यह मानकर चलें कि किसानों की दैनिक मजदूरी तीन आने है। वास्तव में तो उनकी दैनिक मजदूरी इससे अधिक ही है, फिर भी हम कम-से-कम औसत लगाकर हिसाब करेंगे।

१० करोड़ ७० लाख आदमियों को तीन महीने अर्थात् नव्वे दिन—इन तीन महीनों में ये सर्वथा बेकार रहते हैं—काम मिले तो तीन आने रोज के हिसाब से वे १,८०,५६,२५,००० रुपये कमा सकेंगे। भारत सरकार की सन् १९२४-२५ के एक वर्ष की कुल आय—१,३८,०३,९२,२४४ रु० से भी यह रकम अधिक है! मान लीजिए कि इन बेकारों ने तीन महीने तक पूरे दिन काम न कर साधारण कातनेवालों की तरह दिन के कुछ हिस्से में काम करके एक आना रोज कमाया तो भी वे वर्ष के अन्त में ६०,१८,७५,००० कमा सकेंगे। यह रकम भी कोई मामूली रकम नहीं है।

यह हिसाब सिर्फ तीन महीने लायक ही है। पिछले अध्याय में हम यह देख ही चुके हैं कि बेकारी की मियाद असल में इसकी अपेक्षा कहीं अधिक होती है। उसी तरह यह हिसाब तो केवल किसान बेकारों से चरखा चलवाने पर उससे राष्ट्र की सम्पत्ति में कितनी वृद्धि होगी उसका हुआ। किसानों के सिवा देश मे दूसरे बेकारों की संख्या भी काफी है, उन्हें काम पर लगाया जाय तो उससे उक्त सम्पत्ति में और भी अधिक वृद्धि होगी, यह अत्यन्त स्पष्ट है।

ग्रेग साहब का कहना है कि सूर्य-शक्ति के सम्पूर्ण उपयोग की दृष्टि से विचार करने पर मिल की अपेक्षा चरखे की काम करने की शक्ति अधिक है, क्योंकि चरखे अथवा मिल के तकुओं के उपयोग में आने के पहले उनके बनाने में कितनी शक्ति खर्च होती है यह बात विचारणीय है।[१] शुरू से लेकर अन्त तक पूरी मिल की सारी मशीनें बनाने में लकड़ी के चरखे की अपेक्षा कई गुना अधिक सूर्य-शक्ति खर्च होती है। उसी तरह इन मशीनों के उपयोग में भी उतनी ही अधिक प्रचण्ड शक्ति खर्च होती है! जबकि चरखे पर कातने में बहुत ही कम सिर्फ १/१०० अश्वशक्ति ही खर्च होती है।

शिल्पी (एञ्जीनियरिंग) की दृष्टि से, जितना माल बाजार में खप जाने की उचित आशा की जा सकती है, और आगे खपत में जितनी बढ़ती की सम्भावना हो, उतने ही माल की तैयारी में जितनी मशीनों की जरूरत हो उसी अन्दाज से वे तैयार की जानी चाहिए। आवश्यकता से आधिक बड़ी अथवा प्रचण्ड शक्ति की मशीनों को काम में लाने से शक्ति का अपव्यय होता है। मशीनों की अनावश्यक वृद्धि का अर्थ निरर्थक रहने वाले यन्त्रों की चिन्ता करना-सा है। उससे जरूरत से कहीं ज्यादा खर्च और नुकसान होता है।[२]

यह बात बिलकुल साफ है कि चरखे के बनाने और उसके चलाने में शक्ति कम लगती है। उसी तरह यह भी हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि लोहे की मशीनों के मुकाबले में उसकी कीमत भी बहुत ही कम अथवा क्षुद्र होती है। इसके सिवा चरखे की दुरुस्ती में मशीन की दुरुस्ती के मुकाबले में बहुत ही मामूली-सी रकम खर्च पड़ती है। कुल मिलाकर सब बातों का विचार कर वैज्ञानिक भाषा में कहा जाय तो उसका मतलब यह होगा कि मिलों की अपेक्षा चरखे विद्यमान सूर्यशक्ति का अधिक सस्तेपन से उपयोग कर सकते हैं।

मि० ग्रेग का कहना है कि शिल्पी और आर्थिक दृष्टि से चरखों और करघों की उपयोगिता कीमत में मिलों से ज्यादा ठहरती है। आगे वह यह

१. ग्रेग "Economics of Khaddar" पृष्ठ २७
२. ग्रेग "Economics of Khaddar" पृष्ठ २८

भी कहते हैं—"मिलों से थोड़े से मनुष्यों के एक समाज को अधिक मुनाफा होता है। इसे एक तरफ रखकर हमें यह भी देखना चाहिए कि जो मनुष्य-बल और सूर्य-बल इस समय राष्ट्र को उपलब्ध है, उसका ऐसी दशा में बेकार नष्ट होना इतनी भारी हानि है कि, उसके मुकाबले में मुट्ठी भर पूंजी वालों का उक्त भारी मुनाफा कुछ भी नहीं ठहरता।"[1]

मि० ग्रेग का यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के सिवा विचार-क्रान्ति पैदा करने वाला भी है।

अब तक के विवेचन से पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह आ गई होगी कि हिन्दुस्तान के १० करोड़ से अधिक किसानों के पास वर्ष में कम-से-कम तीन महीने खेती का कोई काम नहीं रहता, इसलिए उनकी प्रचण्ड शक्ति और समय व्यर्थ ही जाता है अथवा उसका दुरुपयोग होता है। ऐसी दशा में उन्हें अगर चरखे और करघे देकर उन पर काम लिया जाय तो उनका व्यर्थ जानेवाली शक्ति और समय का सदुपयोग होकर राष्ट्र की सम्पत्ति में कितनी वृद्धि हो सकती है। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि कम-से-कम एक आना रोज मजदूरी के हिसाब से वर्ष के अन्त में वे ६०,१२,७५,००० रु० कमा लेंगे। दाने-दाने अन्न के लिए तरसनेवालों की दृष्टि मे यह रकम कितनी भारी है। हद दर्जे की दरिद्रता में फंसे हुए और बार-बार पड़ने वाले अकालों से त्रस्त हुए इन दीन-हीन लोगों द्वारा अवकाश के समय में काम करके कमाई हुई यह थोड़ी-सी रकम भी उसके लिए संजीवनी मात्रा के समान हितकर हुई है, और आगे भी होगी।[2]

१. ग्रेग "Economics of Khaddar" पृ० २९

२. बरसात के तीन-चार महीनों में जिस तरह किसान बेकार रहते हैं, उसी तरह उनके बैल भी निकम्मे रहते हैं। ऐसी दशा में जिस तरह किसानों को चरखे और करघे पर लगाकर उनकी व्यर्थ जानेवाली शक्ति का उपयोग कर लेने की कल्पना सूझी, उसी तरह इन बैलों के लिए भी माल ढुलाई का काम मिलते रहना चाहिए। माल की यातायात के लिए माल मोटरें इस्तेमाल करने की प्रथा बढ़ रही है; यह अन्तमें भयावह है। हमारा पशुधन कसाई के घर भेजने वाली है।

: ८ :

चरखा ही क्यों ?

"चाहे और दृष्टि से गांधीजी उचित मार्ग से भटक ही गये हों लेकिन उन्होंने चरखे का जो पक्ष लिया है उसमें वह भारत की दरिद्रता के असली रहस्य के भीतर पैठ गए हैं"—डा० मैन

हिन्दुस्तान जैसे कृषिप्रधान राष्ट्र के ८६ फीसदी लोग गांवों में निवास करते हैं और इनमें ६० फीसदी लोग खेती पर अपनी जीविका चलाते हैं। वर्ष में कम-से-कम तीन-चार महीने उनके पास काम नहीं रहता, ऐसी दशा में उनके हाथ में चरखा ही क्यों दिया जाय, अब हमें इसी विषय पर चर्चा करनी है।

दूसरे सब धन्धों को एक तरफ छोड़कर सिर्फ चरखे को ही क्यों अपनाया जाय, इस प्रश्न पर सब दृष्टियों से विचार करने के लिए नीचे लिखे चार मुद्दों पर विस्तारपूर्वक चर्चा करना आवश्यक होगा—

(१) पिछले जमाने में चरखे की कारगुजारी;

(२) चरखे की उपयुक्तता;

(३) दूसरे धन्धों से चरखे की तुलना, और

(४) चरखे के सम्बन्ध में फैली हुई गलतफहमियों का निराकरण।

आइये, इनमें से एक-एक मुद्दे पर क्रमशः विचार करें।

(१) अतीत काल में चरखे की कारगुजारी

पिछले अध्याय में यह बताया ही जा चुका है कि वेदकाल से लेकर अंग्रेजी शासन के आरम्भ तक किस प्रकार चरखा वस्त्र-स्वावलम्बन और उपजीविका का सहायक साधन था। बहुत पुराने जमाने की चर्चा क्यों करें? अगर हम यह जान लें कि सौ-सवा सौ वर्ष पहले भारतीय जीवन में चरखे ने

कौन-सा स्थान प्राप्त कर लिया था और उसने भारतीय जगत की कैसी सहायता की, तो आज चरखे का जो मजाक उड़ाया जाता है उसका रहस्य आसानी से समझ में आ जायगा।

श्रीरमेशचन्द्र दत्त अपनी "Indian Trade Manufactures and Finance" नामक पुस्तक में कहते हैं—

"उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक कातना और बुनना हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय धन्धा था। चरखे और हाथ के करघे का सब जगह उपयोग होता था। यह कहने में शायद ही अतिशयोक्ति हो कि औसत प्रौढ़ स्त्रियों में की करीब-करीब आधी स्त्रियां खुद अपनी मेहनत की कमाई से अपने पति अथवा पिता की आय में वृद्धि करती थीं। ये धन्धे भारतीय ग्राम्य-जीवन के खासतौर पर अनुकूल हैं। उस समय बड़ी-बड़ी मिलें अथवा कारखाने नहीं थे। प्रत्येक स्त्री आस-पास के गांव के बाजार से रुई लाती थीं और उसे कातकर गांव के जुलाहे उसका कपड़ा बुनकर व्यापारियों अथवा कपड़े का व्यवसाय करनेवालों को देतेथे। इस तरह तैयार हुआ कपड़ा अरब, डच और पुर्तगालवासी लोग अपने देशों को भेजते थे।"[१]

इस विवेचन से और वर्तमान समय में चलनेवाले ५० लाख[२] चरखों की संख्या और परम्परा देखने पर इस बात का स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि सौ-सवा सौ वर्ष पहले सारे हिन्दुस्तान भर में चरखे ने प्रत्येक घर में कौन-सा स्थान प्राप्त कर रखा था और उसने भारतीय समाज को कितना सहारा पहुंचाया था।

इस विवेचन से यह बात भी समझ में आ सकती है कि और दूसरे बहुत से सहायक धन्धों के होते हुए भी महात्माजी ने चरखे और हाथ के करघे पर ही इतना जोर क्यों दिया। सैकड़ों ही नहीं हजारों वर्षों से चरखे और करघे की परिपाटी चली आ रही है। उसने अतीत काल में

१. दत्त, भाग १ पृष्ठ १८०

२. Fact Finding Committee report appendix XXVI.

राष्ट्र की सम्पत्ति में काफी वृद्धि की है। हिन्दुस्तान जैसे कृषिप्रधान और भारी तादाद में रुई पैदा करनेवाले राष्ट्र के ग्रामीण-जीवन के लिए ये धन्धे विशेष रूप से अनुकूल थे। ऐसी दशा में महात्माजी ने जो यह रहस्य खोज निकाला कि दरिद्रता अकाल और बेकारी द्वारा पछड़े हुए हिन्दुस्तान में अगर चरखे और हाथ के करघे का पुनरुद्धार किया जाय तो वह फिर सम्पन्न हो जायगा, इसीमें उनका—महात्माजी का—बुद्धि-कौशल दिखाई देता है।

(२) चरखे की उपयुक्तता

अब हम चरखे की उपयुक्तता पर विचार करेंगे। किसानों के लिए कोई ऐसा सहायक धन्धा तलाश किया जाय जिसमें उन्हें अपनी खेती अथवा घरबार न छोड़ना पड़े और जिसे वे जब चाहें तब एक तरफ रखकर जिस समय चाहें दिन अथवा रात में और सब ऋतुओं में घर-के-घर में ही कर सकें तो वह चरखा कातना ही हो सकता है। दूसरी बहुत-सी दृष्टियों से भी किसानों के लिए चरखा बहुत ही अत्यन्त अनुकूल है। ता० २१ अक्तूबर १९२६ के 'यंगइण्डिया' में 'एकमात्र गृहोद्योग—चरखा' इस शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसके अन्त में चरखे के सब गुण अत्यंत मार्मिक रूप से संकलित किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) यह धन्धा तुरंत किया जा सकने योग्य है क्योंकि

(अ) इस धन्धे के शुरू करने के लिए न तो किसी खास पूंजी की जरूरत होती है, न खास औजारों की। कच्चा माल (रुई) और औजार—(चरखा) दोनों ही सस्ते मूल्य पर अपनी जगह पर ही मिल सकते हैं।

(आ) हिन्दुस्तान के अज्ञान और दरिद्रता-ग्रसित लोगों के पास जितनी बुद्धि अथवा कौशल है, उससे अधिक बुद्धि अथवा कौशल की इस धन्धे में कोई खास आवश्यकता नहीं होती।

(इ) इस धन्धे में शारीरिक श्रम इतना कम पड़ता है कि छोटा बच्चा और वृद्ध पुरुष भी उसे कर सकता है और पारिवारिक

सम्पत्ति में अपना भाग दे सकता है।

(ई) कातने की परिपाटी अभी तक जीवित है, इसलिए उसके फिर से जारी करने के लिए किसी नई भूमिका की आवश्यकता नही होती।

(२) कातनेवालों के पास सूत तैयार होते ही उसके लेनेवाले असंख्य लोग हमेशा ही तैयार रहते हैं। अन्न के बाद केवल सूत ही ऐसी चीज है, जिसकी तुरन्त खपत होती है, इसलिए वह सब जगह और हमेशा काम देनेवाला है। इस प्रकार इससे दरिद्रता से ग्रसित किसानों के लिए सतत और नियमित आमदनी का मानो बीमा होजाता है।

(३) बरसात पर अवलम्बित न होने के कारण अकाल में भी यह धन्धा किया जा सकता है।

(४) वह लोगों की धार्मिक अथवा सामाजिक भावनाओं के विरुद्ध नहीं है।

(५) अकाल का मुकाबला करने का यह अत्यन्त परिपूर्ण और तैयार साधन है।

(६) किसान अपनी निजी झोंपड़ी तक में यह धन्धा कर सकता है, इसलिए आर्थिक संकट उपस्थित होने पर इसके जरिये कुटुम्ब की फाकाकशी—भुखमरी टाली जा सकती है।

(७) हिन्दुस्तान की ग्रामपंचायतों से—जो अब लगभग नष्टप्राय होचुकी हैं—गांवों को जो लाभ मिलता था, इस धन्धे के जारी होने पर वह लाभ उन्हें फिर मिलनेवाला है।

(८) किसानों की तरह ही हाथ-करघे पर काम करनेवाले जुलाहों का भी यह—चरखा कातने का—धन्धा मुख्य आधार है। देश में इस समय २० लाख करघे मौजूद हैं उसमें १८ लाख करघे चालू हैं और उस पर इस समय १ करोड़ आदमी अपना पेट भरते हैं, और ये ही हिन्दुस्तान के लिए आवश्यक कुल कपड़े का एक चौथाई कपड़ा तैयार करते हैं।[1] ऐसी

१. एम. पी. गांधीकृत Indian Cotton Textile Industry Annual (१९४४) पृष्ठ ६४

स्थिति में हाथ-कते सूत का धन्धा ही इन जुलाहों के धन्धों को स्थायी और ठोस आधार पर कायम कर सकता है।

(९) हाथ से सूत कातने के धन्धे का पुनरुद्धार होने से ग्राम्य-जीवन से संलग्न और तत्सम धन्धों को भी गति मिलेगी और इससे अधोगति को पहुंचे हुए गांवों का बचाव होगा।

(१०) हाथ से सूत कातने का यह अकेला धन्धा ही हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों में सम्पत्ति का न्यायपूर्ण बटवारा कर सकेगा।

(११) किसानों की कुछ महीनों की बेकारी का ही नहीं, बल्कि रोजगार की तलाश में इधर-उधर भटकते फिरनेवाले सुशिक्षित नौजवानों की बेकारी के प्रश्न को भी हाथ से सूत कातने का यह धन्धा ही हल कर सकेगा। यह काम इतना जबर्दस्त है कि इस आन्दोलन का सूत्र-संचालन अच्छी तरह होने के लिए देश के सब बुद्धिमान लोगों की शक्ति संघटित करनी होगी।"

ये सब स्थूल लाभ हुए। इनके सिवा कुछ सूक्ष्म और मानसिक लाभ भी होते थे। श्रद्धा से और वस्त्र-स्वावलम्बन के उद्देश्य से सूत कातने की आदत डाल लेने के कारण स्वयं अपने से दृढ़ निश्चय, एकाग्रता और कष्ट-सहिष्णुता आदि सद्गुण पैदा हो जाते हैं। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि समय का महत्त्व अधिकाधिक प्रतीत होने लगता है। जिसे घण्टों चरखे पर सूत कातने को आदत पड़ गई है वह मनुष्य सहसा अपना समय व्यर्थ नहीं गवायेगा। किसी-न-किसी उपयुक्त व्यवसाय में वह हमेशा संलग्न रहेगा। इसके सिवा अगर वह धार्मिक वृत्ति का मनुष्य हुआ तो कातते समय हमेशा आत्मनिरीक्षण करता रहेगा और इस तरह मन के विकार दूर कर सात्त्विक गुणों का विकास करने के लिए अहर्निश प्रयत्न करता रहेगा। सद्गुणों की वृद्धि और आत्मोन्नति की दृष्टि से चरखे से होनेवाले ये लाभ आर्थिक लाभ की अपेक्षा कुछ कम महत्त्व के नहीं हैं।

३. दूसरे धन्धों से चरखे की तुलना

यहा यह आपत्ति की जा सकती है कि क्या चरखे के सिवा कोई और

दूसरा गृहोद्योग नहीं है; इसलिए अब इस पर विचार करना जरूरी है।

चरखे के सिवा दूसरे बहुत से उद्योग-धन्धे हैं। गृह-उद्योगों में (१) रेशम के कीड़े पालना, (२) मुर्गे, बतख और मछलियों की परवरिश (३) फल-फूल लगाना, (४) सिलाई, (५) टोकरियां बनाना, (६) बढ़ईगिरी अथवा सुतारी (७) डेयरी अथवा दुग्धालय, और (८) हाथ के करघे आदि धन्धे बताये जाते हैं। इन धन्धों के होते हुए भी सिर्फ चरखा चलाने पर ही इतना जोर क्यों दिया जाता है ? क्या ये धन्धे चरखे की अपेक्षा अधिक लाभदायक नहीं हैं ?

इसपर हमारा साधारणतया यह उत्तर है :

(१) ऊपर, सहायक धन्धे के रूप में अनेक दृष्टियों से चरखे की जो उपयुक्तता और विशेषता बताई गई है, वह इन आठ धन्धों में से एक में भी नहीं है।

(२) अन्न के बाद मनुष्य की दूसरी आवश्यकता वस्त्र की है, इस दृष्टि से देखने पर कातने का धन्धा सहायक धन्धा होते हुए भी आवश्यक है। क्योंकि वह आज मरणासन्न स्थिति को पहुंच गया है, इसलिए उसके पुनरुद्धार के लिए प्रयत्न किया जारहा है। उपरोक्त आठों धन्धों की ऐसी स्थिति नहीं है। ये सब धन्धे अभी तक जीवित हैं; उनका ह्रास नहीं हुआ है, इसलिए उनके पुनरुद्धार का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

(३) ये सब धन्धे ऐसे नहीं हैं, जिन्हें सब कोई कर सकें।

इन सब धन्धों में प्रत्येक में क्या दोष है अब उस पर विचार करेंगे।

(१) रेशम के कीड़े पैदा करना

(१) जल-वायु की कुछ विशेष अनुकूलताओं में ही ये कीड़े पैदा होते हैं, इसलिए यह धन्धा सारे हिन्दुस्तान में व्यापक होने योग्य नहीं है।

(२) रेशमी कपड़ा मंहगा होने से आम लोग उसे नहीं ले सकेंगे।

(३) इस धन्धे में हिंसा होने के कारण पापभीरु लोगों को वह त्याज्य लगेगा।

(२) मुर्गे, बतख और मछलियों को पालना

(१) यह धन्धा भी ऐसा नहीं है, जिसे सब तरह के लोग कर सकें। इसमें भी हिंसा है, इसलिए अहिंसक लोगों को यह त्याज्य लगेगा।

(२) हिन्दुस्तान में बहुत से लोग केवल शाकाहारी हैं, इसलिए मांग और खपत का नियम भी यहां लागू होता है। इसलिए सबके लिए यह ग्राह्य नहीं है। लोग शाकाहारी न हों तो भी इसके लिए आवश्यक मांग नहीं रहेगी।

(३) मुर्गों और बतकों में छूत का रोग पैदा होनेपर आठ नौ घण्टे के अन्दर-अन्दर ही—उपचार करते-करते ही सब मर जाते हैं। ऐसी स्थिति में इस धन्धे का विशेष लाभदायक हो सकना सम्भव नहीं है।

(३) फल-फूल पैदा करना

यह धन्धा भी ऐसा नहीं है जिसे सब लोग सब परिस्थितियों में कर सकें। इन फल-फूलों के बोने के लिए हरेक को जो थोड़ी बहुत जमीन और पानी की आवश्यकता होगी, वह कहां से लायगा ? यह सब मानकर चल सकते हैं कि फल खाद्य पदार्थ हैं, इसलिए उनका थोड़ा बहुत उपयोग अवश्य होगा। लेकिन फूल अगर आवश्यकता से अधिक पैदा हों तो उनका क्या खास उपयोग होगा, और इसमें लाभ भी कितना रहेगा ? इसके सिवा उनकी मांग कहां से होगी ? गांवों में इन फूलों का ग्राहक कौन होगा ?

(४) सिलाई और (५) टोकरी बनाना

मांग और खपत का नियम यहां भी लागू होने के कारण ये दोनों धन्धे भी ऐसे नहीं हैं, जिन्हें हर कोई कर सके। ऐसा अनुभव है कि एक बसोड़ दो गांवों की टोकरियों की आवश्यकता पूरी कर सकता है।

(६) बढ़ईगिरी या सुतारी

(१) आबालवृद्ध सब स्त्री-पुरुषों से हो सकने योग्य यह धन्धा नहीं है।

(२) इसके सिवा सब लोग मेज-कुर्सी बनाकर बेचेंगे कहां? इस्तेमाल कौन करेगा ? हिन्दुस्तान के गरीब-निर्धन लोगों के लिए उनका क्या उपयोग

होगा ? गांव की आबादी के लिहाज से साधारणतया एक ही बढ़ई अपना पेट भर सकता है। अनुभव यह है कि इससे अधिक को वहां काम नहीं मिलता।

(७) डेयरी या दुग्धालय

(१) यह धन्धा भी ऐसा नहीं है जिसे सब लोग कर सकें। आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषों के लिए इसमें स्थान नहीं है।

(२) उत्पत्ति और खपत का नियम यहां भी लागू होता है। शहरों के सिवा गांवों में दूध के ग्राहक कहां से मिलेंगे ?

इसके सिवा यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यद्यपि टोकरी बनाने का धन्धा बहुत थोड़ी पूंजी पर चल सकता है; फिर भी दूसरे सब धन्धों के लिए तो कम-ज्यादा तादाद में --कम-से-कम चरखे के लिए आवश्यक पूंजी से अधि॰ तादाद में---पूंजी की आवश्यकता होगी ही, वह सब कहां से आयेगी ? साथ ही इन धन्धों के लिए जो कौशल की आवश्यकता होगी वह सब स्थिति के लोग कहां से पैदा कर सकेंगे ? इन सब धन्धों मे कुछ समय तक उम्मेदवारी किये बिना प्रवेश हो सकना कठिन है। सब परिस्थिति के लोगों को यह तालीम कैसे मिल सकेगी ? एक बात यह और विचारने योग्य है कि इन धन्धों में जितना श्रम पड़ता है उतनी मेहनत कातने के धन्धे में नहीं पड़ती।

इन सब दृष्टियों से उपरोक्त सात धन्धे सहायक धन्धे के रूप में ग्राह्य नहीं ठहरते।

(८) हाथ का करघा

अब रहा हाथ के करघे का धन्धा। हमेशा यह सवाल किया जाता है कि चरखे की अपेक्षा करघे पर मजदूरी अधिक मिलती है, ऐसी दशा में महात्माजी चरखे के बजाय करघे की हिमायत क्यों नहीं करते ? इसलिए इस प्रश्न का उत्तर देना जरूरी है।

पहली बात तो यह है कि करघे का धन्धा हमेशा मुख्य धन्धा ही समझा जाता है, क्योंकि अकेले मनुष्य से यह धन्धा सधता नहीं है। उसके

लिए आदमियों की मदद की जरूरत होती है। अगर मदद करने वाले दूसरे आदमी नहीं तो जुलाहा अपनी इच्छानुसार जब चाहे तब करघे पर बैठकर बुन नहीं सकेगा। इसके सिवा इस धन्धे में कला-कौशल की भी काफी आवश्यकता है, इसलिए आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष वह कर नहीं सकते। साथ ही थोड़ी-बहुत पूंजी की भी आवश्यकता होती ही है। सस्ते-से-सस्ता करघा बिठाने में भी कम-से-कम पचास रुपये तो लग ही जायंगे।

कातने के धन्धे की तरह इस धन्धे का सार्वत्रिक हो सकना सम्भव नहीं है। हिन्दुस्तान में आज २० लाख करघे हैं। अगर वे एक घण्टे में कम से-कम आधा गज के हिसाब से एक दिन में चार गज कपड़ा बुनें, तब वर्ष में काम करने के ३०० दिन गिनने पर भी वे हिन्दुस्तान के लिए आवश्यकता में से २८० करोड़ गज कपड़ा तैयार कर सकेंगे। आज के भाव से हिसाब करने पर उन्हें अधिक-से-अधिक बारह आने से एक रुपया रोज तक मजदूरी पड़ेगी। अवश्य ही इस मजदूरी में जुलाहे के परिवार के लोगों का भी हिस्सा होगा, क्योंकि वे लोग उसके काम में मदद करते हैं। इस हिसाब से उपरोक्त आमदनी को परिवार के सब लोगों पर बांटा जाय तो वह और भी कम ठहरती है; इसके सिवा यह हिसाब लगाते समय यह मानकर चला गया है कि विदेशी कपड़े का बहिष्कार पूर्णतः सफल हो गया है और देशी मिलें अपनी उत्पत्ति अधिक नहीं बढ़ावेंगी। मतलब यह कि मौजूदा जुलाहे ही सारे हिन्दुस्तान के लिए फी आदमी २८ गज के हिसाब से मिलों की उत्पत्ति के अतिरिक्त लगने वाला आवश्यक कपड़ा बुन सकते हैं। ऐसी दशा में सब लोगों से इस धन्धे को करने के लिए कहा जाय तो आवश्यकता की अपेक्षा उत्पत्ति अधिक होगी और राष्ट्र के सामने उस को ठिकाने लगाने का एक जबर्दस्त प्रश्न खड़ा हो जायगा! दूसरे शब्दों में यों कहना होगा कि उत्पत्ति के अधिक होने पर बेकारी फिर बढ़ जायगी, और इस तरह जिस बात को हम टाल सकते थे, वही हमारे सिर चढ़ बैठेगी!

मिल का सूत और हाथ के करघे की बुनाई

अगर बुनकर या जुलाहे का धन्धा सार्वत्रिक हो गया तो उसकी सूत

को आवश्यकता की पूर्ति कहां से होगी ? अगर मिलों से यह आवश्यकता-पूर्ति की जाय तो बुनकरों को सर्वथा उन्हीं पर अवलम्बित रहना पड़ेगा और मैदान में अपना कोई प्रतिस्पर्धी न देखकर मिलें अपनी मर्जी के मुताबिक सूत का भाव बढ़ाकर जुलाहों को जितना भी सम्भव हो सकेगा महंगा बेचेंगी ! इसके सिवा, जुलाहे जिस नमूने का कपड़ा बुनेंगे खुद मिलें भी उसी नमूने का कपड़ा बुनने लगेंगी,—बुनने लगी भी हैं। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र की ओर सूती जनानी साड़ियां बुनने में उन्होंने सफलता प्राप्त की है। इन हाथबुनी साड़ियों की मांग दिन-पर-दिन अधिक बढ़ती जाती है। इन के बुनने वाले जुलाहे इधर-उधर मिल के सूत पर अवलम्बित रहने लगे थे। नतीजा यह हुआ कि उन्हें वह सूत अब बहुत महंगा मिलने लगा, जिससे अब उस धन्धे में कोई खास मुनाफा नहीं रहा। इस सङ्कट के कारण हजारों जुलाहों को अपना वह धन्धा छोड़ना पड़ा है। सूत के सम्बन्ध में मिलोंपर अवलम्बित रहने के कारण उन पर यह आपत्ति आई !

चरखा और हाथ-करघा, ये धन्धे परस्पर पूरक हैं; जबकि मिल के सूत और हाथ के करघे में परस्पर स्पर्धा है। सूत की आवश्यकता पूर्ति के लिए मिलों पर अवलम्बित रहकर सिर्फ बुनाई के काम मे मिलों को मात देना स्वभावतः ही असम्भव है। मिल का सूत लेकर हाथ-करघे पर उसका कपड़ा बुनना और उसको उसी नम्बर के सूत के मिल के कपड़े की अपेक्षा सस्ते भाव में बेचने का प्रयत्न करना ऐसा ही है जैसा कि दूसरे के कंधे पर चढ़कर उससे आगे दौड़ने का प्रयत्न करना !

मिल का सूत और हाथ-करघे की बुनाई के हिमायती लाग यह समझते हैं कि—

(१) मिलों को अपने सूत का कपड़ा बुनकर बेचने की अपेक्षा सूत बेचने में अधिक मुनाफा रहता है।

(२) मिलें हाथ के करघों की सुविधा के लिए ही सूत तैयार करती हैं। सन् १९०० में १९३ मिलें थीं और उनमें ५ लाख तकुवे थे। मशीन करघे सिर्फ ४० हजार ही थे। अब १९४४ में मिलें ४०५ तक बढ गई हैं।

उनमें तकुवों की संख्या १० लाख याने पहले से दुगुनी है। लेकिन करघों का संख्या २ लाख तक बढ़ी है। यानी पांच गुनी बढ़ी। ऐसी हालत में बुनकरों को मिल का सूत कैसे मिलता रहेगा।

(३) हाथ-करघों के बुनकर जिस तरह का कपड़ा बुनेंगे, मिलें उस तरह का कपड़ा नहीं बुनेंगी।

लेकिन उनके ये तीनों ही मुद्दे कमजोर है।

(१) अपना सूत बेचने की अपेक्षा मिलों का उसका कपड़ा तैयार कर बेचना अधिक लाभप्रद होता है।

(२) अपने खुद के स्वार्थ के लिए मिलें खड़ी की जाती हैं। हाथ-करघे की सुविधा अथवा लाभ का खयाल उनके विचार-क्षेत्र में नहीं आता।

(३) अनुभव से यह बात गलत सिद्ध हुई है कि मिलें, कुछ थोड़े से खास नमूनों को छोड़कर, हाथ-करघों के बुनकर जिस तरह का कपड़ा बुनते हैं वैसा कपड़ा नहीं बुनेंगी।'

सारांश यह कि इस बात को खुद जुलाहे स्वीकार करते हैं कि मौजूदा जुलाहों को अगर जीवित रहना हो तो उन्हें हाथ के कते सूत का पल्ला पकड़ना चाहिए। उसीमें उन्हें लाभ है और इस दृष्टि से देखने पर हाथ से सूत कातने के धन्धे ही सार्वत्रिक हो सकना सम्भव है,क्योंकि एक जुलाहे को दस कतवारियों के सूत की आवश्यकता होता है। मिल का सूत और हाथ-करघे की बुनाई की हिमायत करनेवालों को यह बात खास तौर पर ध्यान में रखनी चाहिए कि जुलाहे अगर मिलों के सूत पर अवलम्बित रहे तो वे खुद तो बेकार होंगे ही, साथ-ही उनका यह कार्य देश की करोड़ों कत्तिनों के पेट पर लात मारने के समान होगा।

(४) कुछ गलतफहमी का निराकरण

कुछ लोग यह पूछते हैं कि महात्माजी बार-बार जो यह कहते हैं कि सूत कातो, सूत कातो, तब क्या इसका मतलब यह है आजीविका का

१. Indian Cotton Textile Industry annual, 1944 पृ० १०४-५

धन्धा छोड़कर चरखा कातने बैठें ? इसका सहज उत्तर यह है कि महात्माजी ने कभी प्रतिपादित नहीं किया कि लोग दूसरे धन्धे छोड़कर चरखा कातने बैठें। सूत कातने को सहायक धन्धा[1] मानकर ही महात्माजी ने उसकी हिमायत की है।

अगर हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश न होता, यहां रुई पैदा न होती, कपड़े के लिए प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये विदेश को न जाते होते, देश को अधिक कपड़े की जरूरत न रहती किसानों के वर्ष में कम-से-कम तीन-चार महीने बेकारी और आलस्य में न बीतते होते, चरखा चलाने की परिपाटी न होती; चरखे की ऐसी बनावट न होती जिससे कि वालक से लेकर बूढ़े तक स्त्री-पुरुषों के लिए उसपर काम करना सुलभ और सुसाध्य होता, और शरीर-संरक्षण के लिए कपड़े की अनिवार्य आवश्यकता न होती तो 'चरखे और खादी' पर महात्माजी ने इतना तूमार न बांधा होता! कल्पना कीजिए कि हिन्दुस्तान में प्रतिवर्ष बाहर से जो माल आता है, उसमें बिस्कुटों पर राष्ट्र का अधिक-से-अधिक पैसा विलायत को जाता, हिन्दुस्तान के लोग घर पर भोजन बनाना छोड़कर बाजार से विलायती बिस्कुट लाकर खाने पर टूट पड़े होते तो उस दशा में महात्माजी ने इसी बातपर जोर दिया होता कि हिन्दुस्तानियों को घर-घर चूल्हे की प्राण-प्रतिष्ठा कर अपने खेत अथवा तहसील, जिला, प्रान्त एवं देश में उत्पन्न हुए गेहूं के ही बिस्कुट तैयार करके खाने चाहिए! देश की विशेष परिस्थिति का सब दृष्टियों से विचार करने के बाद ही गांधीजी ने चरखे और खादी की हिमायत की है।

गांधीजी की विचार-सरणी स्पष्ट है। राष्ट्र की वर्तमान परिस्थिति में खादी का पुनरुद्धार करनें के बजाय कोई दूसरी बात करना आवश्यक होता तो महात्माजी ने उसके लिए भी उतना ही भगीरथ प्रयत्न किया होता! उदाहरणार्थ अगर राष्ट्र ने ज्वार-बाजरा खाना छोड़कर स्काटलैण्ड से 'ओट' अथवा रूस से 'राय' नामक अनाज मंगाना शुरू कर दिया होता तो महात्माजी कहते—"मैं राष्ट्र के—जनता के—रसोईघरों में घुसकर उसकी (राष्ट्र की)

१. देखिए 'यंग इण्डिया' भाग १ पृष्ठ ५२३

शक्तिभर भर्त्सना करूंगा, वहां धरना लगाकर बैठ जाऊंगा और लोगों को अपने हृदय की वेदना सुनने के लिए बाध्य करूंगा।" अभी हाल के जमाने में इस तरह बातें हुई हैं। गत महायुद्ध के समय राष्ट्रों ने अपनी जनता पर यह पाबन्दी लगाकर कि उसे अमुक प्रकार की ही फसल बोना चाहिए, उसके खान-पान पर नियन्त्रण लगाया था।[1]

प्रत्येक राष्ट्र को अपनी-अपनी स्थिति देखकर कार्य करना पड़ता है। "महायुद्ध के समय इंग्लैण्ड और अमेरिका के राष्ट्रों को जितने भी आदमी मिलना सम्भव था उन सबको जहाज बनाने के काम में लगा दिया गया और लोगों ने अत्यन्त आश्चर्यजनक गति से वह काम पूरा करके दिखा दिया।" महात्माजी कहते हैं—"मुझे अपनी इच्छानुसार काम करने की सुविधा हो तो जो कोई भी भारतीय सज्जन मुझे मिले मैं हरेक को कातना अथवा बुनना सीखने पर मजबूर करूंगा और दिन के कुछ विशेष समय तक राष्ट्र के लिए काम करने में लगाऊंगा। स्कूल-कालेज बनी बनाई सुसंगठित इकाइयां हैं, इसलिए मैं वहीं से शुरुआत करता!"[2]

इस सारे विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गांधीजी ने हिन्दुस्तान की गरीबी, अकाल और बेकारी की हालत में क्यों चरखे को ही सहायक धन्धे के रूप में ढूंढ़ निकाला और किस तरह बालक से लेकर बूढ़े तक सब स्त्री-पुरुष अपने फुरसत के समय में उसे कर सकते हैं।

१. 'यंग इण्डिया' भाग २ पृष्ठ ४७६

२. 'यंग इण्डिया' भाग १, पृष्ठ ४८६। इसी विचारसरणी पर 'वर्धा-शिक्षण-पद्धति' का निर्माण हुआ है।

: ९ :

खादी और मिलें

"मिलों की काफी वृद्धि होने पर भी वे भारत की दरिद्रता के प्रश्न को हल कर नहीं सकतीं ।"[1]—गांधीजी

इस अध्याय में हमें इस बात पर विचार करना है कि राष्ट्र के आत्यन्तिक कल्याण की दृष्टि मे किस प्रकार मिलों की अपेक्षा चरखा ही अधिक श्रेष्ठ है ।

मिल और चरखे का विचार करते समय नीचे लिखी बातों को पहले ध्यान में रखकर फिर आगे बढ़ना चाहिए :

(१) हिन्दुस्तान संसारभर में सबसे अधिक निर्धन राष्ट्र है;

(२) हिन्दुस्तान कृषिप्रधान राष्ट्र है और उसकी ८९ फीसदी जनता गांव में रहनेवाली है; और

(३) गांवों में रहनेवाली इस खेतिहर—किसान—जनता को वर्ष मे कम-से-कम चार महीने कुछ काम नहीं मिलता ।

पहले आर्थिक दृष्टि से मिलों का विचार करें । एक मिल जारी करना हो तो लगभग १५ से २० लाख तक रुपये खर्च पड़ता है । बारह-तेरह लाख रुपये तो सिर्फ मशीनों के भारतीय तट पर उतारते ही लग जाते हैं । इमारतों का खर्च इससे अलग है । हिन्दुस्तान में यद्यपि पहली मिल सन् १८१८ में स्थापित हुई थी, फिर भी इस सम्बन्ध में असली शुरुआत सन् १८५१ में ही हुई । तब से लेकर सन् १९४४ के अगस्त के अन्त तक ९३ वर्ष की अवधि में हिन्दुस्तान में कपड़े की कुल ४०५ मिलें काम करने लगी हैं ।

इन मिलों की उत्क्रान्ति का इतिहास मनोरञ्जक और बोधप्रद है । नीचे के अंकों से यह स्पष्ट दिखाई देगा कि इन मिलों के जारी करने में

१. 'यंग इंडिया' भाग १, पृष्ठ ४८६

अपने देश के पूंजीपतियों का साहस जिनता कारणीभूत हुआ है उससे कहीं अधिक लोगों की बढ़ती हुई स्वदेशी की भावना किस प्रकार सहायक रूप हुई है :

सन्	नई मिलें	सन्	नई मिलें
१८७६ से १८८०	९	१९११ से १९१५	६
१८८१ से १८८५	३१	१९१६ से १९२०	१६
१८८६ से १८९०	५०	१९२१ से १९२५	८४
१८९१ से १८९५	११	१९२६ से १९३०	३
१८९६ से १९००	२५	१९३१ से १९३५	१७
१९०१ से १९०५	२४	१९३६ से १९४०	२३
१९०६ से १९१०	६६	१९४१ से १९४४	१७

इन अङ्कों से चतुर पाठकों के ध्यान में यह बात तुरन्त ही आ जायगी कि जब राष्ट्रीय आन्दोलन का पारा ऊंचा चढ़ता था तभी मिलों में वृद्धि हुई है । सन् १८८५ में कांग्रेस स्थापित हुई; १८९६ में लोकमान्य तिलक आदि राष्ट्रीय नेताओं पर राजद्रोह के मुकदमे चले, १९०५ में बङ्ग-भंग का, १९२१ में असहयोग का और १९३०-३१ में सविनय कानून भंग का आंदोलन चला । पाठक देखेंगे कि जब-जब ये जोरदार आंदोलन चले, तब-तब पूंजीपतियों को मिलों की वृद्धि करने का पूरा मौका मिला है ।[1]

इन मिलों में अगस्त सन् १९४४ के आखिर तक ५२,७२,००,००० रु० की पूंजी लगाई गई, जिससे इनमें १०,१९,७०० तकुवे और २,०२,००० करघे चलते हैं और सिर्फ ५०४,००० मजदूरों को काम मिलता है ।[2]

इस पर से हम यह देख सकते हैं कि—

(१) कपड़े की मिलें स्थापित करने में भारी पूंजी की आवश्यकता होती है;

१. Indian Cotton Textile Industry Annual १९३७ पृ० १००

२. „ „ „ „ १९३८ पृ० २४

(२) हिन्दुस्तान की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए, इस धन्धे में बहुत कम मजदूरों को काम मिल सका है; और

(३) इन मजदूरों को जो मजदूरी मिलती है उसका अगर कुल मिला कर विचार किया जाय तो वह बहुत कम ठहरती है; मजदूरों की अपेक्षा पूंजी लगाने वाले, संयोजक और दलालों की संख्या बहुत कम होते हुए भी उनकी आय कई गुना अधिक होती है !

इसके विपरीत, नीचे दिये हुए विवरण से प्रतीत होगा कि चरखे और खादी में पूंजी कम लगती है, यह धन्धा करोड़ों लोगों को काम दे सकता है और इस में दी जाने वाली कुल मजदूरी की तादाद बहुत है और पूंजीपतियों और दलालों को रक्त-शोषण का मोका नहीं मिलता ।

हिन्दुस्तान की मिलों के युद्ध-पूर्व काम का दस वर्ष का औसत निकाला जाय तो हम यह देखेंगे कि कपड़े की कीमत पर करीब छः फीसदी 'ब्याज' के तौर पर दिया जाता है। हिस्सेदार (शेअर-होल्डर्स) और मैनेजिंग एजेण्ट्स आदि दूसरे लोगों को 'नफे' के नाम से जो रकम दी जाती है, वह करीब आठ रु० सैकड़ा होती है। खादी के काम पर देख-रेख रखने के लिए जितने आदमियों की जरूरत होती है, उनकी अपेक्षा मिलों के काम की देख-रेख रखने के लिए आदमियों की संख्या तादाद में कहीं ज्यादा होती है। व्यवस्था का नाम लेकर सिर्फ व्यवस्थापक को ही करीब पांच फीसदी रकम दी जाती है। मिलों के मजदूरों को मजदूरी के नाम पर कपड़े की कीमत का करीब बीस सैकड़ा दिया जाता है। कोयला और दूसरी वस्तुओं का किराया, ब्याज और मुनाफे आदि में बारह फीसदी और मशीनों की घिसाई आदि के नाम पर चार फीसदी खर्च होता है।

इसके विपरीत खादी के काम में ब्याज तो सर्वथा उपेक्षणीय होता है। नफे के लिए बहुत कम मोका मिलता है, क्योंकि खादी जहां तैयार होती है वहीं उसे खपाना पड़ता है और जैसे-जैसे तेयार होती है, वैसे-वैसे ही खपानी पड़ती है, इसलिए बहुत कर भाव में चढ़ाव का मोका नहीं रहता और इस-लिए नुकसान का धोखा भी कदाचित् ही रहता है। उत्पत्ति-केन्द्र की व्यवस्था

पर खर्च बहुत कम होने के कारण मजदूरी के रूप में ७० फीसदी रकम कारीगरों के हिस्से में आ जाती है ! खादी के उपकरण चरखे आदि की मामूली दुरुस्ती तो उस पर काम करने वाले लोग खुद ही कर लेते हैं। उसमें कोई खास बिगाड़ हो जाय तो गांव के सुतार-लुहार से वह ठीक कराया जा सकता है। उसके लिए जो मजदूरी देनी पड़ती है वह कुछ आनों से ज्यादा नहीं होती।

अभी हिन्दुस्तान की मिलें करीब १२५ करोड़ रुपये का कपड़ा तैयार करने लगी हैं। इसमें से मजदूरी के रूप में सिर्फ पचीस करोड़ रुपये ही जाते हैं। इसके विपरीत अगर १२५ करोड रुपये की खादी तैयार की जाय तो उसमें से ८५ करोड़ रुपये मजदूरी के रूप में बांटे जायंगे। १२५ करोड़ रुपये का कपड़ा तैयार करने के लिए जितनी रुई काम में लाई जाती है, उतनी रुई की खादी तैयार की जाय तो खादी का मौजूदा भाव ही कायम रहेगा यह मानकर चलने पर वह २७५ करोड़ रुपयों में बिकेगी और इन २७५ करोड़ में से १९० करोड़ रुपये मजदूरों को मजदूरी के रूप में चुकाये जायंगे।

फिर, मिलों के मजदूरों को जो २५ करोड़ रुपये बांटे जायंगे वे सिर्फ पांच लाख लोगों में ही बांटे जायंगे। हरेक मजदूर को डेढ़ रुपया रोज मिलेगा। लेकिन खादी के मजदूरों को मजदूरी के रूप में जो १९० करोड़ रुपये बांटे जायंगे। वे उन लोगों में बांटे जा सकते हैं, जिनको वर्ष में चार महीने काम नहीं मिलता। शहरों में मिल के मजदूरों को मिलने वाली मजदूरी मकान-किराया, ब्याज, मुनाफा आदि के रूप में फिर शहरी लोगों में ही बंट जायगी; लेकिन खादी के कारीगरों को मिलने वाली मजदूरी गांव-की-गांव में ही रह कर उसके जरिये वहां के जुदा-जुदा धंधे वाले लोगों का पोषण होता रहेगा।

मिलें हिन्दुस्तान के सिर्फ ५ लाख लोगों को ही काम देती हैं। मान लीजिए कि मिलों के व्यवसाय में लगे हुए मजदूरों के सिवा हिन्दुस्तान में जितने मजदूर हैं, उन सबको मिलों में काम दिया जाय तो हिन्दुस्तान में

एक वर्ष म इतना कपड़ा तैयार होगा कि वह सारे संसार के लिए कई वर्षों के लिए काफी होगा। अगर हिन्दुस्तान इस अतिरिक्त कपड़े को दूसरे राष्ट्रों पर लादने में सफल हुआ तो दूसरे राष्ट्रों के करोड़ों लोग बेकार हो जायंगे और उन्हें अन्न तक के लाले पड़ने लगेंगे। बलवान राष्ट्र, दूसरे राष्ट्रों पर अपना माल लादने के इस अधिकार का प्रयोग अपने हाथ में रखने के लिए दौड़-धूप करते हैं। दूसरे देशों पर अधिकार, उपनिवेशों का विस्तार, अन्तर्राष्ट्रीय चढ़ा-ऊपरी, युद्ध और उपरोक्त दौड़-धूप इनमें कभी भी अन्तर नहीं किया जा सकेगा। मिलों द्वारा की गई कपड़े की उत्पत्ति एक राष्ट्र के कुछ प्रान्त और कुछ व्यक्तियों के जीवन को ही खतरे में नहीं डालती, बल्कि वह अनेक राष्ट्रों के सुख, स्वातन्त्र्य, सुरक्षितता और प्रामाणिकता को भी कम कर देती है।[1]

मिलों से आज जो सूत निकलता है वह औसत १८-२० नवम्बर का होता है। अगर इसी नम्बर का सूत चरखे पर काता जाय और प्रत्येक चरखा प्रतिदिन आठ घण्टे जारी रखा जाय तो प्रत्येक चरखे पर प्रतिदिन कम-से कम आठ तोले सूत निकलेगा। और वर्ष में काम के सिर्फ ३०० दिन गिने जांय तो इस हिसाब से वर्ष के अन्त में ६० पौण्ड सूत तैयार होगा। अगर सूत १०-१२ नम्बर का काता जाय तो १०० पौण्ड निकलेगा। लेकिन अगर मिल के सूत से तुलना करनी हो. तब उस मिल के सूत को २८ नम्बर का मानकर चलने पर अभी हिन्दुस्तान की ४०५ मिलों में करीब-करीब ९३ करोड़ रुपये खर्च करके जो १,६८,०४,६३,०००पौण्ड सूत निकलता है, उसका सूत आठ घण्टे के दिन के औसत से वर्ष के ३०० दिन काम करने पर २ करोड़ ८० लाख ७ हजार ७१७ चरखे निकाल सकेंगे। अगर यह मानकर चलें कि सब चरखे नये ही चलाने पड़ेंगे—वास्तव में ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि आज भी देश में जगह-जगह पर चरखे मौजूद हैं—तो भी मिलों पर अभी तक जो ५३ करोड़ रुपये खर्च हुए उसका दसवां भाग अर्थात् ५.३ करोड़ रुपये भी इसमें नहीं लगेंगे।

१. गुलजारीलाल नंदा कृत 'खादी के कुछ पहलू' अध्याय

मि० एर्नो पियर्स का मत है कि इस समय देश में ५ करोड़ चरखे मौजूद हैं।[१] लेकिन श्री एम० पी० गांधी का मत है कि उक्त संख्या अतिशयोक्तिपूर्ण है। उनके अनुमान से देश में चरखों की तादाद ५० लाख है। अगर यह मानकर भी चलें कि यह दूसरी संख्या ठीक है तो भी ऊपर जो यह अनुमान किया गया है कि चरखे जारी करने में ५। करोड़ रुपये लगेंगे, उसमें परिवर्तन करना जरूरी नहीं दीखता।

ऊपर के हिसाब में हम यह कह आये हैं कि प्रतिदिन आठ घण्टे के हिसाब से दो करोड़ ८० लाख चरखे चलने चाहिए। ऊपर यह भी दिखाया जा चुका है कि अपने देश में खेती पर काम करनेवाले लोगों के पास वर्ष में औसत ४ महीने कुछ काम नहीं रहता। इनमें से अगर हरेक प्रतिदिन ४ घण्टे काम करे तो भी सिर्फ चार महीने में ही देश के लिए आवश्यक सारा सूत सहज ही तैयार हो जायगा।

इस विवेचन से कोई यह न समझ बैठे कि इस समय मिलों का हम विरोध करते हैं। हमें तो सिर्फ इतना कहना है कि—

"खादी और मिलों में स्पर्धा नहीं होना चाहिए और शुद्ध दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पर्धा है भी नहीं।

"चरखा करोड़ों लोगों का गृह-उद्योग—घरेलू धन्धा—और जीवन का आधार है। अगर मिलों का धन्धा इस तरह चला अथवा चलने दिया गया जिससे कि उसके चरखे का नाश हो जाय तो यह मानना होगा कि मिलों का यह धन्धा करनेवाले और उसे चलने देनेवाले लोकहित का विचार नहीं करते।

"इस विचार-सरणी का ध्यान में रखने पर अगर मिलें कायम रहनी हैं तो उनका क्षेत्र चरखे के क्षेत्र के बाहर रहना चाहिए। अर्थात करोड़ों लोग जिस तरह का सूत कात और बुन सकते हैं, मिलों को वैसा सूत और कपड़ा तैयार करने की मनाई होनी चाहिए।"[२]

१. Tariff Board 1932.

२. किशोरलाल मशरूवाला कृत 'गांधी-विचार-दोहन' द्वितीय संस्करण पृ० १५८

महात्माजी कहते हैं—"मिलों की संख्या में कितनी ही वृद्धि क्यों न हो, वे हमारी दरिद्रता की समस्या को हल नहीं कर सकतीं, हमारा जो रक्त-शोषण हो रहा है, उसे रोक नहीं सकतीं और हमारी झोंपड़ियों में १२५ करोड़ रुपये नहीं बांट सकतीं। वे केवल सम्पत्ति का और मजदूरों का केन्द्रीकरण करती हैं और इससे 'एक तो बन्दर स्वभाव से ही चंचल और ऊपर से उसे पिला दी शराब' ऐसी स्थिति हो जाती है।"[१]

अब सामाजिक और नैतिक दृष्टि से इन मिलों पर नजर डालिए—

"गति बढ़ानेवाली, बड़े परिमाण में काम करनेवाली, श्रम बचाने वाली, श्रम का विशेषवर्गीकरण करनेवाली पाश्चात्य आर्थिक पद्धति ने—मशीनों ने—व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का बहुत नुकसान किया है; क्योंकि शहरों में घनी बस्तियों में, चालों में रहने और मिलों में कई घण्टे काम करने से स्वास्थ्य पर बुरा असर होता है। शहर में इस तरह का जीवन बिताना पड़ता है, इस कारण गांव में बिताये गये जीवन में खण्ड पड़ता है। इसके सिवा बेकारी, हड़ताल, पूंजीपति और मजदूरों के बीच बढ़ते जाने वाला खिचाव और व्यापार के सम्बन्ध में एक दूसरे राष्ट्र के बीच बढ़ती जानेवाली प्रतिस्पर्धा और युद्धों के कारण व्यक्तियों और समाज की अत्यन्त हानि हुई है।"[२]

लंकाशायर और यॉर्कशायर के स्त्री-पुरुषों को मशीनें राक्षस के समान प्रतीत होती हैं। मशीनों ने उनको सारी कल्पना-शक्ति और कुशाग्र-बुद्धि को नष्ट कर दिया है। जबसे इस प्रचण्ड शक्ति ने उनके जीवन में प्रवेश किया है, तभी से उनके प्रचलित व्यवहार, उनकी स्वतन्त्रता और उनके कौटुम्बिक एवं गार्हस्थिक सम्बन्ध नष्ट हो गये हैं और पुरुष और स्त्री के नाते उनका वैभव और शील भ्रष्ट हो गया है।"[३]

१. "यंग इण्डिया" भाग १ पृ० ५८६

२. ग्रेग "Economics of Khaddar" पृ० २५५

३. तालचेरकृत "Charkha Yarn" पृ० ६०–६१ में श्रीमान् और श्रीमती हेमण्ड

श्री विपिनचन्द्र पाल पश्चिमी देशों में घूमे हुए सुप्रसिद्ध भारतीय थे, उन्होंने पश्चिमी देशों की प्रत्यक्ष स्थिति खुद अपनी आंखों से देखी थीं। वह लिखते हैं—

"युनाइटेड किंगडम (इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, वेल्स और आयलण्ड) और अमेरिका के औद्योगिक केन्द्रों के निरीक्षण करने पर मन पर यह दुःखदायक छाप पड़े बिना नहीं रहती कि आधुनिक औद्योगिक पद्धति के कारण मानव शरीर, मन और आत्मा का नाश हो गया।"[१]

विपिन बाबू उपरोक्त एक ही निर्णय करके चुप नहीं रह गये। वह एक महत्त्व की सूचना भी देते हैं—

"अपनी संस्कृति और शील मे नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से जो उत्तमोत्तम वस्तु है अगर हमें उसकी रक्षा करनी है तो आधुनिक पूंजीपतियों के औद्योगिक हमलों का जोरों से प्रतिकार करना चाहिए।"[२]

ऊपर के सारे विवेचन से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि—

(१) चरखे के जरिये हिन्दुस्तान के बेकारों को काम मिलकर उनकी व्यर्थ जानेवाली शक्ति का उपयोग होता है, और

(२) चरखा और मिलों के लिए आवश्यक मशीनों के उपयोग में आने के पहले और उनके तैयार होने पर उनके ढोने, उन्हें ठिकाने पर बैठाने अथवा फिट करने, चलाने और दुरुस्त करने आदि में कितनी सूर्य-शक्ति खर्च होती है, इस एंजीनियरी की दृष्टि से,

(३) मिलों के मजदूरों को मजदूरी के रूप में कपड़े की कीमत में से सिर्फ २० फीसदी मिलता है, लेकिन खादी की कीमत में से मजदूरों के हिस्से में ७० फीसदी आता है, इस आर्थिक दृष्टि से,

(४) चरखे से आरोग्य और शील की रक्षा होती है, इस नैतिक दृष्टि से,

१. "New Economic menace to India" पृ० २१३
२. " " पृ० २१८

(५) चरखा वस्त्र-स्वावलम्ब का साधन है, इस दृष्टि से,

(६) चरखे के कारण पैसे का समान बंटवारा होकर समाज में सर्वत्र सन्तोष फैलता है और समाज की अस्त-व्यस्त हुई स्थिति सुधरती है, इस सामाजिक दृष्टि से, और

(७) चरखे में सन्निहित तत्व और परम्परा का समष्टि रूप से विचार करते हुए भारतीय संस्कृति की दृष्टि से मिलों की अपेक्षा चरखा ही अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

पश्चिमवासी और उनका अन्धानुकरण करने वाले दूसरे लोग मशीनों की सिर्फ बाहरी और ऊपर-ऊपर दीखनेवाली उपयोगिता की तरफ ही ध्यान देते हैं; लेकिन पूर्वीय लोग किसी वस्तु का समाज, राष्ट्र और संस्कृति पर क्या परिणाम होता है, और समाज का स्वास्थ्य तथा स्थैर्य किस बात में है, इसका दीर्घ दृष्टि से विचारकर उसकी उपयोगिता—अनुपयोगिता का निश्चय करते हैं। पूर्वीय लोग प्रत्यक्ष लाभ की तरह अप्रत्यक्ष लाभ और हानि पर ध्यान देते हैं। यह बात नहीं है कि हमारे पूर्वजों को मशीनें बनाना न आता हो। महात्माजी कहते हैं—

"सब लोग अपना-अपना व्यवसाय करते थे और प्रचलित पद्धति के अनुसार मजदूरी लेते थे। यह बात नहीं है कि हमारे पूर्वज यंत्रों का आविष्कार नहीं कर सकते थे, बल्कि उन्होंने देखा कि यंत्रों आदि के जाल में फंसकर लोग गुलाम ही बनेंगे, और नीति-धर्म को छोड़ देंगे। विचार करके उन्होंने यह कहा कि अपने हाथ-पैरों से जो किया जा सके वही किया जाय। हाथ-पैरों का उद्योग करने में ही सच्चा सुख है। उसी में आरोग्य है।"[१]

यहां तक मिलों और चरखों का विचार कर हमने देखा कि राष्ट्र के आत्यन्तिक कल्याण की दृष्टि से किस प्रकार चरखा मिल की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। इसके सिवा यह भी दिखाई देता है कि "कला-कौशल की दृष्टि से भी चरखे और हाथ के करघे का स्थान श्रेष्ठतर है।

दूसरे अध्याय में यह हम देख ही चुके हैं कि कला-कौशल की दृष्टि

१ हिन्द स्वराज्य

से विचार करने पर चरखे पर कितना बारीक सूत निकलता है। आज भी एकाध कारीगर चरखे पर ५०० नम्बर का सूत निकाल सकता है। लेकिन उसी अध्याय में हम यह भी देख चुके हैं कि क्लेअर आदि अंग्रेज यन्त्र-कला-विशारदों ने स्वीकार किया है कि चाहे जैसी मशीन की योजना करने पर भी उसपर ५०० नम्बर का सूत नहीं निकलेगा।

"चरखे और हाथ के करघे पर काम करने पर कारीगरों को अपना हस्त और बुद्धि-कौशल दिखाने का जैसा मौका मिलता है, वैसा मशीनों पर काम करते हुए नहीं मिलता।"[१] "कुछ तरह के और दरजे के कपड़े ऐसे भी हैं जिनके लिए हाथ के करघे की होड़ मिल का करघा न तो करता है, न सफलता-पूर्वक कर सकता है।"[२] मद्रास-सरकार के बुनाई-कला के विशेषज्ञ श्री अलमसाद कहते हैं—"विवाह और दूसरे मांगलिक कामों के समय उच्च वर्ण की हिन्दू-स्त्रियां विशेष रूप से अत्यन्त सुन्दर नयन-मनोहर,जरी के बेल-बूटे और भांति-भांति के जरी के किनारेवाली उत्तम साड़ियां भी पहनती हैं। ये कपड़े साधारण यन्त्र-बल (मशीनों) से चलनेवाले करघों में बन ही नहीं सकते।"[३]

छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों में लगे हुए कारीगरों का कौशल नष्ट न होने देने के सम्बन्ध में प्रिन्स क्रोपाटकिन ने जो चिन्ता प्रकट की है वह प्रशंसनीय है। वह कहते हैं—छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों की विचित्रता और उनमें लगे हुए कारीगर लोगों का कौशल और शोधक-बुद्धि देखकर कुतूहल-सा मालूम होता है। लेकिन यहां यह प्रश्न बरबस उत्पन्न होता है कि उत्पत्ति की अधिक कार्यक्षम योजना में इस सारी बुद्धिमत्ता और कलाकुशलता का उपयोग करके उन्हें प्रगति का नूतन और सजीव उद्गम स्थान बनाया जाय अथवा मिलों की रगड़पट्टी में उन्हें कुचल दिया जाय? क्या कारीगरों की

१. वी० ए० तालचेर कृत, "Charkha Yarn"; साथ ही ग्रेग कृत "Economics of Khaddar" पृ० ३९

२. ग्रेग "Economic of Khaddar" पृ० ३८

३. " " " " पृ० ३९—४०

स्वतन्त्रता और शोषक-बुद्धि मिलों के सपाटे में नष्ट करनी ही चाहिए ? वह नष्ट होगई तो मानव-प्राणियों का अध्ययन करनेवाले अर्थ-शास्त्रज्ञों के मतानुसार क्या उस स्थिति में वह देश की प्रगति का सूचक होगा।"[१]

क्या प्रिन्स क्रोपाटकिन का यह प्रश्न अर्थ-शास्त्रज्ञों की विचार-शक्ति को गति देने वाला नहीं है ? अस्तु।

अब टिकाऊपन की दृष्टि से विचार करेंगे। 'संसार में हाथ के व्यवसायों का स्थान' शीर्षक परिशिष्ट नम्बर २ में हमें दिखाई देगा कि स्काटलैण्ड की हैरिसट्वीड कम्पनी के हाथ के करघे के माल की जो इतनी संसार-व्यापी प्रसिद्धि हुई है इसका कारण उसका टिकाऊपन है। लेकिन यह तो हुई स्काटलैण्ड की बात। स्वयं हिन्दुस्तान का भी अनुभव ऐसा ही है। मध्यप्रान्त के मि० रिवेटकरनेक ने सन् १८७० में स्वीकार किया है कि "मिलों का माल देशी माल को निर्मूल कर नहीं सका। क्योंकि देशी माल अत्यन्त मजबूत होने के कारण उससे गर्मी,बरसात और सर्दी का निवारण होता है और धोबी से कितनी ही बार धुलाने पर भी उसकी उपयुक्तता में कमी नहीं आती।"[२] श्री अमलसाद कहते हैं—"अनेक वर्षों से सर्वथा गरीब लोगों की यह निश्चित धारणा चली आरही है कि मिलों के कपड़े की अपेक्षा हाथ से बुने हुए कपड़े अधिक टिकाऊ होते हैं। उनकी इस धारणा में जरा भी अन्तर पड़ा दिखाई नहीं देता।"[३]

"मिल अथवा मशीनों के माल की अपेक्षा हाथ के कते सूत और हाथ के करघे पर बुनी खादी अधिक टिकाऊ होती है, इसमें आश्चर्यजनक कोई बात नहीं है; क्योंकि मशीनों में लोढ़नों से लेकर उसके बुने जाने तक की

१. Prince Kropotkin's "Fields, Factories and Workshops"

२. 'Essay on Handspinning and Handweaving' पृ० १०६

३. प्रेग Economics of Khaddar" पृ० १९

क्रिया करने में रुई की शक्ति जितनी अधिक कम होती है वैसी हाथ के कते सूत की खादी की नहीं होती। इसलिए पोत, मजबूती और टिकाऊपन की दृष्टि से मिल का कोई-सा भी माल उस खादी की बराबरी कर नहीं सकेगा"।[१] श्री तालचेरकर ने अपनी इस बात की पुष्टि के लिए मिलों की लोढ़ने से लेकर कपड़ा बुनने तक की प्रत्येक क्रिया के विशेषज्ञ की हैसियत से वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है, और ऐसा करते हुए इस बात का अत्यन्त मार्मिक दिग्दर्शन किया है कि यांत्रिक क्रियाओं में कैसे-कैसे दोष रहते हैं, यन्त्रों—मशीनों—में कितना ही सुधार करने पर भी किस तरह उनमें से इन दोषों का निकलना सम्भव नहीं है और किस तरह हाथ के चरखे और हाथ के करघे (खड्डी) पर मनुष्य की बुद्धि और हस्त-कौशल का उपयोग होने के कारण ये सब दोष टाले जा सकते हैं।

१. श्री तालचेरकर कृत "Charkha Yarn" पृष्ठ ५

: १० :

खादी और अर्थशास्त्र

"जो अर्थशास्त्र व्यक्ति के अथवा राष्ट्र के नैतिक कल्याण का विघातक है, वह अनीति-मूलक अतएव पापयुक्त अर्थात् 'आसुरी' अर्थशास्त्र है।"[1]

—महात्मा गांधी

पश्चिमी अर्थशास्त्र का एक सिद्धान्त है कि "बाजार में जो सस्ता और सुन्दर अथवा मुलायम माल हो वही लिया जाय।" इस सिद्धान्त का अनुसरण कर कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि "हम मोटी-झोटी महंगी खादी क्यों खरीदें? क्या अर्थशास्त्र की दृष्टि से खादी काम में लाना श्रेयस्कर है? पश्चिमी अर्थशास्त्र, उस अर्थशास्त्र का उपरोक्त सिद्धान्त और उसका अनुसरण कर किये गये प्रश्न ही इस अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं, अतः इन पृष्ठों में अब हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन कायम होने के बाद अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ हुआ, और इस शिक्षा के परिणाम के बारे में इसके प्रथम प्रवर्त्तक लार्ड मेकाले ने जो संकेत किया था वही हुआ। ऐसा प्रतीत होने लगा कि हमारी संस्कृति, हमारा तत्वज्ञान और हमारा रहन-सहन यह सब त्याज्य और उपेक्षणीय और अंग्रेजी संस्कृति, अंग्रेजी तत्वज्ञान और अंग्रेजी रहन-सहन यही सब प्रशंसनीय अनुकरणीय है।

इसके साथ-ही-साथ लोग यह भी कहने लगे कि अंग्रेजी अर्थशास्त्र ही सच्चा अर्थशास्त्र है, और इसलिए हिन्दुस्तान में उसी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त लागू किये जाने चाहिए। जिस तरह इंग्लैण्ड में पूंजी खड़ी की जाती है, उस तरह यहां भी पूंजी खड़ी की जाय, वहां जिस तरह के बड़े-बड़े कल-कारखाने हैं, उस तरह के यहां भी स्थापित किये जायं; जिस

१. 'यंग इण्डिया" भाग १ पृष्ठ ८७२

तरह वहां पूंजीवालों और मजदूरों का संगठन है, यहां भी वैसा ही संगठन किया जाय; जिस तरह वहां पूंजीवालों की नस ढीली करने के लिए हड़ताल आदि की जाती है, उस तरह यहां भी किया जाय; वहां जिस तरह 'साम्यवादी' आदि आन्दोलन पैदा हुए, वैसे यहां भी किये जायं; और जिस तरह वहां 'खुला व्यापार' है, वैसा हमें भी करना चाहिए....इत्यादि, इत्यादि।

महात्माजी कहते हैं—"सरकारी कालेजों में जो अर्थशास्त्र सिखाया जाता है वह गलत होता है। अगर हम जिज्ञासु होंगे तो हमें दिखाई देगा कि जर्मन, अमेरिका और फ्रांस आदि देशों में जो अर्थशास्त्र सिखाये जाते हैं वे भिन्न-भिन्न होते हैं। मेरे पास एक हंगेरियन सज्जन आये थे। उनकी बातचीत से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उनका अर्थशास्त्र कुछ दूसरा ही होना चाहिए। प्रत्येक देश की स्थिति के अनुसार ही वहां का अर्थशास्त्र बनाया जाता है। यह समझ बैठना ठीक नहीं है कि एक देश का अर्थशास्त्र सारे संसार पर ही लागू होजायगा। हिन्दुस्तान में आज जो अर्थशास्त्र बनाया जाता है वह इस देश को तबाह करता है। हमे हिन्दुस्तान का अर्थशास्त्र मालूम ही नहीं है, हमें उसकी खोज करनी है।"[१]

हमारे यहां के कालेजों में सिखाये जानेवाले अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में सिर्फ महात्माजी ही ऐसा करते हों सो बात नहीं है। प्रो० काले का भी कहना है कि—"अभी परसों तक सिर्फ यही समझा जाता था कि डिग्री की परीक्षा की तैयारी करनेवाले विद्यार्थियों को पढ़ाना सिर्फ यही कालेज के प्रोफेसरों का काम है। सिखानेवाले जो सिखाते और सीखनेवाले जो सीखते वह अत्यन्त हलके दरजे का होता था। कालेज में (अध्ययन करने का) सुभीता बहुत कम होता था। विश्वविद्यालय अथवा यूनिवर्सिटी पाठ्यक्रम निश्चित करने और परीक्षा लेने में ही अपना साधन मान लेती थीं। देश की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में क्रमशः जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे-वैसे कालेज और विश्वविद्यालय

१. 'नवजीवन' १७ जून १९२८

की कक्षा से बाहर के लोगों में इनका संशोधन और चर्चा करने की स्फूर्ति पैदा हुई। देश के लोगों की सोलह आने दरिद्रता, देश में अकालों की परम्परा, सरकार की अबाधित अर्थात् खुले व्यापार की नीति, उसकी लगान और विनिमय---पद्धति, किसानों का बढ़ता हुआ कर्जा और बेकारी, शासन-कार्य में हुआ केन्द्रीभवन, प्रान्तीय सरकार का खाली खजाना, रुई की आयात और देश-के-देश में चलनेवाले व्यापार पर जकात, नमक-कर तथा उद्योग-धन्धों का नाश आदि बातों ने मुख्यतः (कालेज से बाहर के) लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उनपर चर्चा हुई। दादाभाई, रानाडे, रमेशचन्द्रदत्त तथा गोखले ने इन बातों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार की दिशा दिखाई।"[1]

महर्षि दादाभाई नौरोजी, न्यायमूर्त्ति रानाडे, श्री रमेशचन्द्रदत्त तथा माननीय गोखले आदि ने यह प्रतिपादन करके कि अंग्रेजी अर्थशास्त्र हिन्दुस्तान की परिस्थिति के अनुकूल नहीं है; इसलिए भारतीय अर्थशास्त्र का स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए, हिन्दुस्तान में अंग्रेजी अर्थशास्त्र लागू करने की हिमायत करनेवालों के कान ऐंठे हैं। यह उन्होंने बहुत बड़ा काम किया है जिसके लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं।

प्रो० काले ने उपरोक्त सज्जनों के साथ महात्मा गांधी का नाम क्यों नहीं लिया, यह समझ में नहीं आता। श्री ग्रेग कहते हैं—"गांधीजी की नम्रता और मानव-जाति पर उनके प्रेम के सद्गुणों के कारण ही हिन्दुस्तान की आर्थिक स्थिति का विचार करनेवाले दूसरे किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा उन्हें सूक्ष्मतर और अत्यन्त मार्मिक विवेचन करने की दृष्टि प्राप्त हुई है।"[2] यह ठीक ही है। हम पश्चिमी अर्थशास्त्र सीखकर और पश्चिमी चश्मा लगाकर अपने देश की ओर देखते हैं, इसीलिए हमें अपनी परिस्थिति का सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने के लिए जनता के साथ समरस होना चाहिए।

१. मैसूर आर्थिक परिषद् (२ जनवरी १९२९) के सभापति का भाषण

२. "Economics of Khaddar" पृ० १५९

प्रो० काले भा यही कहते हैं—"यह बात कदाचित् ही किसी के ध्यान में आई मालूम होती है कि "अपनी-अपनी दृष्टि से मूल्यवान फसलें, खेत और बीज आदि का कितना ही संशोधन करने पर भी जबतक हम ग्रामीण जनता के जीवन का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से और सम्पूर्णतः अध्ययन नहीं करेंगे, तबतक किसानों की स्थिति नहीं सुधार सकेंगे। ग्रामीण जनता के जीवन और हालचाल का, भिन्न-भिन्न अङ्कों का सूक्ष्म अध्ययन करना सच-मुच अत्यन्त आवश्यक है। इस दिशा में अभी बहुत काम होना बाकी है।"[1]

ग्रामीण जनता के जीवन का अध्ययन महात्माजी की अपेक्षा किसने अधिक किया है? भारत के सब भागों के हजारों गांवों में जाकर गरीब भारतीय जनता की परिस्थिति का प्रत्यक्ष अवलोकन अगर किसी ने किया है तो वह महात्मा गांधी ने ही किया है। भारतीय ग्रामीण-जनता के साथ महात्माजी जैसे एक-रस होगये हैं, वैसा कोई दूसरा हुआ दिखाई नहीं देता। महात्माजी उसके साथ इतने एक-रस होगये हैं, इसलिए उन्हें चरखे का अर्थशास्त्र सुझाई पड़ा है। जनता के साथ एक-रस होने के कारण, उसके दुःख का—रोग का ठीक निदान हुआ; इसलिए उस रोग का उपचार भी ठीक सुझाया जा सका है। भारतीय अर्थशास्त्र पर बोलने अथवा लिखने के लिए वर्तमान भारत में उनके जितना अधिकारी पुरुष आज दूसरा और कौन है? अस्तु,

अभी कालेजों में जो अर्थशास्त्र सिखाया जाता है, उस पर से महात्मा जी ने 'नीति-मूलक' और 'अनीति-मूलक' ये दो भेद किये हैं। "जो अर्थ-शास्त्र व्यक्ति के अथवा राष्ट्र के नैतिक कल्याण का विघातक है, वह अनीति-मूलक अतएव पापयुक्त अर्थात् 'आसुरी' अर्थशास्त्र है।[2] इसके विपरीत जो अर्थशास्त्र व्यक्ति के अथवा राष्ट्र के सम्पूर्ण विकास में सहायक होता है उसे दैवी अर्थशास्त्र समझना चाहिए। अपना आशय स्पष्ट करने के लिए महात्माजी ने आसुरी अर्थशास्त्र के नीचे लिखे कुछ उदाहरण दिये हैं—

१. मैसूर आर्थिक परिषद् (२ जनवरी १९२९) के सभापति का भाषण।

२. 'यंग इण्डिया' भाग १ पृ० ६७२।

"जो अर्थशास्त्र एक देश को दूसरे देश के भक्ष्य स्थान में पड़ने देता है वह अनीतिमूलक अर्थशास्त्र है।[१]

(१) यह जानते हुए भी कि अपने पड़ोस का अनाज का व्यापारी सिर्फ ग्राहक न मिलने के कारण ही भूखों मरता है। उसे भूखों मरता छोड़-कर स्वयं अमेरिकन गेहूं खाना पापमूलक है।[२]

(२) यह जानते हुए भी कि अपने पड़ोस की मां-बहिनों के काते और बुने वस्त्र काम में लाने से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के साथ-ही-साथ उनका भी पोषण होता है। मैंने अगर "रीजण्ट स्ट्रीट" का सर्वथा नये-से-नया फैशन ग्रहण कर लिया तो मैं पापी समझा जाऊंगा।[३]

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त त्रिकालवाधित अथवा सार्वत्रिक सिद्धांत नहीं हैं।[४]

"सजातीय वस्तु का ही जोड़ हो सकता है, इस प्रकार गणित के अचूक और निरपवाद सिद्धांत पर देश, काल, इतिहास, संस्कृति, रहन-सहन और शासन-पद्धति आदि इन सब बातों का थोड़ा-बहुत असर पड़ता है, इस-लिए उसके — अर्थशास्त्र के—जो नियम इंग्लैण्ड के लिए गुणकारक होते हैं, वही नियम फ्रांस और अमेरिका के लिए लागू नहीं होते। ऐसी दशा में हिन्दुस्तान जैसे भिन्न तत्त्वज्ञान और धार्मिक कल्पना पर प्रस्तावित और हजारों वर्ष उसी पर कायम रहनेवाले देश की तो बात ही क्या है। स्वयं इंग्लैण्ड में भी ऐसे मौके आये हैं जब उसे अपनी अर्थशास्त्र विषयक कल्पना को तिलांजलि देनी पड़ी है। उसके सामने ऐसे मौके आये हैं जिनमें उसे अपने 'अवाधित अर्थात् खुले व्यापार' का वावेला कम करके और जोड़-तोड़

१. यह राष्ट्र को दिया हुआ उदाहरण है। यंग इण्डिया, भाग १ पृ० ६२२

२. यह व्यक्ति को उद्देश्य करके दिया हुआ उदाहरण है। यंग इंडिया भाग १, पृ० ६२२

३. ,, ,, ,, ,,

४. महात्मा गांधी 'यंग इण्डिया' भाग १ पृष्ठ ५४९

मिलाकर अपने उद्योग-धन्धों के संरक्षण के लिए जकात के अतिरिक्त कर लड़ाने पड़े हैं।"[१]

यह सम्भव नहीं है कि अर्थशास्त्र के जो सिद्धान्त स्वतन्त्र देश के लिए उपयोगी पड़ते हों वही भारत जैसे पराधीन देश के लिए उपयुक्त हों।

प्रत्येक राष्ट्र के अर्थशास्त्र के सिद्धान्त किस प्रकार भिन्न होते हैं यह बात महात्माजी ने भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के उदाहरण देकर सिद्ध कर दिखाई है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

इंग्लैण्ड और जर्मनी—जर्मनी के अर्थशास्त्र से इंग्लैण्ड का अर्थ-शास्त्र भिन्न है। जर्मनी ने अपने देश में 'चुकन्दर से शक्कर तैयार करने के कारखानों को संरक्षक सहायतायें देकर, अपने को सम्पन्न बना लिया। दूसरे देशों के व्यापार पर कब्जा करके इंग्लैंड ने अपनी तौंद भरली है। यह छोटा-सा देश जो कुछ कर सका वह १९०० मील लम्बे और १५०० मील चौड़े हिन्दुस्तान में हो सकना सम्भव नहीं है।

इंग्लैंड और हिन्दुस्तान—जल, वायु, भूस्तर-रचना एवं राष्ट्र-स्व-भाव इन तीनों बातों में इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान की स्थिति जुदा होने के कारण इंग्लैण्ड के लिए हितकर बहुत-सी बातें हिन्दुस्तान के लिए विष के समान हैं। गोमांस मिश्रित चाय भले ही इंग्लैण्ड की वायु के अनुकूल हो; लेकिन धर्म-निष्ठ हिन्दुस्तान की उष्ण वायु के लिए वह विष जैसी है, ब्रिटिश प्रायद्वीप के उत्तरीय भाग में तो शराब पीना आवश्यक हो सकता है, किन्तु हिन्दुस्तान की वायु में उसका सेवन करना अथवा सेवन कर समाज में व्यवहार करना सम्भव नहीं है।

स्काटलैंड और हिन्दुस्तान—स्कॉटलैंड की हवा में वहां का ऊनी कोट अनिवार्य वस्तु होगी, लेकिन हिन्दुस्तान की हवा में वह बोझ रूप होकर असह्य हो जायगा।[२]

यहां तक तो अर्थ-शास्त्र का सामान्य विवेचन हुआ। अभी तक

१. हरिभाऊ फाटक—'स्वदेशी की मीमांसा' पृष्ठ १००-१०१

२. 'यंग इण्डिया' भाग १ पृष्ठ ५४९-५५०

अनीति-मूलक अथवा 'आसुरी' अर्थशास्त्र के तीन सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। ये तीन सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(१) श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार एक देश को दूसरे देश के कच्चे माल की आवश्यकता-पूर्ति करना और दूसरे को उसका पक्का माल तैयार करना;

(२) राष्ट्र-राष्ट्र के बीच अबाधित अथवा खुला व्यापार होना, और

(३) बाजार में जो सस्ता और सुन्दर अथवा मुलायम माल हो वही लेना।

आइये, क्रमशः प्रत्येक पर संक्षेप में कुछ विचार करें।

पहला सिद्धान्त देश की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करनेवाला है। यह सिद्धान्त एक देश को दूसरे देश का भोज्य पदार्थ बनानेवाला है।[1] एक देश के यावच्चन्द्र दिवाकरौ दूसरे देश के कच्चे माल की आवश्यकता पूरी करता रहने और पक्के माल के लिए उस पर अवलम्बित बने रहने का अर्थ है। खुद के हाथ-पांव होते हुए दूसरे की चुल्लू से पानी अथवा घर में आटा-दाल आदि सब सामग्री मौजूद होतेहुए भी होटलमें भोजन करना। प्रत्येक देश को अपनी सर्वांगीण उन्नति करने का पूरा मौका मिलना चाहिए। प्रत्येक देश को सब बातों में स्वावलम्बी होने का प्रयत्न करना चाहिए। यह अत्यन्त सीधी-सादी-सी बात है कि कम-से-कम अन्न-वस्त्र के मामलों में तो उसे स्वावलम्बी होना ही चाहिए। इधर पश्चिमी देश 'श्रम-विभाजन' के लुभावने नाम के आधार पर कमजोर देशों को राजनैतिक और आर्थिक गुलामी में जकड़े रहते हैं। किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति को यह बात सह्य नहीं होगी कि हिन्दुस्तान सिर्फ कच्चा माल पैदा करता रहे और इंग्लैण्ड उसका पक्का माल तैयार कर फिर उसी को हिन्दुस्तान के गले बांधता रहे। विजित और दुर्बल राष्ट्र होने के कारण ही भारत को यह अपमान और यह परावलम्बन सहन करना पड़ रहा है; किन्तु वास्तव में यह सिद्धान्त बहुत ही घातक होने के कारण अत्यन्त निन्दनीय और त्याज्य है।

१. ग्रेग "Economics of Khaddar" पृष्ठ १०१

दूसरा सिद्धान्त 'अबाधित अथवा खुले व्यापार' का है। इंग्लैण्ड ने खुले व्यापार का बहुत शोर मचाया था; लेकिन उसके पिछले इतिहास पर नजर डालने से यह स्पष्ट दिखाई देगा कि उसने कितनी बार संरक्षक जकात का सहारा लिया था। वास्तव में इंग्लैण्ड का, संरक्षक जकात का अवलम्बन कर खुद मोटा-ताजा हो जाने के बाद, खुले व्यापार की हिमायत करना ऐसा ही है जैसा कि सीढ़ी से शिखर पर पहुचकर सीढ़ी को लात मारकर नीचे गिरा देना। इंग्लैण्ड ही क्या, संसार के प्रत्येक देश ने अपने छोटी अवस्था के धन्धों की वृद्धि अथवा मरणासन्न स्थिति को पहुँचते हुए धन्धों के पुनरुज्जीवन के लिए संरक्षण पद्धति का अवलम्बन किया था, और आज अपन उद्योग-धन्धों की वृद्धि होजाने पर भी इंग्लैण्ड और दूसरे राष्ट्रों ने खुले व्यापार के सिद्धान्त को उठाकर एक तरफ रख दिया है और अपने चारों ओर आर्थिक सरक्षण की दीवारें खड़ी करदी हैं। संसार-भर में आज खुले व्यापार का समर्थन करनेवाला एक भी देश बाकी नहीं रहा है।

"इंग्लैण्ड जिस समय खुले व्यापार का समर्थन करता था उस समय वास्तव में वह सच्चे अर्थों मे खुला व्यापार नहीं था; क्योंकि अपने उद्योग-धन्धे चलाने और दूसरे देशों के उद्योग-धन्धों का नष्ट करने के लिए वह सिर्फ जकात का ही नहीं, बल्कि अपने सैनिक बल, राजकीय सत्ता और कुटिल राजनीति इन सबका उपयोग करता था।"[१]

यह खुला व्यापार हिन्दुस्तान के लिए शापरूप सिद्ध हुआ है और इसी ने उसे गुलामी मे जकड़ दिया है!

समान स्थिति के राष्ट्रों में खुले व्यापार की हिमायत करना कदाचित् ठीक हो; परन्तु एक सम्पन्न और दूसरे दरिद्री, — एक विजेता और दूसरे गुलाम देश में खुले व्यापार की बात करना राष्ट्रनीति के विरुद्ध होगा। किसी समय के दरिद्री, किन्तु आज के सम्पन्न बने हुए राष्ट्र का दूसरे दरिद्री राष्ट्र पर खुले व्यापार का सिद्धान्त लादने का अर्थ ऐसा ही है जैसा कि

१. किशोरलाल मशरूवाला 'गांधी विचार दोहन' चौथा संस्करण पृष्ठ ९२

बचपन में गड़ूलने का सहारा लेकर चलना सीखने वाले किसी तरुण का अपने छोटे भाई के हाथ से उसका गड़ूलना छीनकर उससे 'मेरी तरह बिना सहारे के चलना सीख' यह कहना।[1]

ऊपर हम देख ही चुके हैं कि सब देशों ने अपने उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिए 'संरक्षक जकात की दीवारें' खड़ी की हैं। ऐसी स्थिति में पाश्चात्य अर्थशास्त्र का 'बाजार में सस्ते-से-सस्ता हो वही लो' का यह अनीतिमूलक तीसरा सिद्धान्त टिक ही नहीं सकता।

अर्थशास्त्र का धातु अर्थ है—वह शास्त्र जो व्यक्ति के अर्थ—स्वार्थ—की ओर न देखकर राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाता है। इसका आशय यह है कि व्यक्तिगत दृष्टि से एकाध वस्तु महंगी भी पड़ती हो, तो भी राष्ट्र के आत्यन्तिक कल्याण की दृष्टि से उस व्यक्ति के लिए उस वस्तु का खरीदना एक पवित्र कर्तव्य होता है। इसके अलावा 'अन्न और वस्त्र' मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएं हैं। इन विषयों में प्रत्येक राष्ट्र को अवश्य स्वावलम्बी होना चाहिये। कोई मनुष्य या राष्ट्र यदि इस विषय में परावलम्बी हुआ तो उसका जीवित रहना कठिन हो जाता है, इसका प्रमाण हमें इस वर्तमान युद्ध में अच्छी तरह मिल ही गया है। हिन्दुस्तान जैसे किसी समय में समृद्ध रहने वाले देश के 'सुजल' और 'सुफल' से समृद्ध बंगाल में ३५ लाख मनुष्यों का मृत्यु के मुंह में पड़ जाना अनाज के विषय में हमारे स्वतन्त्र रूप से हलचल न कर सकने की स्थिति का ही परिणाम है। उसी प्रकार डेढ़ सौ वर्ष पहिले जिस हिन्दुस्तान से करोड़ों रुपयों का कपड़ा इंग्लैण्ड जैसे विदेश में जाता था उसी हिन्दुस्तान में इस महायुद्ध के समय "पांच आदमी को एक धोती" की कैद लगाने से बढ़कर कौनसी लज्जास्पद बात हो सकती है? यह परिस्थिति असह्य है। जिस हिन्दुस्तान में कपास खूब पैदा होती है, जिसमें सैकड़ों वर्षों से चरखे की परम्परा चली आरही है, जहां अंग्रेजी सरकार की दुष्टतापूर्ण औद्योगिक नीति के कारण करोड़ों लोग बेकार हो गये हैं वहां के लोगों का कपड़ों के बारे में परावलम्बी रहना मानो घर में

१. 'महाराष्ट्र खादी पत्रिका' १९३४ अंक १२

सुस्वादु-भोजन की तैयारी होने पर भी किसी रद्दी-सद्दी भोजनालय में भोजन करने जैसा है। घर के लोगों को भूखों मारकर दूसरों के पोसने जैसा है! इस घातक नीति के कारण हम अपने देश के लोगों को बेकार बनाने का पाप कमाते हैं और हम अपने ऊपर जुल्म करने वाले शासकों के भाई-बन्दोंका पोषण करके अपनी गुलामी की जंजीर और मजबूत करते हैं। इन सब आपत्तियों को दूर करने के लिए हमें 'अन्न' और 'वस्त्र' के मामले में स्वावलम्बी होना बिलकुल आवश्यक है।

'अन्न और वस्त्र' के मामले में यदि किसी का मुंह देखने का कारण न रहता तो फिर हमें यह अनुभव होने लगेगा कि जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी हम परावलम्बी क्यों रहें? जीवन के इन दूसरे क्षेत्रों में भी हम अपने पैरों पर खड़े रह सकते हैं—रहना चाहिए ऐसा आत्म-विश्वास अनुभव होने लगेगा। आत्म-विश्वास मानो हमारे कार्य की सफलता का अग्रदूत ही है। जब किसी काम में मनुष्य को आत्म-विश्वास होने लगा तो समझिये कि अब विजय लक्ष्मी उसके गले में माला डालने ही वाली है। 'आत्म-विश्वास' और 'स्वावलम्बन' इन दो सद्गुणों के बल पर ही मनुष्य अथवा राष्ट्र उन्नति के शिखर पर पहुंच सकते हैं।

इसलिए, एक बारगी देखने से खादी व्यक्तिगत दृष्टि से महंगी प्रतीत होने पर भी वास्तविक अर्थात् नीतिमूलक अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसमें राष्ट्र का कल्याण ही है। महात्माजी कहते हैं—

"खादी के सिवा, अपने उद्धार का और कोई उपाय नहीं है। यह कहा जाता है कि खादी महंगी पड़ती है; लेकिन अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना खर्चीला होने पर भी उन्हें हम मार नहीं डालते। यह बात ठीक है कि अगर हम अपने बच्चों को मार डालें तो हम कम खर्च में अपना काम चला सकेंगे; लेकिन ऐसा करना हम अधर्म मानते हैं और इसलिए ऐसा करते नहीं हैं। इसी तरह करोड़ों लोगों को अन्न-जल देने वाली खादी छोड़कर कदाचित् हम कम खर्च में काम चला सकें; लेकिन ऐसा करना

ठीक नहीं है।"[1]

प्रत्येक सुसंगठित राष्ट्र का यह अलिखित नियम होता है कि वहां की सरकार या तो अपने देश के सब लोगों को काम दे, नहीं तो उनके पोषण के लिए धर्मादाय—दान—की व्यवस्था करे। अवश्य ही यह दान जनता के पास से कर के रूप में वसूल किये जानेवाले पैसे में से ही निकाला जाता है। इसका अर्थ यही हुआ कि बेकार लोगों के पोषण का बोझ देश के कमाई करनेवाले दूसरे लोगों पर किसी-न-किसी रूप में पड़ता ही है। यह भी एक प्रकार का अप्रत्यक्ष कर ही है।

यह ठीक है कि खादी महंगी होने के कारण व्यक्ति को उसके लिए अधिक पैसे देने पड़ते हैं। लेकिन इसके लिए हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस खादी के जरिये हम गरीबों के पेट में दो दाने डालते हैं, उन्हें एक तरह का 'दान' देते हैं, और इस प्रकार राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से यह एक प्रकार से जनता का स्वयं स्फूर्ति से राष्ट्र को दिया हुआ एक प्रत्यक्ष कर ही है।

नीचे दी हुई तुलना से यह विचार-सरणी और अधिक स्पष्ट होगी—

खादी द्वारा दिया हुआ दान	बेकारी का दान
(१) प्रत्यक्ष कर	(१) अप्रत्यक्ष कर
(२) काम देकर जनता को सहायता देना	(२) बेकार जनता को बिना काम दिये मदद देना
(३) कार्य-शक्ति और कौशल के विकास को सहायता	(३) कार्य-शक्ति और कौशल का अभाव
(४) नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर	(४) नैतिक दृष्टि से हानिकर

विलायती कपड़ा इतना सस्ता और सुन्दर लगता है इसका कारण यही है कि करीब १५० वर्ष हुए विलायत के पूंजीपतियों ने हमारे धंधों को चौपटकर अपनी तोंद फुला ली है। उन्होंने अभी तक इतना नफा कमाया है कि सस्ता ही क्या वे चाहें तो आज अपना कपड़ा मुफ्त में भी

१. 'यंग इण्डिया,' भाग १ पृ० ५४६

दे सकते हैं। हम यह कपड़ा लेते हैं, इससे हमारा पैसा सात समुद्र पार चला जाता है, उसके फिर दर्शन होना सम्भव नहीं होता। इससे हमारे लोग बेकार होते हैं; लेकिन विदेशी पूंजीवालों और मजदूरों का अच्छा पोषण होता है। जितना ही हम विलायती माल अधिक लेते हैं, उतनी ही अधिक हमारी बेकारी बढ़ती है और हमारे लोग अधिकाधिक आलसी तथा दरिद्री बनते हैं। बेकारी और दरिद्रता बढ़ने से देश में पैसे का अभाव हो जाता है। इससे दूसरे उद्योग-धन्धे भी चौपट होजाते हैं। इस प्रकार अन्त में देश की हानि होती है। केवल सामाजिक दृष्टि से ही हानि होती हो सो बात नहीं, राजनैतिक दृष्टि से भी भयंकर अधःपतन होता है। विलायती पूंजीवालों में कुछ लोग पार्लमेण्ट के सदस्य होते हैं, वे दूसरे सदस्यों से सांठ-गांठ जोड़कर भारत की पराधीनता की शृंखला को और अधिक मजबूत करते रहते हैं; क्योंकि इस पराधीनता पर ही उनका सारा व्यापार निर्भर है!

तुलनात्मक दृष्टि से उक्तविवेचन का सार संक्षेप में नीचे लिखे अनुसार होगा—

खादी	विलायती वस्त्र
(१) व्यक्तिगत रूप से महंगी (कारण—पूंजी की न्यूनता)	(१) व्यक्तिगत रूप से सस्ता (कारण–पिछले १५० वर्ष से विलायती पूंजीवाले हिन्दुस्तान के प्राणों पर मोटे होगये हैं)
(२) पैसा देश-का-देश में रहता है।	(२) पैसा सात समुद्र पार चला जाता है।
(३) देश के लोगों को काम मिला है।	(३) विलायती पूंजीवाले और मजदूरों का पोषण होता है। देश के लोग बेकार होते हैं।

(४) खादी की खपत में अधिकाधिक वृद्धि होने पर—	(४) विलायती कपड़े की खपत अधिक होने पर—
(अ) पूंजी की लौटापलटी अधिक होती है।	(अ) देश का द्रव्य-शोषण अधिक होता है।
(आ) अधिक लोगों को काम मिलता है।	(आ) अधिकाधिक लोग बेकार होते हैं और इस कारण दरिद्री बनते हैं।
(इ) दूसरे धन्धे बढ़ते हैं।	(इ) दरिद्रता के कारण दूसरे धन्धे भी बन्द होने लगते हैं।
(५) अन्त में राष्ट्र सुखी और सम्पन्न बनता है।	(५) अन्त में देश दरिद्री और दुःखी बनता है। विलायती पूंजी-वाले पराधीनता की शृंखला को अधिक मजबूत करते हैं।

एक यह प्रश्न हमेशा पूछा जाता है कि विलायती माल की जगह हम देशी माल काम में लाते हैं। ये मिलें तो स्वदेशी ही हैं न ? ऐसी दशा में खादी के बजाय इन देशी मिलों का माल काम में लें तो इसमें क्या हर्ज है ? अतः स्वभावतः ही अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

विलायती मिलों के बजाय हिन्दुस्तानी मिलों का माल खरीदने पर देश की आर्थिक स्थिति में कितना सुधार होगा उसपर नजर डालिए—

विलायती और हिन्दुस्तानी दोनों ही तरह की मिलों के लिए जिन यन्त्रों अथवा मशीनों की जरूरत होगी वे निश्चय ही एक-सी ही होंगी। उनके लिए खर्च किया जानेवाला पैसा एक बार देश से बाहर गया कि हमेशा के लिए गया। उसमें से एक कौड़ी भी वापस आना सम्भव नहीं होता।

फिलहाल मिलों में १२०करोड़ रुपये की पूंजी लगी है। उसमें से ७०करोड़ रुपये तो विलायती यन्त्रों पर ही खर्च हुए हैं। इसके अलावा टूट-फूट तथा छीजन होती ही रहती है। उसके लिए भी खर्च लगता ही है। दुरुस्तीके लिए आवश्यक सामान भी विलायती ही होता है। इसलिए यह पैसा भी बाहर ही चला जाता है। जो ४० करोड़ रुपये बचे, उनमें से कुछ रकम मिल के लिए जमीन और उसपर खड़ी की जाने वाली इमारतों पर खर्च होजाती है। इमारतों पर जो खर्च होता है उसमें भी विलायती माल काफी रहता है। कच्चे माल की खरीदमें भी विलायती रुई तथा सूत का अन्तर्भाव होता ही है। १९४३-४४ में परदेसी रुई खरीद में पौने दो करोड़ रुपये बाहर गये और सूत में ३।। करोड़ रुपये।

''मिलों में आज ५ लाख मजदूर काम करते हैं। माल की कीमत का सिर्फ बीस फीसदी इन्हें मिलता है। बाकी का ८० फीसदी एजेण्ट, डाइरेक्टर्स-शेअर-होल्डर्स तथा मिल-ओनर्स के कमीशन व मुनाफे आदि में और कच्चे माल की खरीद में जाता है।''

ये एजेण्ट, डाइरेक्टर्स आदि लोग शाही बंगलों, मोटरों, बहुमूल्य विलायती कपड़ों, बिल्लोरी सामान और आमोद-प्रमोद की विदेशी वस्तुओं में अपना पैसा फंसाकर इस रूप में विदेशवालों की सहायता करते हैं।

इन सब दृष्टियों से विचार करने पर देशी मिलों का माल लेना भी कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। विलायती माल की अपेक्षा देशी मिलों का माल लेने का मतलब सिर्फ 'पत्थर के बजाय ईंट' लेना है।

सब मिलाकर खादी, देशी मिलों का कपड़ा और विलायती अथवा विदेशी वस्त्र में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर—

(१) खादी खरीदना ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग ठहरता है; क्योंकि इसपर खर्च होनेवाली एक-एक पाई, सौ-का-सौ फीसदी रुपया देश-का-देश में ही रहता है। आर्थिक दृष्टि से खादी ही आज देश का अधिक कल्याण करने वाली है। इसलिए खादी ही ''स्वदेश का शुद्ध और परिणत स्वरूप'' मानी जाती है।

(२) देशी मिलों पर लगने वाली कुल पूंजी में से दो तिहाई पूंजी

सिर्फ विदेशी मशीनरी पर ही खर्च होजाती है। देशी मिलों का माल लेने से मजदूरों को माल की कीमत का सिर्फ २० फीसदी ही हिस्सा मजदूरी मिलती है। मिल-मालिक आदि अपनी आमदनी का काफी हिस्सा विलासिता के विलायती माल पर ही खर्च कर देते हैं। इन और ऐसी ही दूसरी सब बातों को ध्यान में रखकर देखा जाय तो देशी मिलों का माल खरीदने पर फी सैकड़ा ३० रु० भी देश में बचता है या नहीं, यह सन्देहास्पद है।

इस पर से यह स्पष्ट दिखाई देजाता है कि देश की आर्थिक स्थिति सुधारने में खादी और देशी मिलों का माल इन दोनों में से कौन कितनी मदद करता है।

(३) विलायती अथवा विदेशी माल लेने में तो सब-का-सब—सौ फीसदी पैसा विदेश को जाता है। ऐसी दशा में वह माल लेना सर्वथा निन्दनीय एवं त्याज्य है। इस सम्बन्ध में अलग विवेचन करने की कुछ आवश्यकता नहीं है।

जिस प्रकार देश को आज राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है, उसी तरह आर्थिक दृष्टि से भी वह स्वतन्त्र नहीं है। इसलिए भारतीय बन्दरगाह पर विदेशी वस्त्र की आयात पर प्रतिबन्ध लगाया नहीं जासकता—हम देशी वस्त्र पर जकात लगा नहीं सकते।[1] ऐसी दशा में स्वयं जनता को ही मंहगी खादी खरीदकर उसका—खादी का—'संरक्षण' करना चाहिए। दूसरे किसी भी उन्नत राष्ट्र के इतिहास का अध्ययन करने पर हम देखेंगे कि अर्थशास्त्र का दृष्टि से राष्ट्र का संरक्षण करने के लिए लोगों ने स्वयं अपनी राजी-खुशी से अथवा कानून के बलपर खराब और महंगी वस्तुयें काम में ली हैं। इसी तरह हिन्दुस्तान में भी जो लोग अर्थशास्त्र को समझते हैं, अथवा जिनमें सहृदयता और स्वदेशाभिमान है, उन्हें आर्थिक दृष्टि से अपने हिन्दुस्तान का संरक्षण करने लिए महंगी, मोटी-झोटी अथवा अन्य दोषयुक्त खादी का

१. यह ठीक है कि भारत सरकार ने इस समय विदेशी वस्त्र पर जकात लगा दी है; लेकिन वह लगाई गई है सरकारी आमदनी बढ़ाने की दृष्टि से। उससे हिन्दुस्तानी मिलों के कपड़े को थोड़ा-सा संरक्षण मिल जाता है; लेकिन खादी का उससे कुछ खास भला नहीं होता।

व्यवहार प्रिय हुआ है, और प्रिय हुए बिना नहीं रह सकता।

महात्माजी से यह प्रश्न किया गया था कि 'अर्थशास्त्र का जो यह सिद्धान्त है कि बाजार में जो सस्ता और सुन्दर माल हो वही लिया जाय, क्या वह गलत है ?' महात्माजी ने इसका जो उत्तर दिया था वह इस प्रकार है—

"आधुनिक अर्थशास्त्रकारों ने जो अमानुषिक सिद्धान्त प्रस्थापित किये हैं उन्हीं में का एक यह सिद्धान्त है। समाज में व्यवहार करते समय हम अपने मन में इस प्रकार के क्षुद्र विचार कभी नहीं लाते। कोयले की खान में काम करने के लिए अंग्रेज और इटालियन दो भिन्न-भिन्न देशों के दो मजदूर आये। इनमें इटालियन मजदूर की मजदूरी की दर थोड़ी सस्ती थी, फिर भी अंग्रेजी खानवालों ने अंग्रेज मजदूर को ही पसंदकर उसे अधिक मजदूरी देकर रक्खा। यही करना उचित था। इंग्लैण्ड में अगर मजदूरी सस्ती करने का प्रयत्न किया गया, तो राज्य-क्रान्ति उठखड़ी होगी। दूसरा अधिक क्रियाशील और उतना ही विश्वस्त नौकर मिलता है; इसलिए मैं, इस समय मेरे पास जो अधिक वेतन पानेवाला विश्वस्त नौकर है, उसे अलग करदूं तो वह पाप होगा। जो अर्थशास्त्र 'नीति और भावना' की अवहेलना करता है वह मोम की पुतली-सा है। वह बिल्कुल जीवित मनुष्य की तरह प्रतीत होता है, किन्तु उसमें चैतन्य नहीं होता। ठीक आनवान के प्रत्येक प्रसंग पर अर्थशास्त्र के ये नूतन सिद्धान्त तोड़े जाते हैं। जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र इन सिद्धान्तों पर चलता है उसका नाश अवश्यम्भावी है। जब से हम इंग्लैंड और जापान का सस्ता माल लेने लगे तभी से हमारा नाश हुआ।"[१]

संक्षेप में कहा जाय तो मनुष्य को संसार में हमेशा रुपये, आने, पाई के हिसाब की वृत्ति रखकर व्यवहार नहीं करना चाहिए। उसे रुपये, आने, पाई की अपेक्षा अपना धर्म और देश अधिक प्रिय होना चाहिए। ऊपर यह कहा ही जा चुका है कि राज्याश्रय के अभाव में जनता का महंगी खादी

१. 'यंग इण्डिया' भाग १ पृष्ठ ६५७

लेना एक प्रकार से उसका 'संरक्षण' करना है। अगर करोड़ों की पूंजीवाले ताता के लोहे के कारखाने का संरक्षण के बिना जीवित रह सकना सम्भव नहीं है—उसे जीवित रखने के लिए दिल्ली की असेम्बली में प्रस्ताव पास करन पड़ते हैं—तब क्या मूक गरीबों का पोषण करने वाली, थोड़ी पूंजी से चलनेवाली खादी के लिए जनता को इतना स्वार्थ-त्याग नहीं करना चाहिए ?

केवल राजनैतिक शस्त्र के ही रूप में नहीं, बल्कि धार्मिक और कला की दृष्टि से भी 'स्वदेशी' हमारा ध्येय होना चाहिए।" फिर खादी तो स्वदेशी का शुद्ध और परिणत स्वरूप है।

'हम जिससे सेवा लेते हैं उसीकी सेवा करना' यह स्वदेशी धर्म का मूलमन्त्र है। जिन माता-पिता ने हमें छोटे से बड़ा किया उनकी सेवा करना 'स्वदेशी-धर्म' है। उसी प्रकार जिस गांव, जिस तहसील, जिस जिले, जिस प्रान्त और जिस देश में हम पैदा हुए, जहां के अन्न, पानी और हवा से हमारा शरीर बना,जहां के लोगों से अनेकविध हमने सेवा ली है, उस गांव की, उस तहसील की, उस जिले की, उस प्रान्त की और देश की सेवा करना, स्वदेशी धर्म के अनुसार ही हमारा परम कर्तव्य होता है। इस सारे प्रदेश में रहनेवाले लोगों के द्वारा तैयार किया हुआ माल खरीदना मानो एक प्रकार से उनके उपकारों का बदला चुकाना ही है। ऐसा बदला चुकाना मानो स्वदेशी धर्म का आचरण करना है।

जो-जो पूर्वी और पश्चिमी राष्ट्र आज सम्पन्न और समृद्ध दिखाई देते हैं उसका कारण है उनके द्वारा 'स्वदेशी-धर्म' का उत्कट आचरण या पालन ही। अंग्रेज बच्चा ससार मे कहीं भी चला जाय उसके शरीर पर और घर में इंग्लैण्ड की बनी हुई वस्तुएं ही मिलेगी। यही बात अमेरिकन लोगों की भी है। अमेरिकन मिशनरी—पादरी—हिन्दुस्तान के किसी भी जंगला प्रदेश में, आदिवासियो की बस्ती मे, क्यों न रहते हों वे हमें अमेरिकन वस्तु का ही उपयोग करते हुए दिखाई देगे। यही बात जापानियों की भी है। हिन्दुस्तान मे कपास आदि वस्तुएं खरीदने के लिए वे आये तो भी उनकी बैठक मे जापान मे बनी चीजे ही सब जगह मिलेगी। इन सब लोगों

के काम में भूल से भी हिन्दुस्तान की बनी कोई चीज नहीं आती। कारण यह है कि स्वदेशी की जन्म घुट्टी उन्हें पैदा होते ही मिलती है और स्कूल व कालिज में उस भावना का पोषण होता रहता है।

खादी व्रत लेने का अर्थ है अपनी मनोवृति को सोलहों आना स्वदेशी करलेना है। कपड़े की ही तरह अपने जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएं भी अपने ही गांव में बनाना और उन्हें इस्तेमाल करना चाहिए। 'स्वदेशी-धर्म' का पूरा ज्ञान न होनें से कुछ खादीधारी लाग वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुएं—साबुन, पेन्सिल आदि-आदि धड़ाके से विदेशी ही काम में लाते हैं। ऐसा करके वे स्वदेशी को लजाते हैं। ऐसे व्यवहार से खादी की प्रतिष्ठा कम होती है और स्वदेशी-धर्म का डंके की चोट भंग होता है। अतः खादी-धारियों को यह समझलेना चाहिए कि खादी में कौन-कौन सी मनोवृत्तियों और भावनाओं का समावेश होता है और उसीके अनुसार आचरण करना चाहिए।

महायुद्ध के बाद 'विजेता' राष्ट्रों के द्वारा जो विश्व का पुर्ननिर्माण होनेवाला है उस योजना के द्वारा हिन्दुस्तान में विदेशी माल की भरमार करके हिन्दुस्तान का जितना रक्त-शोषण आजतक नहीं हुआ है उतना करने का संगठित प्रयत्न होनेवाला है। इस आयात से हिन्दुस्तान के छोटे-बड़े उद्योगों पर बहुत बड़ी आपत्ति आनेवाली है और उसमें हिन्दुस्तान के व्यापारी विदेशी माल के एजेन्ट बनने के लिए परस्पर स्पर्धा करेंगे। ऐसे समय में हिन्दुस्तान को खतरे की सूचना दे देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान को आंखों में तेल डालकर जागृत रहना चाहिए। उसे यह प्रतिज्ञा लेलेनी चाहिए कि किसी भी परिस्थिति में वह अपना 'स्वावलम्बन का सिद्धान्त' और 'स्वदेशी-व्रत' को नहीं छोड़ेगा। विदेशी माल कितना ही सुन्दर, मनोमोहक और सस्ता मिले, बल्कि मुफ्त मिले और प्रत्येक वस्तु के साथ ४-४ रुपये इनाम मिले तो भी यह समझकर कि वह जहर है, हमें उसे कभी भी अपनाना नहीं चाहिए। ऐसे समय यदि हम इस मोहजाल में पड़गये तो समझिये हमारी गुलामी की बेड़ियां और १५० वर्षों के लिए

मजबूत होगई । अपना बच्चा चाहे कितना ही घिनौना, काला-कलूटा और बदसूरत हो; लेकिन मां जिसप्रकार उसे प्रेम करती है उसी प्रकार अपने देश में बना माल कितना ही मोटा-खुरदरा टेढ़ा-मेढ़ा या मंहगा हो तो भी उसी को खरीदने से स्वदेशी-धर्म का पालन होगा । कितने ही नासमझ लोग खादी की यह शिकायत करते हैं कि वह मोटी और खुरदरी होने से शरीर को चुभती है; लेकिन डेढ़ सौ वर्षों की यह गुलामी तो खादी से भी ज्यादा मोटी व खुरदरी है। वह उन्हें क्यों नहीं चुभती ? यह प्रश्न गांधीजी का उन लोगों से है । थोड़े में यही है कि यदि लोगों ने 'खादी' और 'स्वदेशी' वस्तु की प्रतिज्ञा करली तो फिर सुन्दर बढ़िया और सस्ते विदेशी माल का हिमालय भी हमारे देश में आजाय तो भी लोग उसकी ओर फूटी आंख भी नहीं देखेंगे। खादी, स्वदेशी और राष्ट्र-संवर्धक कार्यक्रम—इन सबका रहस्य समझकर यदि हम उनके अनुसार चलें तो 'विदेशी माल का आयात'[१] 'मुनाफेखोरी' 'चोरबाजार' आदि सब अनिष्टों की गति बिलकुल रुक जायगी । हम सबको यह मान-लेना चाहिये कि युद्धोत्तर विदेशी माल की जो बाढ़ हमारे देश में आनेवाली है उसे खादी और स्वदेशी की प्रतिज्ञा के द्वारा जहां-का-तहां रोकदेना ही हमारा परम पवित्र कर्तव्य है ।

हमारा कपड़ा महंगा होगा, किन्तु यह बात ध्यान में रखिए कि इंग्लैण्ड ने हिन्दुस्तान के सफाईदार और सस्ते माल का अपने देश में आना रोककर, उसकी बिक्री बन्द की और अपना खुदका मंहगा माल बिक्री के लिए बाजार में रखकर अपने कपड़े के धन्धे का संरक्षण किया । तब क्या हम अपने बुभुक्षित देश के लिए आना दो आना अधिक खर्च नहीं कर सकेंगे ? जिसमें जरा भी बुद्धि है—फिर चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान—उसे अपने देश-बन्धुओं के मरणान्मुख स्थिति में पड़ेहुए धन्धों के संरक्षण के लिए विदेशी माल का लेना बन्द करके स्वदेशी माल ही बरतना चाहिए ।"[२]

१. डा० कुमारस्वामी कृत 'Art and Swadeshi' पृष्ठ ७

२. श्री एम. ए. चौधरी 'Swadeshi Movement' पृ० १०७-१०८

"तुलनात्मक दृष्टि से खादी मोटी-झोटी एवं खुरदरी होगी; लेकिन वह अगर सचमुच इतने परिमाण में और इसतरह बुभुक्षितों को अन्न देने में सहायक होती है, जितना कि और कोई दूसरा गृह-उद्योग नहीं होरहा है, और साथ ही अगर वह ब्रिटिश माल के बहिष्कार को सफल बनाने में सहायक होती है तो उस खादी के लिए कितनी ही कीमत देनी पड़नेपर भी वह महंगी नहीं पड़ेगी और उसके मोटे-झोटे अथवा खुरदरेपन पर किसी को शिकायत नहीं करनी चाहिए।"[१]

विदेशी राष्ट्र हमारे उद्योग-धन्धों को चौपट करने के लिए हमें अपना माल सस्ता ही क्या मुफ्त तक दें तो क्या हम उस मोह के शिकार होकर अपने बाल्यावस्था के उद्योग-धन्धों को जहां-का-तहां मार देंगे ?

"एक देश का दूसरे देश की जनता के जीवन का—जीविका का—भाग परोपकार बुद्धि तक से अपनाना प्रतिष्ठायुक्त, वांच्छनीय और हित-कारक नहीं होगा। जिस प्रकार जिससमय हमने जन्म लिया उस समय के समाज की सेवा करना हमारे लिए अनिवार्य है, उसी तरह जिस देश में हमारा जन्म हुआ उसी देश की सेवा करना और उसी देश से अपनी सेवा लेना, यही विश्वनियन्ता—परमेश्वर—की इच्छा है।"

"प्रत्येक विषय में इस स्वदेशी धर्म के पालन करने की आवश्यकता है। धर्म, संस्कृति, सामाजिक रीति-रिवाज, पारिवारिक व्यवस्था, व्यापार, उद्यम, भाषा, अर्थशास्त्र, राजनीति, पोशाक और कला-कौशल आदि सब बातों में इस स्वदेशी-धर्म का पालन होना चाहिये।"

"भिन्न-भिन्न समय में और जनता के जीवन के भिन्न-भिन्न विषयों में इस स्वदेशी-धर्म का पालन करते हुए उसपर आक्रमण होने की सम्भावना रहता है, अतः उस-उस समय में, उस-उस स्वदेशी धर्म की रक्षा करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना युग-धर्म है।"[२]

१. 'बम्बई क्रानिकल' ६ दिसम्बर १९२८ का मुख्य लेख
२. काका कालेलकर 'स्वदेशी धर्म' (गुजराती) पृष्ठ ११

: ११ :

खादी और समाजवाद

"मैं मानता हूं कि कुछ समय के लिए खादी ने बहुत फायदा पहुंचाया और भविष्य में भी कुछ समय के लिए और लाभदायक हो सकती है, उस वक्त तक के लिए जबतक कि सरकार व्यापक रूप से देश-भर के लिए कृषि और उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों को ठीक तरह से हल करने के काम को खुद अपने हाथ में नहीं ले लेती। हिन्दुस्तान में इतनी ज्यादा बेकारी है कि जिसका कहीं कोई हिसाब ही नहीं है, और देहाती क्षेत्रों म तो आंशिक बेकारी इससे भी कहीं ज्यादा है। सरकार की तरफ से इस बेकारी का मुकाबला करने के लिए कोई कोशिश नहीं कीगई है, न उसने बेकारों को किसी तरह की मदद देने की ही कोशिश की है। आर्थिक दृष्टि से खादी ने उन लोगों की थोड़ी-सी मदद जरूर की है, जो बिलकुल या कुछ हदतक बेकार थे, और क्योंकि उनको जो कुछ मदद मिली वह उनको अपनी-अपनी कोशिश से मिली; इसलिए उसने उनके आत्म-विश्वासका भाव बढ़ाया है और उनमें स्वाभिमान का भाव जाग्रत करदिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। खादी ने शहरवालों और गांव-वालों के बीच की खाई को पाटने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों और किसानों को एक-दूसरे के नज-दीक पहुंचाया है, दोनों के ही मन पर बहुत असर पड़ता है। इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगों ने सफेद खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तो उसका नतीजा यह हुआ कि सादगी बढ़ी, पोशाक की दिखावट और उसका गंवा-रूपन कम होगया, और अब लोगों के साथ एकता का भाव बढ़ा। इसके बाद जो लोग मध्यम वर्ग में ही नीची श्रेणी के थे उन्होंने कपड़ों के मामले में अमीर लोगों की नकल करना छोड़दिया और खुद सादी पोशाक पहनने

में किसी तरह बेइज्जती समझना भी छोड़ दिया। सच बात तो यह है कि जो लोग अब भी रेशम और मलमल दिखाते फिरते थे, खादी पहनने-वाले उनसे अपने को ज्यादा प्रतिष्ठित और ऊंचा समझनेलगे। गरीब-से-गरीब आदमी भी खादी पहनकर आत्मप्रधान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहां बहुत से खादी-धारी जमा होजाते थे, वहां यह पहचानना मुश्किल होजाता था कि इनमें कौन अमीर है और कौन गरीब और इन लोगों में साथीपन का भाव पैदा होजाता था। इसमें कोई शक नहीं कि खादी ने जनता को कांग्रेस के पास पहुंचने में मदद की। वह कौमी आजादी की वर्दी होगई।

"इसके अलावा, हिन्दुस्तान की कपड़े की मिलों के मालिकों में अपनी मिलों के कपड़े की कीमतें बढ़ाते जाने की जो प्रवृत्ति हमेशा पाई जाती थी उसको भी खादी ने रोका। पुराने जमाने में तो हिन्दुस्तान की इन मिलों के मालिकों को सिर्फ एक ही डर कीमतें बढ़ाने से रोकता था, और वह था विलायती—खास तौरपर लंकाशायर के कपड़ों की—कीमतों का मुकाबला। जब कभी यह मुकाबला बन्द होगया, जैसाकि विश्वव्यापी महायुद्ध के जमाने में हुआ था, तभी हिन्दुस्तान में कपड़ों की कीमत बेहद बढ़गई और हिन्दुस्तान की मिलों ने मुनाफे में भारी रकमें कमाईं। इसके बाद स्वदेशी की हलचल और विलायती कपड़े के बहिष्कार के पक्ष में जो आन्दोलन हुआ उसने भी इन मिलों को बहुत बड़ी मदद पहुंचाई; लेकिन जबसे खादी मुका-बले पर आडटी तब से बिल्कुल दूसरी बात होगई और मिलों के कपड़े की कीमतें उतनी न बढ़ सकीं, जितनी वह खादी के न होने पर बढ़तीं। बल्कि सच बात तो यह है कि इन मिलों ने (साथ ही जापान ने भी) लोगों की खादी की भावना से नाजायज फायदा उठाया—उन्होंने ऐसा मोटा कपड़ा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ से बुने कपड़े से भेद करना मुश्किल होगया। युद्ध की-सी कोई दूसरी ऐसी गैर मामूली हालत पैदा हो जाने पर, जिसमें विलायत के कपड़े का हिन्दुस्तान में आना बन्द होजाय, हिन्दुस्तानी मिलों के मालिकों के लिए कपड़ों की खरीददार पब्लिक से अब

उतना फायदा उठा सकना मुमकिन नहीं है, जितना कि १९१४ के बाद तक उठाया गया। खादी का आन्दोलन उन्हें ऐसा करने से रोकेगा और खादी के संगठन में इतनी ताकत है कि वह थोड़े ही दिनों में अपना काम बढ़ा सकता है।"[१]

समाजवादियों के दो भेद हैं, हम उनमें से एक को 'प्रबुद्ध' समाजवादी और दूसरे को 'एकान्तिक' समाजवादी के नाम से सम्बोधित करेंगे। यह मानने में कोई हर्ज नहीं है कि इनमें से प्रबुद्ध समाजवादियों की विचार-सरणा पं० जवाहरलाल नेहरू के उक्त विचारों में व्यक्त होती है।

भारतीय जनता के जीवन में खादी ने किस प्रकार आर्थिक, सामाजिक और मानसिक परिवर्तन पैदा कर दिया है, इसका जो सूक्ष्म विवेचन पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि के समाजवादी नेता ने किया है वह सबके मनन करने योग्य है। खादी की यह नानाविध कारगुजारी उन्हें स्वीकार है, किन्तु उन्होंने अपनी इस स्वीकारोक्ति पर मर्यादा लगादी है। उनका कहना है कि "(१)हमारे स्वराज्य प्राप्त करने और(२)समाजवादी पद्धति से सब उद्योग-धन्धों की सुसंगठित योजना—Planned Economy—तैयारकर (३) उसपर अमल करने तक ही हम खादी की उपयोगिता स्वीकार करते हैं।"

ऐसी दशा में अब यह एक स्वतन्त्र प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वराज्य मिलने के बाद खादी का क्या होगा? तात्कालिक प्रश्न यह है कि(१)स्वराज्य कब मिलेगा ? (२) उसके मिलने के बाद सब उद्योग-धन्धों की सुसंगठित योजना तैयार करने में और(३)उस योजना पर अमल शुरू होने में कितना समय लगेगा ?—इन सब प्रश्नों का उत्तर समाजवादियों की परिभाषा में देना हो तो वह इन शब्दों में दिया जा सकता है कि "वह समय अन्तर्राष्ट्रीय और सांसारिक परिस्थिति (International and world forces) पर निर्भर है। इसका मतलब यह हुआ कि वह समय वे निश्चित कर

१. पं० जवाहरलाल नेहरू—'मेरी कहानी' (दूसरा संस्करण) अध्याय ६२ पृष्ठ ६३२ से ६३६।

नहीं सकते ।[1]

अभी खादी भारतीय जनता को पराधीनतारूपी खाई से निकालकर स्वराज्य-रूपी घाट पर लेजानेवाली डौंगी के समान है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे समाजवादी नेता तक को यह विचार-सरणी स्वीकार है। ऐसी दशा में सब समाजवादियों का यह पवित्र कर्त्तव्य होजाता है कि स्वराज्य मिलने के अनिश्चित काल तक ही क्यों न हो उन्हे पूरे उत्साह के साथ खादी के आन्दोलन को प्रोत्साहन देना चाहिए।

अनेक लोगों ने अनेक कारणों से समाजवाद में (१) काम्यवाद, (२) अनीश्वरवाद, (३) हिंसावाद और (४) यन्त्रवाद की अनेक कारणों से घालमेल। करदी है, किन्तु वास्तव में समाजवाद के लिए इन चारों में से एक भी अनिवार्य नहीं है। बहुत-से समाजवादी ऐसे हैं जो इनमें से पहले दो—काम्यवाद और अनीश्वरवाद— में विश्वास नहीं करते, लेकिन सब

१. समय की इस अनिश्चितता और इन सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखकरही महात्माजी ने नीचे लिखे अनुसार जो निष्कर्ष निकाला है उसका आर हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। वह कहते हैं—

"जबतक हिन्दुस्तान के गांवों के १६ वर्ष से ऊपर के प्रत्येक सशक्त स्त्री-पुरुष के घर पर, खेत पर या कारखाने तक में मजदूरी देनेवाली कोई एकाध अच्छी योजना तैयार नहीं होजाती, अथवा जबतक हिन्दुस्तान के गांवों के बजाय काफी तादाद में नये शहर खड़किये जाकर उनमें ग्रामीण जनता के नियमित जीवन की पूर्त्ति के लिए आवश्यक सब वस्तुओं के मिलने की व्यवस्था नहीं होजाती - यह योजना जिस समय अमल में आनी हो तभी आवे—तबतक हिन्दुस्तान के करोड़ों ग्रामवासियों के हित को ध्यान में रखनेपर केवल एक शुद्ध अर्थ-शास्त्रीय कसौटी पर कसेजाने पर खादी का ही सिद्धान्त ठीक उतरेगा।"

(इन विचारों को इतने विस्तार से देने का मतलब यही है कि हम जान सकें कि हम जितने दीर्घ-कालीन भविष्य की कल्पना करसकें तबतक भी खादी का स्थान अटल रहने वाला है।) हरिजन २० जून १९३६।

समाजवादी बाकी के दो—हिंसावाद और यन्त्रवाद—को समाजवाद में गृहीत मानकर ही चलते हैं। लेकिन ऐसा होनेपर भी समाजवाद के मूल अर्थ में इन दोनों का समावेश करना ही चाहिए, वास्तव में यह बात नहीं है।

असल में देखने पर—

(१) सम्पत्ति का जो मुख्य और सार्वकालीन साधन भूमि है उसपर समाज का स्वामित्व होना चाहिए—'सबै भूमि गोपाल की' होनी चाहिए।

(२) खान, रेलवे, जहाज आदि के जो मुख्य उद्योग व्यक्तिगत रूप से करने योग्य न होने के कारण सामूहिक रूप से करने पड़ते हैं उन सब पर सरकार का अधिकार होना चाहिए।

(३) जीवन की प्राथमिक आवश्यकता की चीजें—अन्न, वस्त्र, घर और औजार—इन्हें तैयार करने और खेती में पूर्तिकर सहायता देसकने-वाले उद्योग, ग्रामोद्योग की पद्धति से, सम्पत्ति का केन्द्रीकरण न कर सकने-वाले चरखे आदि औजारों के जरिये चलाये जायं। जिसने ऐसी योजना तैयार की है समझना चाहिए कि उसने समाजवाद की ही स्थापना की है।

''एकान्तिक' समाजवादी 'प्रबुद्ध' समाजवादियों से जुदेहोकर खादी पर अनेक तरह के आक्षेप करते हैं। उपरोक्त विवेचन के बाद वस्तुतः इन आक्षेपों पर ध्यान देनें का कोई कारण नहीं रहजाता, फिर भी अजानकार समाज के कानों पर बार-बार ये आक्षेप आते रहने के कारण उसकी दिशा-भूल होना सम्भव है; इसलिए थोड़े में उनपर विचार करलेना ठीक होगा।

ये आक्षेप नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) खादी जनता में बढ़तीहुई दरिद्रता के कारण उत्पन्न होने-वाले असन्तोष को रोक रखती है और क्रान्ति की लहर के उभरने में कुछ अंशों में रुकावट डालती है।

(२) खादी के कारण सादे रहन-सहन का अवलम्बन करना पड़ता है और इसप्रकार आवश्यकता बढ़ाकर उच्च रहन-सहन का प्रचार नहीं होपाता।

(३) 'खादी' कोई अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है, और

(४) देश में सर्वत्र यन्त्रों—मशीनों—का जाल बिछाने से ही उसकी

दरिद्रता का प्रश्न हल होनेवाला है। लेकिन खादी और चरखे ने आधुनिक प्रगति में रुकावट पैदा करदी है, नहीं उसे पीछे हटा दिया है।

आइये, अब हम इनपर एक-एक पर क्रमशः विचार करें।

पहला आक्षेप—खादी के कारण लोगोंके पेट में दो ग्रास जाते हैं,इससे क्रान्ति की लहर उभरने नहीं पातीं। अगर लोग अधिक बुभुक्षित हों तो वे क्रांति के लिए जल्दी ही तैयार होजाते हैं। यही इस आक्षेप का मतलब है।

हमारे मत से यह विचार-सरणी ही गलत है। हमें इंग्लैण्ड-जैसे बलवान और सुसंगठित राष्ट्र से लड़ना है, अतः उससे लड़ने के लिए हमें उसके समान ही सुसंगठित शक्ति का निर्माण करना चाहिये। देश में इसप्रकार की—क्रान्ति करने की—शक्ति किस स्थिति में पैदा हो सकती है? उसी में, जबकि जनता में कुछ जीवन होगा और उसका मन शुद्ध होगा।

अन्न के बिना मनुष्य की प्राण-शक्ति का लोप होता है। अन्न बिना प्राण निर्बल होजाता है, जिससे जनता सुव्यवस्थित संगठन होनेतक टिक नहीं पाती। अन्न के अभाव में अगर किसी ने जनता को चिढ़ाया तो कुछ व्यक्ति इक्की-दुक्की हत्या आदि कर बैठेंगे और अपनी बची-खुची सारी शक्ति खर्च कर डालेंगे। इस कारण क्रान्ति के लिए आवश्यक संगठन होना असम्भव होजायगा। स्वयं अन्न का अभाव कोई क्रान्ति-उत्पादक शक्ति हो नहीं सकता। उसके अभाव का अर्थ सब प्रकार की शक्ति का अभाव है। बंगाल के अकाल ने यही सिद्ध किया है। कलकत्ता में मिठाई की दुकानें सामने रहतेहुए अकाल पीड़ित स्त्री-पुरुषों की जानें चली जाती थीं। लेकिन किसी की हिम्मत दुकानें लूटने की न हुई।

जो बात प्राण के सम्बन्ध में है, वही मन के सम्बन्ध में है। मन दुहरा है—विकारमय और बिचारमय। क्रान्ति के लिए सुव्यवस्थित पारदर्शी मन की आवश्यकता होती है। उसके लिए विचारमय मन चाहिए। अन्न के अभाव में काम करनेवाला मन विकारपूर्ण होता है। इसप्रकार के विकारमय मन के कारण ऊपर कहे अनुसार कुछ इक्की-दुक्की हत्यायें हो जांयगी; लेकिन संगठन नहीं होसकेगा। अन्न का अभाव विचारमय मन के जागृत होने

का साधन नहीं होसकता ।

खादी गरीब जनता के पेट में दो ग्रास डालती है, इससे जनता का प्राण और मन दोनों ही कायम रहते हैं; इसलिए किसी भी तरह का संगठन करना सुगम होता है । अंग्रेजी सरकार जैसे बलवान शत्रु से अहिंसात्मक रीति मे लड़ने के लिए जिस संगठन की आवश्यकता है वह अन्न के अभाव में निर्माण हो नहीं सकता ।

मद्रासप्रान्त के भूतपूर्व कांग्रेसी प्रधानमंत्री श्री राजगोपालाचार्य ने अपने एक भाषण में जो यह कहा था कि 'खाली पेट कान बहरे करते हैं'वह बहुत भावपूर्ण है। इस सम्बन्ध में ग्राम-सेवकों का अनुभव ध्यान दिये जाने योग्य है। ग्राम-सेवक किसानों के हित के लिए स्वास्थ्य-सम्बन्धी अथवा बौद्धिक जागृति के कितने ही प्रयत्न करें; लेकिन वह किसानों की नजरों में नहीं चढ़ते । लेकिन जब हम चरखे द्वारा मजदूरी के रूप में उनको सहायता करते हैं,तब वे हमारी ओर अपनतत्व के भाव से देखती हैं, और उसके बाद हम उनसे जो कुछ भी बात करने को कहते हैं, वे उसे बड़े उत्साह से, आनन्द से,और आत्म-विश्वास के साथ करते हैं ।

इससे खादी क्रान्ति के लिए विरोध-स्वरूप नहीं, बल्कि उसे पोषण देने वाली ही ठहरती है ।

दूसरा आक्षेप—इस समय हिन्दुस्तान में करोड़ों लोग ऐसे हैं जिनके पास पेट-भर खाने के लिए भोजन नहीं, तन ढकने के लिए कपड़े नहीं और गरमी, सरदी और बरसात से बचने के लिए छोटी-मोटी झोंपड़ी तक नहीं है । क्या ऐसी स्थिति होते हुए भी उनकी आवश्यकता बढ़ाने का उपदेश करना लगी हुई आग पर और तैल छिड़कने के समान अनिष्ट नहीं होगा ? क्या इससे उनकी दरिद्रता और अधिक नहीं बढ़ेगी ?

जनता को अपनी आवश्यकता बढ़ाने का उपदेश करनेसे पहले यह देख-लेना जरूरी है कि उसकी प्राथमिक आवश्यकतायें पूर्णतया पूरी हो पाती हैं या नहीं । इसके सिवा आवश्यकतायें बढ़ाना और अनुचित आवश्यकताओं को छोड़ते जाना उच्च रहन-सहन का सूचक है । उदाहरणार्थ, किसान और

मजदूर, अपनी गरीबी का कारण बनाकर ताजी हरी शाक-भाजा न खाते हों तो वह खानी चाहिए और उनमें अगर बीड़ी तम्बाकू का व्यसन हो तो छोड़देना चाहिए। इसी तरह अगर उन्हें जुआ खेलने की आदत हो तो उनसे यह लत छुड़वानी चाहिए और ऐसी पुस्तकें लेने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए जिनसे उनके विचार सुसंस्कृत हों। अगर वे शराब के व्यसन के शिकार होगये हों तो उससे उन्हें छुड़ाकर ऐसी योजना कीजाय जिससे वे छाछ, दूध अथवा शहद का सेवन करने लगें।

इसके सिवा जो आवश्यकतायें उचित प्रतीत हों उन तक में तारतम्य देखलेना चाहिए। उदाहरणार्थ अगर हम यह मानकर चलें कि देश को अच्छे बोधप्रद और मनोरंजक सिनेमा की आवश्यकता तो है; लेकिन उसको पूरा करने के लिए हमें एकाध एकादशी अथवा सोमवार का उपवास करना पड़ता है, तो हम तारतम्य का विचारकर उस आवश्यकता को तुरन्त छोड़दें। उसीतरह अगर हमें ऐसा प्रतीत हो कि रेडियो द्वारा अपना मन बहलाव करना चाहिए; लेकिन अगर मच्छरों के दुःख से घर में लोग बीमार पड़ते हों तो हमारा कर्तव्य रेडियो के बजाय मसहरी लेना ही होगा।

खैर, अगर हम क्षण भर के लिए यह मानकर भी चलें कि आवश्यकतायें बढ़ाना उच्च रहन-सहन का लक्षण है, तब प्रश्न यह होता है कि उन्हें कहां तक बढ़ाया जाय? उन पर पाबन्दी कब लगाई जाय? वास्तव में देखनेपर आवश्यकतायें बढ़ाना उच्च रहन-सहन का लक्षण नहीं है, प्रत्युत विवेकपूर्ण और संयमशील जीवन बिताना ही उच्च संस्कृति का परिचायक है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ श्री राधाकमल मुकर्जी कहते हैं—"भारतीय जनता अपने नैतिक आध्यात्मिक जीवन को अधिक शक्ति और गम्भीरता के साथ चला सकने के लिए अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं तक को बहुत कम करते जाने का प्रयत्न करती है।"[१]

१. राधाकमल मुकर्जी कृत "Foundations of Indian Economics" पृ० ४५८

लेखक ने इस पुस्तक में इस विषय पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। जिज्ञासु उसे मूल पुस्तक में देख सकते हैं।

तीसरा आक्षेप—खादी कोई अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है, इसका मतलब यह है कि आर्थिक दृष्टि से खादी पुसानेवाली नहीं है, उसके जरिये राष्ट्रीय सम्पत्ति में कोई खास वृद्धि नहीं होती। लेकिन ऐसा कहना वस्तु-स्थिति के विपरीत है। किसानों के पास वर्ष-भर में तीन-चार महीने काम नहीं रहता; ऐसी दशा में यदि उन्होंने फुरसत के समय का सदुपयोग कर चार पैसे की कमाई की तो उससे राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि ही होगी, उसके कारण थोड़ी-सी ही सही, बेकारी दूर होगी और राष्ट्र की दृष्टि से बेकारी का दूर होना अर्थशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

खादी के कारण समूचे राष्ट्र की सम्पत्ति का माप करने के लिए यह शक्ति एक अधिकृत साधन है।

जितनी तादाद में खादी पैदा होती है, उतने ही परिमाण में विदेशी माल की खपत में कमी होती है, इस तरह भी राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि होकर फिर उसका उपयोग राष्ट्र की उत्पादक-शक्ति बढ़ाने में होता है। इसलिए खादी खरीदनेवाले की जेब में से दो पैसे अधिक जाने पर भी प्रकारान्तर से राष्ट्र की उत्पत्ति में वृद्धि होने से उसकी सम्पत्ति की वृद्धि ही होती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अर्थशास्त्र व्यक्ति की सम्पत्ति का शास्त्र नहीं, राष्ट्र की सम्पत्ति का शास्त्र है। जो शास्त्र व्यक्ति के संकुचित नफे-नुकसान को न देखकर राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि होती है या नहीं, इस बात पर नजर रखता है वही अर्थशास्त्र है। अपने को समाजवादी कहनेवाले लोग केवल व्यक्ति को ध्यान में रख कर इस प्रकार का आक्षेप नहीं कर सकते।

खादी से पूंजी का केन्द्रीकरण नहीं होता, मजदूरों का केन्द्रीकरण नहीं होता और सत्ता का केन्द्रीकरण नहीं होता। इससे अपने-अपने धन्धे में प्रत्येक व्यक्ति को अपने निजी कौशल या कारीगरी के विकास करने की काफी स्वतन्त्रता और गुंजायश रहती है। अतः पूंजीपति और मजदूर, मालिक और नौकर में इस प्रकार का सम्बन्ध ही पैदा नहीं होने पाता; क्योंकि इसमें कहीं भी बन्धन का वातावरण नहीं रहता। कारखाने की तरह १०

घंटे का दिन या ६४ घंटे का सप्ताह, ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते। छुट्टी, गैरहाजिरी, तनख्वाह, बोनस या हड़ताल जैसे जो कि कारखानों में हमेशा उठते रहते हैं, उनके उठने की संभावना ही नहीं रहती। उसी प्रकार कारखानों में जिस तरह मजदूरों की या उनके बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल, उनकी दवादारू के लिए अस्पताल, और उनकी स्त्रियों के लिए प्रसूतिग्रह बनाने पड़ते हैं, खादी के नव-संस्करण से ऐसी किसी बात की जरूरत नहीं रहेगी। कारखानों में हजारों स्त्री-पुरुषों के एक जगह रहने से उनका नैतिक आचार बिगड़ने की बहुत संभावना रहती है; लेकिन घर-घर चरखा और गली-गली करघा चल जाने से ऐसी आपत्ति आने की कोई आशंका ही नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त महायुद्ध के दिनों में केन्द्रीभूत कारखानों पर बम पड़ने से उनके समूचे नष्ट होने की जैसी बहुत सम्भावना रहती है वैसी धन्धों के विकेन्द्रित हो जाने से नहीं हो सकती; क्योंकि देहात के मिट्टी के घरों की अपेक्षा बम की ही कीमत अधिक होती है। फिर ये घर तो हजारों लाखों गांवों में बिखरे पड़े हैं अतः शत्रु कहां-कहां बम गिरायेगा ? और यह बम गिराना उसे कैसे पुसावेगा भी ?

कारखानों में पूंजी और मजदूरों का केन्द्रीकरण हो जाने से पूंजीपति मजदूरों को उनके श्रम के हिसाब से वेतन नहीं देते। वे नफा तो उनके श्रम पर कमाते हैं; लेकिन उस नफे के हिसाब से उन्हें मजदूरी नहीं देते। इस प्रकार पूंजीपति कारखानेवालों की ओर से लगातार मजदूरों का शोषण होता ही रहता है। इसके अतिरिक्त पूंजी का, श्रम का, और सत्ता का केन्द्रीकरण होजाने से पक्के माल को खपाने और कच्चे माल को खरीदने के लिए प्रबल राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों पर कुछ अपराध न होते हुए भी हमला कर देते हैं और उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं। एक बार दुर्बल राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अपहरण किया कि फिर क्या कहना ? नाना प्रकार से उसका शोषण करके उसका जीवन असह्य बना देते हैं। लेकिन खादी के उद्योग में इस प्रकार के शोषण की बिल्कुल गुंजायश नहीं रहती।

उसमें अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। सारा 'मुनाफा, बोनस अथवा ब्याज' अधिकतर और अधिकांश में समान-रूप में श्रमजीवियों में ही बंट जाता है। दलाल की दलाली के लिए उसमें मौका ही नहीं होता। लोढ़ना, धुनकी, चरखी आदि खादी के सब औजार कम कीमत के होने के कारण साधारण ग्रामवासी तक उन्हें खरीद सकता है। इसलिए इन साधनों को सामाजिक बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, और इस प्रकार इसमें रक्तशोषण के लिए मौका ही नहीं रहता।

इन सब दृष्टियों से विचार करने पर यह बात निर्विवाद ठहरती है कि खादी का आन्दोलन सर्वव्यापी होने के कारण वह—खादी—राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि करती है।[1]

चौथा आक्षेप—यन्त्रवाद को माननेवाला प्रबुद्ध समाजवाद भी आज की खादी की उपयुक्तता को स्वीकार करता है। अगर वह आज समाज के लिए उपयुक्त है तो वह उसे पीछे किस तरह ले जाती है? अगर वह समाज को पीछे ले जाती है तो यह कहना चाहिए कि आज भी वह उपयुक्त नहीं है। लेकिन एकान्तिक यंत्रवादी समाजवाद का वेश धारण करके जो यह कहता है कि आज की घड़ी खादी निरुपयोगी है वह बाह्यतः—ऊपर से—समाजवादी है, किन्तु भीतर से उसे देखा जाय तो वह यन्त्रवादी सिद्ध होगा। उसके लिए उत्तर यह है—

"यह बात अक्षरशः सत्य है कि औद्योगिक क्रान्ति के बाद मनुष्य को प्रकृति के गुप्त रहस्यों का बोध हुआ है और उसमें छिपे पड़े रत्न-भंडार का उपयोग करने की उसकी शक्ति भी बढ़ी है; लेकिन उस शक्ति का जितना विकास हुआ है उस परिमाण में इस ज्ञान और शक्ति का मानव-जाति की सेवा के लिए उपयोग और नियन्त्रण करने के लिए जिस नैतिक साहस की आवश्यकता होती है, उसका विकास नहीं हुआ है।" संसार के युद्धमान राष्ट्रों में विषैली गैस और हवाई जहाजों पर से बरसाये जानेवाले बमगोलों से मानवजाति का जो संहार होता है वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है।

१. आचार्य कृपलानी "Gandhian way"

यूरोपवासियों को यन्त्रों—मशीनों—के कारण ही 'समाजवाद' सूझा है। औद्योगीकरण के दोष जानकर भी वे यन्त्रों—मशीनों—का व्यवहार करके ही उनका दोष दूर करने को कहते हैं। वे 'मशीन और उद्योग का केन्द्रीकरण' चाहते हैं, केवल रक्त-शोषण नहीं चाहते। वास्तव में देखने पर हमें भारत की विशेष परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही विचार करना चाहिए

पश्चिमी देशों में जिस तादाद में औद्योगीकरण हुआ है उतना हिन्दुस्तान में नहीं हुआ है। श्री जयप्रकाशनारायण अपने 'समाजवाद ही क्यों ?' नामक पुस्तक में लिखते हैं—"यान्त्रिक दृष्टि से पिछड़े हुए हिन्दुस्तान में औद्योगीकरण करने के लिए स्वभावतः ही कुछ समय लगेगा; इसलिए उसका समाजवादी राष्ट्रों में तुरन्त ही रूपान्तर किया जा सकना सम्भव नहीं है।[१] जब वस्तुस्थिति यह है तब हिन्दुस्तान में पहले तो यन्त्र-युग शुरू किया जाय और फिर दोष दूर करने बैठा जाय, क्या इस प्रकार अव्यापारेषुव्यापार करना उचित होगा ? क्या इसकी अपेक्षा औद्योगीकरण के दोष दूर कर अपनी संस्कृति के अनुकूल समाज के पुनर्संगठन का प्रयत्न करना हितकर नहीं होगा ?

हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धन्धों को अंग्रेज सरकार ने चौपट किया है। अकेली खेती पर पेट भरनेवाले लोगों की संख्या ७३ फीसदी हो गई है। इनके पास वर्ष में ३–४ महीने काम नहीं रहता। इसके सिवा हिन्दुस्तान के ५ करोड़ लोग और बेकार हैं। फिर हिन्दुस्तान के बैलों को भी कुछ काम मिलना चाहिए। (पश्चिमी देशों की तरह हिन्दुस्तान के लोग बैलों का उपयोग खाने में नहीं करते।) इस समय हिन्दुस्तान की सब मिलों में ५ लाख के लगभग मजदूर हैं। ऐसी दशा में अगर हिन्दुस्तान में औद्योगीकरण किया गया तो सारे लोग इतना माल तैयार करने लगेंगे कि उसको खपाने के लिए दूसरे देश जीतने पड़ेंगे। दूसरे देश जीतने का मतलब दुर्बल राष्ट्र का रक्त-शोषण करना ही होगा।

ऐसा एक भी यन्त्र-परायण राष्ट्र नहीं है जो बेकारी का शिकार न

१. पृष्ठ ७८

हुआ हो। इसके लिए अमेरिका और जापान को चीन पर आक्रमण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है। उत्पत्ति के केन्द्रीकरण के मूल में मनुष्य के काम में कमी करने की कल्पना है। यह केन्द्रीकरण ही जब बेकारी का निर्माण करता है, तब वह बेकारी के प्रश्न को किस तरह हल कर सकेगा ? केन्द्रीकरण मनुष्य को पशु बनाता है। ये यन्त्र—मशीनें—हमारे गुलाम होने चाहिए। मनुष्य को उन औजारों और उपकरणों को अपने अधीन रखना चाहिए। उद्योग-धन्धों का विभक्तीकरण होने पर ही यह सम्भव हो सकता है। लंकाशायर की मिलों का केन्द्रीकरण होने के कारण हिन्दुस्तान में बेकारी बढ़ी है और विलायत में कुछ करोड़पतियों का निर्माण किया है। उसी के कारण हमारा राजनैतिक अध:पतन हुआ है। इस समय हम अनेक हस्त व्यवसायों—हाथ के धन्धों—की मृत्यु-शैया के निकट बैठे हुए हैं। अगर हम उनका पुनरुद्धार कर सके तो करोड़ों बेकारों को काम, सुख और सम्पत्ति देने का यश हमें मिलेगा।[1]

ऊपर के विवेचन पर से यह प्रश्न पैदा होगा कि मशीनें हमारी दरिद्रता के प्रश्न को हल करनेवाली हैं या खादी और ग्रामोद्योग बेकारों को काम देकर उन्हें जीवित रखनेवाले हैं ? इसपर हमारा यह स्पष्ट उत्तर है कि हिन्दुस्तान की आबादी, हिन्दुस्तान की बेकारी, हिन्दुस्तान की खेती की परिस्थिति, हिन्दुस्तान में अबतक हुआ औद्योगीकरण और हिन्दुस्तान की परम्परा एवं संस्कृति इन सबका सामूहिक रूप से विचार करने पर यह निश्चय है कि मनुष्यों को पशु बनाने वाली ये अजस्त्र मशीनें और उत्पत्ति का अनावश्यक केन्द्रीकरण हिन्दुस्तान के लिए विघातक ही सिद्ध होगा। इसके विपरीत चरखे और ग्रामोद्योग द्वारा (उत्पत्ति) का केन्द्रीकरण न होकर (२) पैसे का समान बंटवारा होगा; (३) रक्त-शोषण नहीं होगा; हस्तकौशल और बुद्धि के विकास होने का मौका मिलेगा और (५) जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क बढ़ाकर राष्ट्र का संगठन करने में सहायता मिलेगी।

१. श्री० कुमारप्पा—'हरिजन', १९ फरवरी १९३८

: १२ :

खादी पर होनेवाले दूसरे आक्षेप

खादी पर किये जाने वाले प्रमुख आक्षेपों का विवेचन पिछले दो अध्यायों में किया जा चुका है। इस अध्याय में दूसरे आक्षेपों पर विचार करेंगे।

पहला आक्षेप—कुछ लोगों का कहना है कि हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश है, ऐसी दशा में खेती में सुधार करने के बजाय चरखे और खादी के पीछे व्यर्थ ही क्यों पड़ा जाता है?

इसका उत्तर यही है कि हिन्दुस्तान की खेती में यह मुख्य दोष है कि यहां के खेतिहरों—किसानों—को बारहों महीने काम पूरा नहीं पड़ता। अतः उसमें जो सुधार करने हों वे ऐसे होने चाहिएं जिससे कि किसानों को बारहों महीने काम मिलता रहे—उनकी जबरदस्ती की बेकारी और आलस्य दूर होना चाहिए। 'बेकारी और आलस्य' शीर्षक अध्याय में संयुक्त प्रान्त के मर्दुमशुमारी के अफसर मि० एडी का यह कथन हम देख ही चुके हैं कि हिन्दुस्तान की प्राकृतिक स्थिति ही ऐसी है कि इंग्लैण्ड की, किसानों को बारहों महीने काम देने वाली मिश्र खेती यहां हो ही नहीं सकती।[१] हिन्दुस्तान की अधिकतर जमीन बंजर है, अतः खेती में कुछ सुधार किये भी गये तो भी उनसे खेतिहरों—किसानों—की बेकारी दूर होगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बहुत हुआ तो उनके काम के दिनों में कुछ काम अधिक बढ़ जायगा; लेकिन वर्ष में कम-से-कम तीन चार महीने तो बिना काम के बीतेंगे ही। ऐसी स्थिति में उस अवधि में उन्हें कोई सा भी दूसरा सहायक धन्धा करना ही होगा और जब उन्हें सहायक धन्धा करना ही है तो यह

१. इंग्लैण्ड की हवा ठंडी होने के कारण वहां के खेतों में बारहों महीने सील रहती है।

सिद्ध किया जा चुका है कि किसानों के लिए चरखे से उत्तम दूसरा और कोई धन्धा नहीं है।

सरकार ने खेती में सुधार करने के लिए अपना कृषि-विभाग खोल रखा है। आज तक उस विभाग की ओर से खेती में कितना सुधार हुआ? भारतीय ग्रामीण जनता की आर्थिक स्थिति में कितनी उन्नति हुई ? पूना और अहमदाबाद की प्रदर्शिनियां करने में सरकार का क्या उद्देश्य था, यह प्रकट हो ही चुका है। मि० सेम्युल 'मिनिस्टर फार ओवर सीज ट्रेड ने लिकन चेम्बर्स आव कामर्स के सामने, भाषण देते हुए कहा था—

"भारतीय किसानों की सहायता के लिए भारत-सरकार मदद देती है, और उसका सबसे अच्छा तरीका है उनके हाथों में उन्नत खेती के ओजार पकड़ा देना। नई पद्धति के ओजार किस तरह काम में लाये जायं, उन्हें किस तरह दुरुस्त किया जाय यह बताने के लिए ही सरकार ने कृषि और सहकारी विभागों का निर्माण किया है।

भारत सरकार, भारतीय जनता से विलायती ओजार काम म लिवाने का यह प्रयत्न अभी ही करती हो सो बात नहीं है; सन् १८३२ में कामन्स कमेटी के सामने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोटेनिकल गार्डन के सुपरिन्टेण्डेण्ट डा० वालिक की गवाही हुई थी। उनसे यह प्रश्न किये जाने पर कि 'हिन्दुस्तान मे विलायती ओजार काम में लाये गये हैं, उस सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?' उसका उन्होंने जो जवाब दिया था वह इस प्रकार है—

"यद्यपि अनेक दृष्टियों से बंगाल के किसान अत्यन्त सीधे-सादे हैं और उनका रहन-सहन पुरानी पद्धति का है, तो भी लोग जितना समझते हैं उतने नीचे दर्जे के वे नहीं हैं। बार-बार यह बात मेरे देखने में आई है कि अगर उनमें एकदम कोई सुधार करने का प्रयत्न किया गया तो उसका परिणाम कभी भी अच्छा नहीं हुआ। उदाहरणार्थ मुझे मालूम है कि ऊपर-ऊपर से जमीन कुरेदनेवाले और अत्यन्त उकता देने वाले बंगाली हलों की बजाय विलायती हल शुरू किये गये थे; लेकिन उसका नतीजा क्या हुआ ? जमीन के अत्यन्त नरम होने के कारण विलायती हल जमीन को खूब

नीचे से कुरेदकर मिट्टी को ऊपर लेआये, और इससे खेती को बहुत हानि हुई।[1]

पाठक स्वयं विचार करें कि इसमें दोष किसका है। बंगाली किसानों का, वहां की जमीन का, अथवा विलायती हलों का!

यह तो हुई सन् १८३२ की बात। इसी तरह की गवाही मि० मर्सर की हुई थी। मि० मर्सर अमेरिकन खेतिहर थे और उन्होंने हिन्दुस्तान में आकर यहां की खेती का अनुभव किया था। उन्होंने अपनी गवाही में कहा था—"अमेरिकन पद्धति हिन्दुस्तान के अनुकल नहीं है। हिन्दुस्तान के लोग अपने खेतों की शक्ति और जलवायु से परिचित हैं; इसलिए किसी भी यूरोपियन की अपेक्षा वे अधिक कम खर्च में और मितव्ययिता या किफायत के ढंग से खेती करते हैं।"[2]

हिन्दुस्तान की जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े होने और किसान के दरिद्री होने के कारण भारी-भरकम विलायती औजारों का बरतना उनके वश की बात हो ही नहीं सकती। "जो लोग यह कहते हैं कि भारतीय लोगों को कृषि-शिक्षा दी जानी चाहिए, उनकी नजरों के सामने हमेशा ट्रेक्टर (भाप से चलने वाला लोहे का हल), बनावटी खाद, और भारी-भारी खेत ही रहते हैं। भारतीय किसान इतने गरीब हैं कि भाप से चलनेवाले हल खरीदने की उनकी हैसियत ही नहीं है। उनकी जमीन के इतने छोटे-छोटे टुकड़े होगये हैं कि उनका पाश्चात्य अनेक पद्धतियों का प्रयोग करना आर्थिक दृष्टि से पुसायगा नहीं।"[3]

भारतीय किसानों की स्थिति सुधारने के लिए सरकार को पहले तो जमीन के लगान की अपनी नीति और पद्धति इस तरह बदलनी चाहिए।

१. रमेशचन्द्र दत्त, भाग २ पृष्ठ ५७

२. खादी प्रतिष्ठान का 'खादी मेन्युअल' भाग २ पृष्ठ ११०

३, ग्रेग 'Economics of khaddar' पृष्ठ १५० और म. रा. बोड्स 'ग्राम संस्था' प्रस्तावना पृष्ठ ४९, हरिभाऊ फाटक 'स्वदेशी की मीमांसा' पृष्ठ ८८

इसी तरह पिछले अध्याय में प्रो० काले की कही हुई यह बात पाठकों को याद ही होगी कि फसल, खाद और बीज आदि का कितना ही सुधार करने पर भी उससे किसानों की स्थिति सुधरनेवाली नहीं है, जिससे कि वह किसानों के अनुकूल हो और साथ ही रेलवे की जगह नहरों की वृद्धि करनी चाहिए। किसान को हमेशा इस बात का डर बना रहता है कि पता नहीं उसका लगान कब और कितना बढ़ जायगा। इसलिए वे खेती में ऐसे सुधार नहीं कर पाते जो अधिक काल तक टिक सकें। एकाध वर्ष फसल की पैदावार न होने की हालत में उन्हें लगान की सर्वथा छूट नहीं मिलती। ज्यादा-से-ज्यादा उस वर्ष उसकी वसूली स्थगित कर दी जाती है। खेत में फसल के तैयार होते-होते ही सरकार और साहूकार के दूत उनके पीछे पड़ जाते हैं। उनके कारण जियो या मरो की-सी स्थिति हो जाती है। उन्हें जिस किसी भी भाव अपना माल बेचने की जल्दी करनी पड़ती है। इससे उनका बहुत नुकसान होता है, फसल का होना-न-होना एकसा हो जाता है। यह स्थिति बदली जानी चाहिए। इसके लिए ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि खेती का माल स्थिर चित्त और शान्ति के साथ और अच्छा भाव आवे ऐसे समय बेचा जा सके। इसके सिवा उन्हें सहायक धन्धे के रूप में चरखे का आश्रय लेना चाहिए।

किसी एक सज्जन ने महात्माजी से यह प्रश्न किया था कि 'आप किसानों के सम्बन्ध में अधिक क्यों नहीं लिखते?' उसपर उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया था—"मैं किसानों के सम्बन्ध में इसलिए जानबूझकर अधिक नहीं लिखता; क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि वर्तमान परिस्थिति में हम उनके लिए अधिक कुछ कर-धर नहीं सकते—हमारे लिए वह सम्भव नहीं है। किसानों की स्थिति सुधारने के लिए हजारों बातें की जानी चाहिएं। लेकिन जबतक शासन के सूत्र किसानों के प्रतिनिधियों के हाथ में नहीं जा पाते, जबतक हमें स्वराज्य—धर्मराज्य—मिल नहीं जाता तबतक उनका सुधार कर सकना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। मैं जानता हूं कि अत्यन्त कष्टमय जीवन बिताते हुए भी किसान को

रोज थोड़ा-सा भोजन भी शायद ही मिल पाता है। इसीलिए मैंने चरखे का पुनरुद्धार बताया है।"[१]

दूसरा आक्षेप—चरखे और खादी पर एक आक्षेप हमेशा यह किया जाता है कि क्या वर्तमान मशीन-युग में चरखा और खादी का प्रचार करने के लिए कहना घड़ी की सुइयों को पीछे हटा देने के समान नहीं है? रेलगाड़ी के जमाने में बैलगाड़ी की हिमायत करने के समान नहीं है?

ये आक्षेप करनेवाले यह समझ बैठे हैं कि एक तरह की सब मशीनें समस्त मानव समाज के लिए हितकारक ही सिद्ध हुई हैं, किन्तु असल में देखने पर पता चलेगा कि मशीनों ने हमारी कुछ सुख-सुविधायें बढ़ा दी हैं; लेकिन साथ ही उन्होंने मानव-समाज पर कुछ दूसरी मुसीबतें भी ढहाई हैं। ऐसी दशा में कोई भी विवेकशील पुरुष छाती ठोककर यह नहीं कह सकेगा कि मशीनों ने मानव-जाति की एक समान प्रगति ही की है।

इस सम्बन्ध में महात्माजी की विचारसरणी भी विवेक पूर्ण ही है। वह यह नहीं कहते कि मशीन नामधारी सभी चीजें त्याज्य हैं। उनका कहना सिर्फ इतना ही है कि जो मशीनें मनुष्यों को गुलाम बनाती हैं, उनके हाथ पैर, आंखें आदि इन्द्रियों का विकास न होने देकर उनकी प्रगति को रोकती हैं, अर्थात् जो मशीनें मनुष्यों को मशीन के समान बना देती हैं वे त्याज्य मानी जानी चाहिए। इसके विपरीत जिन मशीनों में मनुष्य के हस्तकौशल और बुद्धि के विकास का मौका रहता है, जिन यंत्रों का मनुष्य अपनी इच्छानुसार नियन्त्रण कर सकता है अर्थात् मनुष्य स्वयं इनका गुलाम न बनकर स्वयं उन्हें ही अपना गुलाम बनाता है, उन्हें वह त्याज्य नहीं मानते।

"भारतीय अर्थशास्त्र की दृष्टि से यान्त्रिक साधन और उनमें किये जानेवाले सुधारों की दो विधियां हो सकती हैं—

(१) **पहली विधि**—श्रम करनेवाले मनुष्य या पशु के स्नायु को कम श्रम करना पड़े और उनका समय बचे, इस दृष्टि से बनाये हुये यंत्र। उदाहरणार्थ—चकरी अथवा फिरकी, चक्की, चरखा साईकल, सीने

१. 'यंग इण्डिया' भाग २, पृष्ठ १०२३

की मशीन, झटकासाल, इत्यादि

(२) दूसरी विधि—श्रम करनेवाले मनुष्य अथवा पशु की कमी-पूर्ति करनेवाली अथवा पशुओं की संख्या कम करनेवाली—

अथवा

मजदूरों के बुद्धि-चातुर्य या शरीर-बल का उपयोग करने के बदले उन्हें जीवितयन्त्र समझकर उनका उपयोग करनेवाले यंत्र। उदाहरणार्थ: आटे की चक्की, चावल तैयार करने का कारखाना, तेल निकालने की मिल, सूत और कपड़ों की मिले, भाप की सहायता से चलनेवाले हल (ट्रेक्टर), भाप अथवा बिजली की सहायता से चलनेवाले पानी के पंप आदि।

इसमें पहले प्रकार के यंत्र और उनमें होनेवाले सुधार आमतौर पर इष्ट हैं।

दूसरे प्रकार के यान्त्रिक साधन अथवा उनमें होनेवाले सुधारों का उपयोग करने में विवेक और चतुराई से काम लेना चाहिए।

(१) व्यक्तिगत साहस से न होनेवाले मगर सरकार की ओर से या सरकारी मदद से चलाये जानेवाले उद्योग। उदाहरणार्थ: रेलगाड़ी, जहाज, महत्त्व की खानें, मिट्टी के तेल के कुएं और उनके लिए—

(२) अत्यन्त सूक्ष्म काम देनेवाले साधन। उदाहरणार्थ: घड़ी, टाइपराइटर, प्रयोगशाला के सूक्ष्म औजार, उनके लिए काम में लाये जानेवाले औजार। इनके लिए यदि मशीन का उपयोग किया जाय तो इसमें दोष नहीं है।"[१]

इस विषय में महात्माजी की विचारसरणी इस प्रकार है—"सीन की मशीनें जारी हुईं तो भी सुई ने अपना स्थान अथवा उपयुक्तता अभीतक गंवाई नहीं है; 'टाइपराइटर' के जारी होने पर अभीतक हस्तलेखन का कौशल नष्ट नहीं हुआ है। जिस तरह होटलों के जारी होने पर भी घर-गृहस्थी में चूल्हे जारी ही हैं, उसी तरह मिलों के होते हुए भी चरखे क्यों

१. किशोरलाल मशरूवाला' 'गांधी-विचार-दोहन', द्वितीय संस्करण पृष्ठ १२५-२६-२७

न चलाये जायें, इस सम्बन्ध में शंका करने का कुछ भी कारण रह नहीं जाता। सचमुच टाइपराइटर और सिलाई की मशीनें कभी नष्ट भी हो जायें तो भी सुई और बरू की कलम हमेशा कायम रहेंगी ही। सम्भव है मिलों की दशा कभी पलटा खा जाय; लेकिन चरखा राष्ट्र की एक आवश्यक वस्तु है।"[1]

बीसवीं सदी के इस यान्त्रिक-युग में महात्माजी खादी और चरखे का प्रतिपादन क्यों करते हैं, यह बात उपरोक्त सारे विवेचन पर से स्वच्छ शीशे की तरह स्पष्ट दिखाई दे जाती है। महात्माजी मशीनों के विरुद्ध नहीं हैं। अगर विरुद्ध होते तो क्या वह गांवों में दुरुस्त हो सकने और प्रति घण्टा २,००० गज सूत कात सकनेवाले चरखे की खोज करनेवाले को एक लाख रुपये पुरस्कार देने की तजवीज करते?[2]

तीसरा आक्षेप—यह है कि अगर खादी बेकारों को काम देती है, गरीबों के पेट में अन्न के दो ग्रास डालती है—वह अंधे की लकड़ी, विधवा का सहारा और भूखे की रोटी है,—और लोगों का वास्तविक कल्याण करने-वाली है तो उसकी प्रगति इतनी मन्द क्यों है? खादी से अगर लोगों का वास्तविक कल्याण हुआ होता, तो अभीतक उसका सपाटे से प्रसार होना चाहिए था। अगर वैसा प्रसार नहीं होता तो उसी तरह वह हितकारक भी नहीं है।

इसके उत्तर में चरखा-संघ की ओर से प्रकाशित अंकों[3] का अध्ययन करने पर कोई भी यह बात जान सकता है कि लाखों लोगों की दृष्टि से विचार करने पर खादी की प्रगति मन्द होते हुए भी किसी दूसरे एकाध धन्धे की तुलना में वह काफी अधिक है। उसकी—खादी—की मार्फत प्रतिवर्ष गांव में अधिक-से-अधिक मजदूरों को अधिक-से-अधिक मजदूरी

१. 'यंग इण्डिया' भाग १, पृष्ठ ५०३

२. यन्त्रों-मशीनों-सम्बन्धी अधिक विवेचन 'खादी और समाजवाद' अध्याय में देखिए।

३. 'अखिल भारतीय खादी कार्य' शीर्षक अध्याय।

बांटी जाती है। व्यवस्था खर्च कम-से-कम पड़ता है, और एक-एक पैसा मुख्यतः वहीं के लोगों में घूमता रहता है।

"खादी को (१) ग्रामीण लोगों के सुदृढ़ पूर्व संस्कार, (२) राजाश्रय का अभाव, (३) भयंकर प्रतिस्पर्धा, (४) अर्थशास्त्र विशेषज्ञ कहे जाने वालों के प्रचलित मत और (५) स्वयं खादीधारी लोगों की ओर से सस्ती खादी के लिए उत्तरोत्तर होने वाली मांग, इन सब के बीच में से अपना मार्ग निकालना पड़ता है। इसलिए इस शोक-भूमि के लिए सच्चा अर्थशास्त्र क्या है, ग्रामीण और शहरी लोगों को इस विषय की शिक्षा देना असली महत्त्व का काम है। यह अर्थशास्त्र धर्म-भेद से परे है। गांवों में रहने वाले हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी दरिद्रता और भूख से ओतप्रोत और ग्रस्त हैं। यदि कुछ अन्तर हुआ भी तो वह कम-अधिक तीव्रता का होगा।

"इसलिए मेरा कहना यह है कि एक-एक गज का मुकाबिला करने से मिलों के कपड़े की अपेक्षा खादी महंगी होगी; लेकिन सब ओर से और ग्रामवासियों की दृष्टि से देखने पर उच्चतम अर्थशास्त्र के आधार पर खादी ही व्यवहारतः अद्वितीय वस्तु है। इस कथन का गहरा परीक्षण करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि "दूसरे ग्रामोद्योग का भी खादी में ही समावेश होता है।"[1]

चौथा आक्षेप—खादी न पहनने वाले सरकारी नौकर हमेशा यह प्रश्न करते रहते हैं कि हम तो सरकारी नौकर ठहरे, ऐसी दशा में हम खादी कैसे बरत सकते हैं?

सरकारी नौकरों से हमारा यह निवेदन है कि आपने सरकार को अपना शरीर, मन और समय बेचा होगा; लेकिन इन सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु आत्मा आपने उसे नहीं बेची है। इस पृथ्वी पर किसी भी व्यक्ति के डर से अपने भाई-बहनों का बनाया हुआ कपड़ा बरतने से नहीं हिचकिचाना चाहिए। सरकार ने अगर हमारे भाई बहनों के हाथों तैयार हुआ कपड़ा

१. महात्मा गांधी—हरिजन २० जून १९३६ (महाराष्ट्र खादी पत्रिका, जून १९३६ पृ० २३)

पहनने की मनाई की हो तो कहना होगा कि हमारी गुलामी की हद ही हो गई। आज सरकार ने हमारी बहनों का तैयार किया हुआ कपड़ा पहनने की मनादी की और अगर स्वाभिमान-शून्य होकर उसे स्वीकार कर लिया, तो कल सरकार कदाचित् यह भी कहेगी कि तुम अपनी बहन की बनाई हुई रोटी मत खाओ। तब क्या तुम उस भोजन का तिरस्कार करोगे? ऐसा हुआ तो स्वाभिमान-शून्य पशु का-सा जीवन बिताने की अपेक्षा सरकार के इस अन्यायपूर्ण कार्य का विरोध करते हुए प्रत्यक्ष मृत्यु का आलिंगन करने का अवसर आये तो उसमें क्या बुराई है?

हमारा विश्वास है कि कोई भी सच्चा अंग्रेज अधिकारी खादी का व्यवहार करने में आपत्ति कर नहीं सकेगा; और अगर आपत्ति की भी तो उससे छाती ठोककर अत्यन्त सरल और स्पष्ट यह प्रश्न किया जाय कि 'आपने अपने शरीर पर कौन से वस्त्र पहन रखे हैं? क्या आपके शरीर पर फ्रेंच अथवा जर्मन वस्त्र हैं? अगर फ्रेंच और जर्मन वस्त्रों के बजाय अंग्रेजी वस्त्र ही हों तो उनसे यह स्पष्ट कहा जाय कि अगर आपको इंग्लैण्ड के वस्त्र व्यवहार में लाने में शोभा और अभिमान अनुभव होता है, तो हम अपनी मां-बहनों के कते सूत का कपड़े का इस्तैमाल करते हैं उसमें आपको आपत्ति क्यों होनी चाहिए? सच्चे अंग्रेज अधिकारी को यह मुंह-तोड़, स्वाभिमानपूर्ण और सजीव वाणी सुनकर सच्चा आनन्द होगा प्रश्नकर्ता के प्रति तिरस्कार व्यक्त करने के बजाय उल्टा वह उसकी सराहना और अभिनन्दन करेगा।

सारांश यह कि सरकारी नौकरों ने सरकार को अपनी आत्मा बेच नहीं दी है, इसलिए उन्हें अपने भाई-बहनों के तैयार किये हुए वस्त्र पहनकर अपनी सजीवता का परिचय देना चाहिए।

पांचवां आक्षेप—खादी के विरुद्ध एक मनोरंजक आक्षेप यह भी किया जाता है कि तुम लोग खादी का इतना तूमार बांधते हो; लेकिन यह तो बताओ कि जब इस देश में खादी ही खादी थी, तब उसके होते हुए स्वराज्य क्यों चला गया?

'खादी के होते हुए स्वराज्य क्यों गया ?'—इस प्रश्न के पूछने का मतलब 'स्वराज्य होते हुए स्वराज्य क्यों गया ?'—यह पूछना है।

स्वराज्य में खादी थी, अर्थात् स्वराज्य के होते हुए स्वराज्य खो बैठने के जो कारण पैदा हो गये थे, वही कारण खादी के होते हुए स्वराज्य गंवाने में निमित्त रूप हुए। जिस समय खादी के होते हुए स्वराज्य गया, उस समय खादी के पीछे जो संगठन और अनुशासन था वह नहीं के समान हो गया था। किसी का पापोश किसी के पैर में रह नहीं गया था, राष्ट्र-हित नष्ट हो-चुका था और प्रत्येक व्यक्ति अपने नीच स्वार्थ-साधन के पीछे पड़ा हुआ था। जब हमारे ही लोग ईस्टइण्डिया कम्पनी के नोकर बनकर हमारे जुलाहों को सताने के लिए आगे बढ़े, तभी हमारे कारीगरों का संगठन नष्ट हुआ, विदेशी कपड़ा हमारे सिर पर सवार हुआ और हम स्वराज्य गंवा बैठे। जिस समय हम स्वाभिमान से प्रेरित होकर सस्ता विदेशी कपड़ा बापरने का मोह छोड़ देंगे, विदेशी कपड़े का पूर्णतः बहिष्कार कर खादी का व्यापक संगठन करेंगे तब स्वराज्य मिलने में देर नहीं लगेगी। खादी मोटी-झोटी होती है, जल्दी फट जाती है आदि आक्षेप आन्दोलन के आरम्भ-समय के हैं। अब तो खादी में सब दृष्टियों से काफी उन्नति हो गई है। अब तो वह इतनी सुन्दर, मुलायम, सफाईदार और टिकाऊ पैदा होने लगी है कि ऐश्वर्यवान लखपती तक को वह शोभा दे सकती है। ऐसी दशा में उस सम्बन्ध में विचार करने जैसी कोई बात बाकी नहीं रह जाती। क्षण-भर के लिए अगर हम यह मान कर भी चलें कि खादी मोटी-झोटी अवश्य है; लेकिन गुलामी उसकी अपेक्षा भी अधिक खुरदरी और कंटीली है। ऐसी दशा में अगर उस गुलामी को नष्ट करना हो तो आपको यह मोटी-झोटी खादी बरतनी ही चाहिए। इसके सिवा और कोई गति नहीं है। स्वराज्य-रूपी गुलाब का फूल हस्तगत करना हो तो खादी-रूपी कांटे शरीर में चुभने ही चाहिएं।

: १३ :

खादी-उद्योग तथा उसके द्वारा मिलनेवाली शिक्षा

हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हुए करीब १५० वर्ष होगए। यह सरकार स्वयं अपने को प्रजा का 'मां-बाप' कहलवाती है; लेकिन उसके १५० वर्ष के शासन-कार्य पर नजर डालने पर किसी भी निष्पक्ष मनुष्य को यह कहना ही पड़ेगा कि उसकी ऐसी कोई कारगुजारी नहीं है, जिससे वह अपने को ऐसा कह सके। गत १५० वर्षों में हिन्दुस्तान की आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक, राजनीतिक और अधिक क्या शैक्षणिक दृष्टि तक से अत्यन्त अवनति हुई है!

गत १५० वर्षों में अंग्रेज सरकार ने हिन्दुस्तान के सिर्फ दस फीसदी लोगों को ही शिक्षा दी है—बाकी के ९० फीसदी लोग अशिक्षित ही रहे हैं। फिर, इन १०फीसदी को जो शिक्षा दी गई है,क्या वह भी टिकाऊ है? इन १० में से ७ आदमी ज्यों-त्यों करके शुरू की चार कक्षाओं तक ही पढ़े-लिखे होते हैं, जिससे कुछ वर्षों बाद वे लोग जो कुछ भी पढ़ा-लिखा होता है वह सब भूल जाते हैं। उनकी शिक्षा पर किया गया खर्च इस प्रकार व्यर्थ ही ठहरता है।

बाकी के दो-तीन फीसदी लोगों के उच्च शिक्षा लेने की जो बात हम कहते हैं उनका भी इस शिक्षा से क्या खास लाभ हुआ है? उसके द्वारा उनकी बुद्धि के दो अंगों—तर्क और स्मरण शक्ति—का विकास हुआ होगा; लेकिन बुद्धि के इन दो अंगों के विकास का ही अर्थ वास्तविक शिक्षा नहीं है। महात्माजी की व्याख्या के अनुसार हाथ, पांव, कान, नेत्र आदि शरीर के अवयवों और बुद्धि और हृदय का सर्वांगीण विकास करनेवाली शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजों द्वारा प्रचलित शिक्षा-पद्धति, (१) व्यक्ति,

(२) समाज (३) राष्ट्र (४) संस्कृति और (५) हृदय के विकास आदि सब दृष्टियों से निकम्मी सिद्ध हुई है। इस शिक्षा के कारण जिस तरह मनुष्य में 'मैं जहां लात मारूंगा वहीं पानी निकल आयेगा' ऐसा आत्म-विश्वास पैदा नहीं हुआ, उसी तरह उसमें यह बोध उत्पन्न नहीं होता कि मैं समस्त समाज की एक इकाई हूं, उसमें पड़ोस की गली में आग लगने पर बालटी लेकर उसे बुझाने जाने की बुद्धि पैदा नहीं होती। गुलामी के कारण चारों ओर से देश की प्रगति रुकी हुई है; गुलामी की जञ्जीर तोड़ कर स्वतन्त्र हुए बिना अपनी सर्वांगीण प्रगति और अपने सद्गुणों का परमोच्च विकास हो सकना सम्भव नहीं, वर्तमान शिक्षा-पद्धति से हृदय में इन बातों के लिए लगातार तलमली पैदा होकर देश के लिए मुझे अपने-आपको खपा देना चाहिए, कष्ट सहन करना चाहिए और प्रसंग उपस्थित होने पर मुझे मर तक जाना चाहिए यह भावना पैदा नहीं होती।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

अपनी इस संस्कृति के प्रति आदर न रख कर 'विदेशी जो कुछ है वह सब अच्छा है' यही सिखाने वाली शिक्षा हमें मिली है। इसके सिवा मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, मुझे जाना कहां है और इस जन्म में मेरा कर्तव्य क्या है, इन बातों के ज्ञान से हृदय का विकास होता है; लेकिन वह शिक्षा मुझे मिलती ही नहीं है।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति की आलोचना करनेवालों पर यह आक्षेप किया जाता है कि अंग्रेजों की प्रचलित की हुई शिक्षण-पद्धति इतनी दूषित है तो उससे लो० तिलक, विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र बोस आदि महान् पुरुषों का निर्माण किस तरह हुआ? संक्षेप में उसका उत्तर यही है कि—

(१) इन महान् पुरुषों के निर्माण का श्रेय इस शिक्षा-पद्धति को नहीं, उनके प्राकृतिक गुणों और आनुवांशिक संस्कारों को ही देना चाहिए। वे जिस किसी भी परिस्थिति में रहते अपनी विशेषता की छाप बिठाकर चमके बिना न रहते।

(२) इसके सिवा, (१) डेढ़ सौ वर्ष, (२) हिन्दुस्तान की आबादी के अनुसार उद्योग के साथ-साथ ज्ञान की गूथन गूंथी जायगी। और (३) शिक्षा-पद्धति पर हुआ सारा खर्च इन सब बातों को ध्यान में रखने पर लो० तिलक अथवा श्री जगदीशचन्द्र बोस जैसे अंगुली पर गिने जाने वाले कितने ही लागों का निर्माण होना वर्तमान शिक्षा-पद्धति के लिए उत्तमता का प्रमाण-पत्र न होकर उसके विरुद्ध निन्दा-व्यञ्जक प्रस्ताव ही ठहरता है। अगर यह शिक्षा-पद्धति हितकर होती तो डेढ़-सौ वर्ष की इस अवधि में अनेक तिलक अथवा बोस पैदा हुए होते। लेकिन ऐसा हुआ नहीं,—अतः यह दोष शिक्षा-पद्धति का ही है, इस बात को कोई भी तटस्थ व्यक्ति स्वीकार किये बिना न रहेगा।

अंग्रेजों की जारी की हुई शिक्षा-पद्धति को सदोष जानकर राष्ट्रीय नेताओं ने समय-समय पर उसके सुधार का प्रयत्न किया है। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के जो प्रयत्न किये उनसे राष्ट्र का कदम आगे ही बढ़ा है। उनके इन प्रयत्नों के तीन विभाग किए जा सकते हैं—

पहला प्रयत्न सन् १९०५ में प्रो० बीजापुरकर और लो० तिलक ने किया। इन लोगों ने तत्कालीन शिक्षा-पद्धति की हानिकारक बातों को छांट कर उन्हें दूर करने का निश्चय किया और तदनुसार केवल उतना ही सुधार किया। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने पुरानी पद्धति को ठीक कर नवीन शिक्षण-पद्धति जारी की।

उसके बाद सन् १९२० में असहयोग का आन्दोलन हुआ। उस समय कुछ राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित हुईं। इन संस्थाओं में हमें अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रति आदर प्रदर्शित करना सिखाया गया। गत १८ वर्षों में हम इतना ही काम कर सके हैं।

परन्तु सन् १९३७ में हमने इससे भी आगे बढ़कर शिक्षा के सम्बन्ध में तीसरा महत्वपूर्ण कदम आगे बढ़ाने का निश्चय किया। यह कदम था उद्योग के साथ ज्ञान को गूंथकर लोगों को स्वावलम्बी और सुसंगठित बनाना।

राष्ट्रीय शिक्षण का यह तीसरा और सबसे अधिक महत्व का कदम

है । अंग्रेज सरकार की शिक्षण पद्धति केवल 'तर्क और विचार शक्ति' का ही विकास करती है । इसलिए उसे 'केवल पद्धति' नाम देना ठीक होगा। इस पद्धति से विद्यार्थियों को अव्यक्त शिक्षा मिलने के कारण वे वास्तविक ज्ञान ग्रहण कर नहीं सकते । जो कुछ भी अक्षरीय ज्ञान मिलेगा वह निर्वीर्य ही रहेगा । इस ज्ञान से उनके हाथ से कभी भी कोई पराक्रम हो नहीं सकेगा । इस ज्ञान का देनेवाला शिक्षक पश्चिमवासियों के विचार केवल उधार ले लेता है और वही विद्यार्थियों को देता है । इस शिक्षक का काम निरे 'पोस्टमेन' अथवा 'मुकादम' के समान है । इस शिक्षा से स्वयं शिक्षकों के जीवन में कुछ चैतन्य—कुछ तेज—उत्पन्न ही नहीं हुआ। ऐसी दशा में वह विद्यार्थियों में कहां से पैदा होगा । जिस तरह अनाज नापने की पायली एक तरफ से अनाज भरकर दूसरी ओर खाली करती है और स्वयं निर्लिप्त ही रहती है, वही हाल इस 'केवल पद्धति' का हुआ है ।

अब हम यह देखेंगे कि अगर कुछ घण्टे बौद्धिक शिक्षा और उसी के साथ जोड़कर कुछ घण्टे औद्योगिक शिक्षा दी जाय तो क्या परिणाम होगा। इस तरह बौद्धिक शिक्षा का समर्थन करने वाले और औद्योगिक शिक्षा की महत्ता का बखान करनेवाले दोनों ही तरह के लोगों को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न में दोनों ही असन्तुष्ट रहेंगे ! उदाहरणार्थ, बौद्धिक शिक्षा के साथ केवल बढ़ईगिरी के, रंदा किस तरह चलाया जाय, बसूला किस तरह काम में लाया जाय, करवत किस तरह चलाई जाय, आदि की शिक्षा दी गई तो उससे विद्यार्थी स्वाश्रयी, स्वावलम्बी और सतेज नहीं निकलता। जिस समय देश में "औद्योगिक शिक्षा" का वावेला मचा था, उस समय औद्योगिक शिक्षा की ओर झुकाव रखने वाले कुछ स्कूल (Industrial basic Schools) खुले थे। लेकिन उनके कारण विद्यार्थियों की 'त्रिशंकु" की-सी स्थिति हो गई । उन्हें बौद्धिक शिक्षा तो पूरी मिली ही नहीं और औद्योगिक शिक्षा जो कुछ भी मिली वह भी मामूली । गड़ूलना लेकर चलने वाले बच्चों की-सी विद्यार्थियों की स्थिति होगई । उसके कारण उनमें जोर

से भागने की शक्ति पैदा नहीं हुई। हम इस पद्धति को 'समुच्चय पद्धति' के नाम से सम्बोधित करेंगे।

अब उद्योग द्वारा शिक्षा देनेवाली वास्तविक महत्व की तीसरी पद्धति की ओर नजर डालना आवश्यक है। इस पद्धति में उद्योग और शिक्षा में अद्वैत भाव रहेगा—उद्योग के द्वारा ज्ञान सम्वर्धन की व्यवस्था रहेगी। इस पद्धति को 'समवाय पद्धति' नाम देना उपयुक्त होगा। अब यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि इस 'समुच्चय' और 'समवाय' पद्धति में अन्तर क्या है ?

समुच्चय पद्धति के कारण विद्यार्थियों की स्थिति एक चक्की पर दूसरी चक्की अथवा एक पीपे पर दूसरा पीपा रखने जैसी हो जाती है। जिस तरह एक पीपा दूसरे पीपे से जुड़ नहीं जाता, उसी तरह बौद्धिक ज्ञान औद्योगिक ज्ञान के साथ समरस नहीं होता। लेकिन 'समवाय' पद्धति के कारण बौद्धिक और औद्योगिक ज्ञान अनजाने ही एक दूसरे-से समरस होते हैं, एकजीव होते हैं,उन दोनों का संबंध अद्वैत होता है। इस पद्धति द्वारा व्यक्त और अप्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए जीवन पर उसकी स्थायी छाप पड़ती है। इस पद्धति द्वारा दी जानेवाली शिक्षा व्यक्त और प्रत्यक्ष स्वरूप की होती है, इसलिए आधिभौतिक शास्त्र के अध्ययन से बुद्धि में जो विश्लेषणात्मक शक्ति पैदा होती है वह ऐसे ज्ञान से उत्पन्न होगी। इससे विद्यार्थियों की जिज्ञासा के विकास के लिए काफी मौका मिलेगा। जो ज्ञान प्राप्त होगा वह बुद्धि पर अधिक दबाव न पड़ते हुए अनजान में ही मिलेगा।

यह शिक्षा-पद्धति अबतक के शिक्षण-विषयक अनुभव का अन्तिम फल है। देश, काल और परिस्थिति को ध्यान में रखकर इस शिक्षण-पद्धति की योजना की गई है। यह पद्धति जीवन की और राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली है। इसलिए इस शिक्षण के द्वारा ही हमारा जीवन विकसित होगा। यह शिक्षण-पद्धति जीवन-निष्ठ होगी। इस शिक्षण-पद्धति में कौन-कौन से विषय होने चाहिएं और कौन-कौन-सी भाषा सिखाई जानी चाहिएं, इसका निर्णय जीवन-शास्त्री करेंगे। 'हमें सम्पूर्ण और

प्रामाणिक जीवन बिताना है', इस बात का विचार करके यह शिक्षण-पद्धति निश्चित की गई है। हमें जीवित रहना है, इसलिए जीवित रहने के मार्ग में जितने विषय आते हैं पहले हमें उनका अध्ययन करना है। जिस शिक्षण द्वारा मेरा जीवन पुष्ट नहीं होता, वह शिक्षा ही नहीं है, साथ ही वह जीवन भी व्यर्थ है। इस शिक्षण-पद्धति द्वारा 'जीवन और शिक्षण' और 'धर्म और जीवन' एक-दूसरे में बेमालूम तौर पर ग्रथित होनेवाले हैं। इस शिक्षण-पद्धति से विद्यार्थी पहले हाथ और अन्य इन्द्रियों का उपयोग करना सीखेंगे और बाद को उनके मन और हृदय का विकास होगा। इसी तरह उसकी दृष्टि पहले स्कूल की ओर, फिर समाज की ओर और बाद को ईश्वर की ओर प्रेरित होगा। संक्षेप मे, यह योजना इस प्रकार की है कि इसमें (१) उद्योग, (२) अपने आस-पास की कुदरती हालत और (३) सामाजिक स्थिति इन तीनों के द्वारा उसे शिक्षा मिलेगी।

(१) खेती, (२) बढ़ईगिरी और (३) खादी मुख्यत: ये तीन धन्धे ऐसे है जो उपरोक्त सब प्रकार की कसौटियों पर खरे उतर सकते हैं।

शिक्षण की व्यापकता खेती में अधिक है, क्योंकि इस धन्धे की स्थिति ऐसी है कि विद्यार्थी को ऋतु, और मौसम आदि की जानकारी कराते समय सर्वसामान्य विज्ञान का भी परिचय हो जायगा; लेकिन खेती की शिक्षा में पहले पांच वर्ष में विद्यार्थी खेती से कोई कही जा सकने जैसी आमदनी निकाल नहीं सकेगा; वह सिर्फ थोड़ा शाक-पात पैदा कर सकेगा और जमीन की पैराई और पौधों की बाढ़ आदि से सम्बन्धित कुछ प्राथमिक तत्त्व समझ लेगा। उत्पादक खेती की शिक्षा छठे वर्ष से ही शुरू करनी होगी।[१]

बढ़ईगिरी —सुतारी—के सम्बन्ध में भी शुरू के कुछ वर्षों में विद्यार्थी जो माल तैयार करेंगे वह इतना ऊबड़-खाबड़ होगा कि उसकी बिक्री होनी कठिन होगी।

छोटे बच्चों के हाथों ऐसा माल, जिसकी बिक्री अच्छी हो सके, तैयार कराने की दृष्टि से खादी का उद्योग जितना सुरक्षित और सुलभ ठह-

१. 'वर्धा शिक्षण-पद्धति का पाठ्यक्रम' पृष्ठ ८५

रेगा उतना सुरक्षित, सुलभ और उतने व्यापक परिमाण में किया जा सके ऐसा और कोई दूसरा उद्योग बता सकना कठिन है, क्योंकि उसमें सात वर्ष का बालक अगर मोटे-से-मोटा सूत भी कातेगा तो उसकी भी निवार आदि बुनवाकर उसे बेचना मुश्किल नहीं होगा। इसके विपरीत विद्यार्थियों की अंगुलियों का कौशल अधिकाधिक बढ़ता दिखाई देगा। इस मुद्दे को ध्यान में रखकर देखा जाय तो कृषि के बाद खादी का उद्योग ही अधिक-से-अधिक व्यापक ठहरेगा।

हिन्दुस्तान आज कपड़े के सम्बन्ध में परावलम्बी है, इसलिए इस उद्योग के द्वारा शिक्षा देने में आर्थिक प्रतिस्पर्धा का भी प्रश्न खड़ा नहीं होता।

अवश्य ही खेती और बढ़ईगिरी —सुतारी—के जरिये भी शिक्षा देना जरूरी है और इसलिए उनके लिए भी कुछ स्कूलों की जरूरत होगी ही; लेकिन हमारी दृष्टि में अगर कोई उद्योग ऐसा है जो अधिकांश गांवों के स्कूलों में बेखटके शुरू किया जा सके, तो वह खादी का उद्योग ही है। इस उद्योग में व्यापकता और विविधता होने के कारण उसमें से ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में प्रवेश करने के लिए अनेक मार्ग मिल जाते हैं।

अब यह बताने के पहले कि उद्योग के साथ ज्ञान का गुम्फन किस प्रकार किया गया है, यह बता देना चाहिए कि—

(१) इस विषय की व्यापकता के मान से यह विवेचन संक्षिप्त हो रहेगा, क्योंकि विद्यार्थी सात वर्ष में जो शिक्षा प्राप्त करेगा उसका पूरा-पूरा रूप इस पुस्तक के दो-तीन पृष्ठों में किस तरह दिया जा सकेगा।

(२) नीचे जिन विषयों का दिग्दर्शन कराया गया है वह केवल उदाहरण स्वरूप ही है। उसपर से केवल विषय की व्यापकता की कल्पना और शिक्षा की दिशा मालूम हो सकेगी।

(३) इस शिक्षा-पद्धति के द्वारा समय-पत्रक (टाइमटेबल) के निश्चित ढांचे के मुताबिक अर्थात् 'भूगोल' का विषय समाप्त होते ही 'गणित' और 'गणित' के समाप्त होते ही 'व्याकरण' इस प्रकार मशीन की तरह शिक्षा

नहीं मिलेगी। इस पद्धति के द्वारा तो प्रवाह, क्रम के अनुसार जैसे-जैसे विषय आते जायंगे और विद्यार्थी जैसे-जैसे प्रश्न पूछता जायगा उसी के अनुसार उद्योग के साथ-साथ ज्ञान की गूथन गूथी जायगी।

(४) देश में यह शिक्षा पद्धति नई-नई ही प्रचलित होने जा रही है। अभी वह प्रयोगावस्था में होगी, आगे चलकर उसके सम्बन्ध में जैसा-जैसा अनुभव होता जायगा, उसके अनुसार उसमें परिवर्तन किया जाता रहेगा। जिस तरह महात्माजी की अभी तक चलाई हुई प्रत्येक प्रवृत्ति को उपहास, तिरस्कार, उदासीनता, पसन्दगी और स्वीकृति आदि स्थितियों के बीच होकर गुजरना पड़ा है, वही हाल इस शिक्षा-पद्धति का भी होने वाला है।

(५) इसके सिवा विद्यार्थियों में जिज्ञासा शोधक-बुद्धि, कष्ट-सहन करने का साहस, स्वावलम्बन की वृत्ति तथा स्वदेशाभिमान आदि सद्गुणों का विकास किस प्रकार होगा, नीचे के संक्षिप्त विवेचन से इन बातों की सम्यक कल्पना बहुत अधिक नहीं हो सकी। उसके लिए विद्यार्थियों को उस शिक्षा-क्रम में होकर गुजरना चाहिए। शिक्षकों के चरित्र-बल पर इस शिक्षा की सफलता निर्भर रहेगी। शिक्षकों का चरित्र उज्ज्वल होने पर ही जीवन के इतिकर्तव्य आदि विषयों का ज्ञान हो सकता है।

इतनी भूमिका के बाद अब शिक्षण-पद्धति पर आइये।

आरम्भ में यह कहना होगा कि अंग्रेजों ने जो शिक्षा-पद्धति प्रचलित की उसका उपयोग केवल शहरों के भद्र लोगों में ही हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि यह पद्धति शहरी ठाठ-बाट की है। उद्योग द्वारा शिक्षा देने की यह पद्धति देश के ९० फीसदी अपठित और गांव में रहनेवाले लोगों के ही लिए है। देश, काल और परिस्थिति को ध्यान में रखकर सर्व-साधारण जनता के कल्याण की दृष्टि से इस पद्धति की योजना की गई है।

इसके सिवा एक और महत्त्वपूर्ण मुद्दे का उल्लेख करना आवश्यक है। यह बात निर्विवाद है कि विद्यार्थी को पूरे सात वर्ष खादी के उद्योग द्वारा शिक्षा दी जाने से उसे खेत से कपास की सुन्दर बोंडी से लेकर उसका वस्त्र तैयार होने तक की विविध प्रकार की क्रिया-उपक्रियाओं की

सांगोपांग शिक्षा मिलेगी और वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होकर अपना निर्वाह चलाने में समर्थ होगा। इस प्रकार पेट का सवाल होने के भिन्न-भिन्न विषयों का विविध ज्ञान उसे मिलेगा। उनमें के कुछ विषयों का साधारण दिग्दर्शन नीचे किया जाता है। यहाँ पर खादी की विभिन्न क्रिया-उपक्रियाओं की सविस्तर जानकारी देना अप्रासंगिक होने के कारण उसकी चर्चा नहीं की गई।

खादी के उद्योग द्वारा शिक्षा देते हुए (१) खेती, (२) यन्त्र-शास्त्र, (३) इतिहास, (४) भूगोल, (५) समाज-शास्त्र, (६) अर्थ-शास्त्र, (७) गणित, (८) भाषा, (९) चित्र-कला, और (१०) विज्ञान-शास्त्र आदि विषयों का विवेचन करना आवश्यक है।

(१) खेती—खेत से कपास चुनते समय उसमें कीटी, पत्ती, कचरा आदि बिल्कुल न रहने पावे इस बात की पूरी सावधानी रखी जाने पर ही लोढ़ने, पिंजाई और कताई आदि सब क्रियायें सुगम होती हैं, कपास की जड़िया, रोजिया, एन, आर, बनिला, कम्बोडिया, धारवाड़ी, भड़ौच अथवा नवसारी आदि अनेक जातियाँ होती हैं। कौनसी कपास के लिए किस तरह की जमीन की आवश्यकता है; वह कौनसी ऋतु में होती है; उसकी बुवाई किस तरह की जाती है; निंदाई-कटाई किस समय होती है; एक एकड़ जमीन में औसत कितने बीज की जरूरत होती है; कितने दिनों में वह पककर तैयार होती है; उसी तरह धागे की दृष्टि से रुई के दो प्रकार होते हैं; एक छोटे और दूसरे लम्बे धागे की। इसके सिवा देव-कपास के पेड़ होते हैं। उसके भिन्न-भिन्न प्रकार कौन से होते हैं; उसकी खेती किस तरह की जाती है; किस ऋतु में की जाती है; देव-कपास के एक पेड़ पर से वर्ष के अन्त में कितनी कपास मिलती है; कपास में कौनसा कीड़ा लगता है, कब लगता है और उसको निर्मूल किस तरह किया जाय आदि खेती-सम्बन्धी विविध प्रकार की जानकारी बताई जायगी।

(२) यन्त्रशास्त्र (Mechanics) कच्ची कपास या रुई से पूरा कपड़ा बुने जाने तक लोढ़ना, धुनकी, बारडोली चर्खा, यरवदा चक्र, तकली,

तनसाल, खड्डी आदि छोटे-मोटे औजारों का उपयोग करना पड़ता है। इन सब औजारों के तैयार करने में उनमें उनके छोटे-मोटे अंगों-उपांगों की अत्यन्त कौशलपूर्वक योजना की गई होती है। 'मगन' चरखे और करघे में पावदी होती है, पुराने लोढ़ने में पच्चर लगाने की योजना होती है। मोठिया में गिर्गी ठीक बीच में घूमनी चाहिए; लोढ़ने और चर्खे में घर्षण नहीं, इसलिए बॉल-बे-अरिंग की योजना की जाती है। लोढ़ने और सावली-चक्र में 'गतिचक्र' लगा देने से कातने की गति में काफी अन्तर पड़ जाता है। यरवदा चक्र के दो चक्रों में विशेष प्रकार का अन्तर रखना आवश्यक है। धुनकी का मध्यबिन्दु साधने के लिए पंखे की योजना की हुई रहती है। तकली का तकुआ भारी अथवा हलका हुआ तो कातने पर उसके जुदे-जुदे परिणाम होंगे। तकली की चकई गोल और बीच की डण्डी ठीक मध्य पर ही होनी चाहिए आदि यन्त्र-शास्त्र की जानकारी इस खूबी के साथ दी जा सकेगी कि जिससे विद्यार्थी की जिज्ञासा और शोधक—आविष्कारक—बुद्धि[१] जाग्रत होगी।

१. सुप्रसिद्ध लेखक प्रिन्स क्रोपाटिन का मत है कि "बड़े-बड़े विज्ञान-शास्त्री तक जो आविष्कार नहीं कर सके वह आविष्कार हस्त-व्यवसाय करनेवालों ने किये हैं।" उन्होंने अपना यह मत 'Fields, Factories and Workshops" **नामक अपनी पुस्तक में व्यक्त किया है। तत्सम्बन्धी उद्धरण का यहां देना उचित प्रतीत होने के कारण वह नीचे दिया जाता है।**

"विशेषतः गत शताब्दी के अन्त और इस शताब्दी के आरम्भ में पृथ्वी का प्रत्यक्ष रूप बदल डालने जैसे जो बड़े-बड़े आविष्कार किये गये हैं, वह हस्तव्यवसाय —दस्तकारी—करनेवाले मजदूरों ने ही किये हैं। इसके विपरीत वि ज्ञान-शास्त्रज्ञों की आविष्कार करने की शक्ति घटती जा रही है। इस अवधि में विज्ञान-शास्त्रज्ञों ने कोई भी नवीन आविष्कार नहीं किये अथवा बहुत ही कम किये। भाप के अंजन अथवा रेलवे-अंजन के मुख्य तत्व,

(३ से ६) इतिहास, भूगोल, समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र--

ये सब विषय परस्पर एक-दूसरे से अत्यन्त संलग्न हैं, इसलिए उनका विचार भी सामूहिक रूप से ही करना जरूरी है।

अत्यन्त प्राचीन काल में, जिस समय खादी नहीं थी, उस समय लोग वृक्षों के पत्ते और छाल से अपने शरीर को ढकते थे। उसके बाद क्रमशः ऊनी, सूती और रेशमी कपड़े बरतने की प्रथा पड़ी। बौद्ध और रामायण

आग-बोट, टेलीफोन, फोटोग्राफ, बुनाई के यंत्र, किनारी बुनने की मशीनें, दीपगृह, सीमेन्ट की सड़कें और सादी और रंगीन फोटोग्राफी, एवं इनसे थोड़े महत्व की हजारों वस्तुओं का आविष्कार विज्ञान-शास्त्रज्ञों ने नहीं किया।.... अगर स्माइल्स के शब्दों में कहा जाय तो जिन लोगों को स्कूली शिक्षा कदाचित् ही मिली है, जिन्होंने धनवानों के चरणों में रह कर बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त किया है, और जिन्होंने अत्यन्त प्राचीन ओजारों से अपने प्रयोग किये हैं। उदाहरणार्थ, वकील के एक क्लर्क स्मिटन, औजार बनानेवाले वॉट ब्रेक्समेनी का काम करनेवाले स्टीफन्सन, मिल चलाने वाले रेनी; पत्थर फोड़ने का काम करनेवाले टेलफर्ड और सैकड़ों अप्रसिद्ध आविष्कर्ताओं ने वास्तविक आधुनिक संस्कृति का निर्माण किया है। यह ठीक है कि रसायन शास्त्र जितने को अपवादरूप छोड़ देने पर ज्ञान और प्रयोग के सब साधन विज्ञान-शास्त्रज्ञों ने ही जुटाये हैं। लेकिन आज प्रकृति की शक्ति का उपयोग और नियन्त्रण करने वाले बहुत से औजार, यन्त्र और अपने आप चलने-वाली मशीनें दिखाई देती हैं, उनमें एक का भी आविष्कार विज्ञानशास्त्रज्ञों ने नहीं किया है। आँखों में चढ़ने जैसी यह वस्तु-स्थिति है; लेकिन इसका स्पष्टीकरण सरल है। जिन बातों का विज्ञानशास्त्रज्ञों को पता तक नहीं था ऐसी विशेष बातें अनेक वॉट और स्टीफन्सनों को मालूम थीं। उन्हें अपने हाथ का उपयोग मालूम था; उन्हें आसपास की स्थिति ने उत्तेजन दिया। उन्हें यन्त्र, यन्त्रों के मुख्यतत्व और उनके प्रयोग की जानकारी थी। उसके आसपास कारखाने और विशाल इमारतों के निर्माण का वातावरण था।

कालीन और मुहम्मद पैगम्बर की पोशाक तथा इजिप्शियन 'ममियों' के शरीर पर की हिन्दुस्तानी बारीक खादी आदि जुदा-जुदा समयों की जानकारी देने के साथ-ही-साथ तत्कालीन समाज की भी जानकारी दी जा सकेगी।

हिन्दुस्तान में मलमल और रेशमी वस्त्र तथा ऊनी तथा जरी के शाल आदि उत्कृष्ट माल और काली मिरच, दालचीनी, जावित्री, इलायची आदि मसाले की चीजें भारी तादाद में मिलती थीं, इसलिए डच, फ्रेंच और अंग्रेज लोग इनके व्यापार के लिए हिन्दुस्तान आये। हिन्दुस्तान की खोज करने के लिए निकले हुए कोलम्बस ने अमेरिका खण्ड की खोज की। हिन्दुस्तान का माल खुश्की और समुद्री दोनों ही मार्गों से जाता था। यहाँ का कपड़ा एशिया खण्ड के पश्चिम भाग, सीरिया, बेबीलोन, ईरान, चीन, जावा, पेगू, मलाया, ग्रीस, रोम और मिस्र आदि देशों को जाता था। हिन्दुस्तान के जिन बन्दरगाहों के जरिये यह माल बाहर जाता था, वह थे सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित बारबरिकान खम्भायत की खाड़ी, उज्जैन, पठैन, देवगिरी, सूरत, नवसारी, मछलीपट्टम, कावेरीपट्टम और कन्याकुमारी। इस प्रकार विद्यार्थियों को भूगोल की जानकारी दी जा सकेगी।

इस जानकारी के देते समय ही विद्यार्थियों को यह ऐतिहासिक जानकारी भी दी जायगी कि उपरोक्त सारा व्यापार हिन्दुस्तान में बने हुए जहाजों के जरिये ही होता था। जहाजों का यह धन्धा सन् १८१८ तक अच्छी तरह चलता था, लेकिन कपड़े के धन्धे की तरह अंग्रेजों ने इसे चौपट कर दिया।

इसी तरह इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में वर्णित यह ऐतिहासिक जानकारी भी कराई जा सकेगी कि सत्रहवीं सदी में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तान में अपना अड्डा जमाया। उस समय हिन्दुस्तान का कपड़ा इतना उत्कृष्ट तैयार होता था कि इंग्लैंड के राजा-रानी और अमीर-उमराव बड़े चाव से उसे व्यवहार में लाते थे। यह देखकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी हिन्दुस्तान से करोड़ों रुपयों का माल विलायत भेजकर करोड़ों रुपये का मुनाफा कमाने लगी। इंग्लैण्ड में हिन्दुस्तान के माल की खपत होने के कारण वहां

के व्यापार पर उसका बुरा असर पड़ा ! जब यह बात वहां के राजनीतिज्ञों के ध्यान में आई तो उन्होंने पार्लमेण्ट से कानून पास करवाकर हिन्दुस्तान के माल पर जबरदस्त ज़कात लगवाई ! (अपने यहां स्वराज्य होने की हालत में राष्ट्र अपने व्यापार की रक्षा के लिए क्या कर सकता है, इसका यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है ।) कम्पनी के लार्ड क्लाइव आदि अधिकारियों ने बड़े-बड़े नवाबों को एक-दूसरे से लड़ने में मदद देकर उनसे खूब पैसा ऐंठा और इस तरह यहां की सम्पत्ति खींच कर विलायत ले गये । उसी पैसे के बल पर विलायत में मिलें खड़ी की गई ! कम्पनी ने हिन्दुस्तानी कारीगरों से कपड़ों के उत्कृष्ट नमूने लेकर उनके आधार पर विलायती मिलों में वैसा ही कपड़ा तैयार करवाने का सपाटा चलाया । कम्पनी के नौकरों ने हिन्दुस्तानी कारीगरों पर, उनसे उक्त प्रकार का उत्कृष्ट माल तैयार करवाने के लिए तरह-तरह के ज़ुल्म और प्रत्याचार किए, जिससे तंग आकर कारीगरों ने अपने अंगूठे तक काट लिए ! आगे चल कर इसका नतीजा यह हुआ कि जिस हिन्दुस्तान से करोड़ों रुपयों का माल विलायत को जाता था, उसी हिन्दुस्तान में उलटे विलायत से करोड़ों रुपयों का कपड़ा आने लगा और इस तरह हिन्दुस्तान का कपड़े का व्यापार सर्वथा चौपट होगया ।

कपड़े के धन्धे के डूबने के कारण दूसरे छोट-मोटे धन्धे भी मौत के मुंह में जाने लगे । कपड़े के व्यवसाय के चौपट होने से लोढ़ने वाले, पिंजारे, कतवैये, जुलाहे, रंगरेज, छपाई का काम करने वाले, छीपी, धोबी, बढ़ई, लुहार आदि सब की जीविका का आधार नष्ट होगया । ये सब लोग भूखों मरते देश छोड़ने लगे और अब उन्होंने खेती का आश्रय लिया है ! इस तरह बेकार हुए सभी लोगों के खेतों पर टूट पड़ने के कारण हरेक व्यक्ति के हिस्से में करीब एक एकड़ जमीन आई । हिन्दुस्तान की ऐसी दीन-हीन परिस्थिति में महात्माजी ने इन सब लोगों को काम में लगा कर उनके पेट भरने की सुविधा करने की दृष्टि से 'खादी' और 'ग्रामोद्योग' की प्रवृत्ति 'अखिल भारतीय चरखा संघ' और 'ग्रामोद्योग संघ' नाम की दो जबरदस्त

संस्थायें स्थापित की हैं। इन संस्थाओं के स्थापित होने से बेकारों को काम मिलकर उनकी बेकार जाती हुई प्रचण्ड शक्ति का उपयोग होने लगा है। ऐसी स्थिति में 'स्वदेशी धर्म' का रहस्य जान कर 'खादी' और ग्रामोद्योग की वस्तुओं का व्यवहार करना अपना कर्त्तव्य है। इस अवस्था में खादी और 'ग्रामोद्योग' की वस्तुएं अगर महंगी पड़ती हों तो भी देश के आत्यन्तिक कल्याण की दृष्टि से वही खरीदना इष्ट है।[1] ऐसे समय में पश्चिमीय अर्थ-शास्त्र का यह सिद्धांत कि 'बाजार में जो सस्ते-से-सस्ता और सुघड़ हो वही लिया जाय' भारतवासियों के लिए विनाशक सिद्ध होगा, आदि बातें विद्यार्थियों को समझा कर कही जाने से उनका 'स्वदेशाभिमान' जाग्रत किया जा सकेगा और देश, काल और परिस्थिति के अनुसार आचरण करना किस तरह आवश्यक है, इसकी छाप उनके मन पर अच्छी तरह बिठाई जा सकेगी।

(७)गणित— अब हम यह देखेंगे कि खादी के उद्योग द्वारा गणित की शिक्षा किस तरह दी जा सकेगी। चरखे अथवा तकली पर सूत कातने के बाद उसे फालके या अटेरन पर उतारते समय उसके तार गिनने के लिए कहना पूनी का वजन करते समय माशा, तोला, छटांक आदि भिन्न-भिन्न तोल या माप का नाम बताना। कपास को लोढने, रुई के पींजने और कातने आदि हरेक बात में छीज कितनी बैठी यह नोट करना। हर रोज रुई कितनी ली गई, उसका सूत कितना लिकला, खादी कितनी बुनी गई और कितनी बिकी आदि बातों का हिसाब रखना। सूत का नम्बर निकालना और उस नम्बर के हिसाब से कतवैयों को मजदूरी चुकाना। सेर भर सूत की खादी तैयार करने के लिए कितने नम्बर के सूत की कितनी लच्छियों की जरूरत होगी, यह निश्चित करने के लिए त्रैराशिक सिखाना। सूत का व्यास वर्ग-मूल के प्रमाण में बढ़ता है, यह समझाते समय वृत्त, परिध, त्रिज्या, व्यास आदि भूमिति के सामान्य सिद्धान्त समझाना। व्यास निकालते समय वर्ग-मूल निकालने का तरीका बताना। खादी बुनना सिखाते समय कर्घे के

१. 'खादी और अर्थशास्त्र' शीर्षक अध्याय देखिए।

पुंजे, तार, नम्बर, सूत का पोत आदि संबंधी गणित सिखाना, सूत का कस निकालते समय कितने नम्बर का सूत कितना वजन सह सकता है यह बताना—इस तरह अंकगणित का बहुतेरा ज्ञान विद्यार्थियों को दिया जा सकता है।

(८) भाषा—खादी की जुदा-जुदा क्रिया करते समय उन क्रियाओं की परिभाषा समझाते जाना चाहिए। अपने घर, स्कूल और गांव-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करने को कहना। अपने स्कूल के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में अपने भाई-बहनों को पत्र लिखना, 'अखिल भारतीय चरखा संघ' और 'ग्रामोद्योग संघ' के मन्त्रियों को पत्र लिखकर खादी के उद्योग धन्धे के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना, अपने उद्योग-धन्धे की प्रतिदिन का प्रगति का हिसाब रखना, अपने स्कूल के सम्बन्ध में जानकारी देनेवाला दैनिक, साप्ताहिक अथवा मासिक पत्र निकालना और उसके लिए लेख लिखना और सार्वजनिक महत्व के विषय पर कुछ निश्चित समय तक बोलनें का अभ्यास करना। अपनी भाषा के सिवा अपने पड़ौसी प्रान्त की भाषा कभी थोड़ी-थोड़ी बोलने और लिखने की आदत डालना। इस तरह अपनी भाषा के सिवा पड़ोसी प्रान्त की भाषा का भी अनुभव हो सकेगा।

(९) चित्रकला—कपास के पौधे, फूल, बौंड़ी, लोढ़न, धुनकी भिन्न-भिन्न तरह के चरखे, तकली, करघे आदि का इसी तरह किसी का लोढ़ते हुए, किसी का पींजते हुए, किसी का कातते हुए, किसी का तकली चलाते हुए, किसी का करघे पर काम करते हुए चित्र बनाना सिखाना। प्राचीन काल से लेकर अबतक पोशाक में कैसा-कैसा परिवर्तन हुआ, यह दिखानें वाले भिन्न-भिन्न तरह के चित्र बनाना। स्कूल में तैयार हुई चीजों की प्रदर्शिनी सजाना। इस तरह विविध प्रकार से चित्रकला और सौन्दर्य-शास्त्र की शिक्षा दी जा सकेगी।

(१०) विज्ञान—खादी का कपड़ा तैयार होने के बाद उसकी धुलाई, रंगाई, छपाई आदि क्रियाओं की जानकारी। अपने प्रतिदिन के कपड़े वैज्ञानिक ढंग से किस तरह धोये जायें, देश में प्रचलित धुलाई की

भिन्न-भिन्न पद्धतियां और पश्चिमीय रासायनिक पद्धतियों से उनकी तुलना, रसायन विज्ञान के सिद्धान्त; वनस्पतिजन्य रंगों और पश्चिमीय रंगों की तुलना; साधारण रासायनिक द्रव्यों की जानकारी; छपाई के भिन्न-भिन्न प्रकार; छपाई के ठप्पे तैयार करते समय तरह-तरह के फूल-पत्ते और बेल-बूटे आदि बनाने के लिए आवश्यक चित्रकला की विशेष जानकारी, भिन्न-भिन्न रंगों का तुषार उड़ाकर चित्र बनाने की पद्धति; वायुचित्रण (Airograph); कौन से रंग में कौन-सा रंग मिलाना उचित है, और वह किस तरह मिलाया जाय; कौन से रंग के साथ कौन-सा रंग अच्छा मिलता है आदि हर तरह की विज्ञान-सम्बन्धी जानकारी इन क्रियाओं द्वारा मनोरंजक ढंग से दी जासकेगी।

हम समझते हैं खादी के उद्योग द्वारा ज्ञान का गुम्फन किस तरह किया जाय इस बात का संक्षिप्त परिचय करा देने के लिए इतना विवेचन काफी होगा।

: १४ :

खादी और ग्रामोद्योग

राष्ट्र के द्रष्टाओं की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म होती है। साधारण मनुष्य को जो दूर की, भविष्य की बात दिखाई नहीं देती, वह सहज ही उनके ध्यान में आजाती है; और इसी में उनकी विशेषता है। महात्मा गांधी सन् १६१५ में दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान आये। हिन्दुस्तान आनें के बाद उन्होंने एक ओर काश्मीर से कन्याकुमारी तक और दूसरी ओर कराची से कलकत्ता तक का दौरा किया। इस दौरे में उन्हें हिन्दुस्तान के गांवों में रहनें वाली जनता की परिस्थिति का अच्छा परिचय हुआ; उन्हें यह निश्चय हो गया कि देश के लगभग पांच करोड़ आदमियों को दोनों समय पेट भरकर भोजन नहीं मिलाता। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने उन लोगों को काम देकर उनके पेट में अन्न के दो कौर डालनें के लिए चरखे और खादी के धन्धे का पुनरुद्धार करने का निश्चय किया।

बाद को कई वर्ष बाद सन् १९३३—३४ में महात्माजी ने हरिजन-उद्धार के सिलसिले में फिर सारे हिन्दुस्तान का दौरा किया। उड़ीसा प्रान्त के सिवा यह दौरा रेलवे और मोटर से हुआ। उड़ीसा प्रान्त में उन्होंने पैदल ही यात्रा की। यह दौरा 'हरिजनोद्धार' के लिए था, अतः हरेक जगह की हरिजन-बस्ती देखने के लिए वे खुद चलकर जाते थे। इससे उन्हें सारे हिन्दुस्तान के दलित वर्ग की परिस्थिति का, रहन-सहन और खान-पान का सूक्ष्म निरीक्षण करने का अच्छा मौका मिला और वह इस नतीजे पर पहुंचे कि बिचारे इन गरीबों को पेट-भर तो खाने को मिलता ही नहीं; लेकिन जो अन्न मिलता भी है वह अत्यन्त निकम्मा और सत्वहीन होता है। उन्होंने देखा कि वे जो चावल, आटा और तेल खाते हैं वह सब मिलों में तैयार

हुआ निकम्मा होता है, उनमें से जीवनदायक सब पोषक तत्व निकल जाते हैं और इससे उनकी 'दुबले को दो असाढ़' वाली स्थिति हो गई है। एक तो पहले ही पेट में अन्न कम पहुँचता है और जो पहुँचता है वह भी इस प्रकार सत्वहीन हुआ। इसके सिवा उन्हें यह भी निश्चय हुआ कि इस स्थिति के कारण साल या धान कूटने, आटा पीसने और तेल पेरने का धन्धा डूबता जाता है और देश दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक दरिद्री, आलसी और परावलम्बी बनता जाता है। इस पर से उन्हें ग्रामोद्योगों के पुनरुज्जीवन की कल्पना हुई और उन्होंने स्वदेशी की व्याख्या को अधिक शुद्ध करने की बात देश के गले उतार दी। तदनुसार सन् १९४३ में 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ' की स्थापना हुई और तब से वह संघ लोगों का ध्यान इस प्रवृत्ति की ओर आकर्षित कर रहा है।

जिस समय हिन्दुस्तान में स्वराज कायम था, उस समय यहाँ का प्रत्येक गाँव स्वयं पूर्ण था। किसान अपने खेत में अनाज और कपास बोता था। इसी में से अपने अन्न-वस्त्र की सुविधा कर लेता था। घर पर बीसियों ढोर या पशु होते थे, जिनमें बहुत-सी गायें और एकाध सांड भी होता था। इन गायों से घर-के-घर दूध हो जाता था और खेती के लिए आवश्यक बैलों की पूर्ति भी हो जाती थी। घर की खेती में ही तिल-सरसों आदि बोकर गाँव के तेली की घानी में उसका तेल निकलवा लिया जाता था, जिससे तेल की आवश्यकता पूरी हो जाती थी। जहाँ पानी की सुविधा होती उस भाग के किसान गन्ने या ईख की खेती कर गुड़ भी बनाते थे। खेती के लिए आवश्यक रस्सी आदि के लिए सन आदि बोकर उस जरूरत को पूरा कर लेते थे। आग पैदा करने के लिए प्रत्येक घर में चकमक पत्थर रहता था। अपने गाँव के आसपास कहीं कोई खाली जमीन हुई तो उससे नमक तैयार कर लेते थे। इस प्रकार अपनी गृहस्थी के लिए आवश्यक वस्तुएं घर-के-घर अथवा गाँव-के-गाँव में ही तैयार करते रहने के कारण उन्हें निरन्तर उद्योग में लगे रहना पड़ता था। किसी दूसरे पर निर्भर रहना नहीं पड़ता

था और गाँव का पैसा गाँव में ही रहता था। इसलिए गाँव उद्यमशील, सुखी और समृद्ध रहता था।

लेकिन आज की स्थिति इससे बिलकुल उलटी है। ग्राम-पंचायतें टूट गई हैं, सारे उद्योग-धन्धे डूब गये हैं, और लोग आलसी, बेकार, दरिद्री और परावलम्बी बन गये हैं। ऐसी दशा में अगर गांवों की बिखरी हुई स्थिति को फिर सम्भालना हो, और वहां फिर से जीवन पैदा करना हो तो ग्रामोद्योगों के पुनरुज्जीवन का कसकर प्रयत्न करना चाहिए।

ग्रामोद्योगों में खादी सूर्य की तरह केन्द्र-स्थानीय है और बाकी सब उद्योग सूर्य के आसपास चक्कर काटनेवाली ग्रह-मालिका की तरह हैं। जिस समय खादी का धन्धा पूरे वैभव पर पहुंचा हुआ था, उस समय ये सब ग्रामोद्योग भी अच्छे चलते थे। जबसे अंग्रेजों ने खादी के उद्योग को चौपट किया, तबसे दूसरे सब धन्धों को भी डूबती-कला लग गई! इसलिए प्रत्येक गांव में घर-घर वैज्ञानिक पद्धति से चरखा और खादी का काम शुरू करना चाहिए। इससे उसके साथ-ही-साथ दूसरे धन्धों का भी पुनरुज्जीवन होने लगेगा। खादी के सम्बन्ध में दूसरे अध्यायों में काफी विवेचन किया जा चुका है, अतः यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं।

लेकिन खादी में जो तत्त्व भरा हुआ है उसे समझ लेना चाहिए। इसके बिना 'खादी और ग्रामोद्योग' का सम्बन्ध मालूम नहीं हो सकेगा। खादी का मतलब है पूर्ण स्वदेशी। "यह स्वदेशी खादी पर केन्द्रीभूत होने के कारण इतनी व्यापक है कि देश में तैयार होनेवाली और हो सकनेवाली प्रत्येक वस्तु तक उसका विस्तार हो सकता है।"[१]

'स्वदेशी' और 'विदेशी' वस्तुओं की ग्राह्याग्राह्यता के सम्बन्ध में महात्माजी लिखते हैं—"सिर्फ विदेशी होने ही की वजह से कोई वस्तु त्याज्य है यह बात मेरे किसी धर्मग्रंथ में कहीं भी नहीं लिखी है। मेरे धर्मग्रंथ में तो इस प्रकार लिखा है—जो बात स्वदेश के लिए हानिकारक है वह सब विदेशी त्याज्य है। जो वस्तु हम अपने देश में काफी तादाद में तैयार कर

१. 'यंग इण्डिया' भाग २ पृष्ठ ६६५

सकते हैं वह हमें कभी भी विदेश से नहीं मंगानी चाहिए। उदाहरणार्थ गेहूं लीजिए। आस्ट्रेलिया के गेहूं अधिक अच्छे होते हैं; इसलिए वे मंगवाये जांय और अपने यहां के गेहूं का त्याग कर दिया जाय, इसे मैं पाप समझता हूं। अपने देश में चमड़ा काफी तादाद में तैयार होता है, यद्यपि वह हल्के प्रकार का होता है फिर भी मैं उसे त्याज्य समझता हूं। हिन्दुस्तान में शक्कर अथवा गुड़ काफी तादाद मे होते हुए भी विदेशी शक्कर मंगाने को मैं बुराई समझता हूं।"[१]

खादी के व्यवहार का अर्थ है करोड़ों बुभुक्षित लोगों के साथ समरस होना। इस दृष्टि से विचार करते हुए अगर हमें प्रत्येक गांव को सम्पूर्ण स्वदेशी और स्वावलम्बी बनाना हो तो हमे इस बात की सावधानी रखनी होगी कि गांव का एक भी आदमी बेकार न रहने पावे। इसका मतलब यह है कि गांव के प्रत्येक आदमी को भरपूर काम मिलना चाहिए; गांव में जुदे-जुदे धन्धे अच्छी तरह चलने चाहिएं। ये धन्धे खूब तेजी से चलें, ऐसी परिस्थिति पैदा करने के लिए गांव के अगुआ लोगों को यह दृढ़ संकल्प करना चाहिए और संकल्प को अमल में लाने की पूरी कोशिश करनी चाहिए कि जहांतक सम्भव हो सके गांव में एक भी विदेशी वस्तु न आने पावे; हरेक व्यक्ति अपने गांव में बनी हुई वस्तु काम में लावे।

इस विचारसरणी को ध्यान में रखते हुए अगर हिन्दुस्तान के करीब सात लाख गांव पूर्णतया खादीमय और ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में भी परिपूर्ण हो जायँ तो स्वराज्य दूर ही कितना रह जायगा ?

यह बात ध्यान में रखकर ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवेचन किया गया है।

खादी के बाद 'गोरक्षा' की ओर मुड़ना आवश्यक है। इधर किसानों ने गायों की बड़ी-बड़ी अवहेलना की है। गायों की अपेक्षा भैंस पालने की ओर उनका ध्यान अधिक रहता है। गायों को घर से बाहर जंगल की चराई पर ही सन्तुष्ट रहना पड़ता है। किसान लोग अक्सर उन्हें घास या

१. 'नवजीवन' २८ अक्तूबर १९२८

चारा नहीं डालते। हां, भैंसों को जरूर कुट्टी, चारा-बांटा दिये बिना नहीं रहते। गायों को इस तरह लापरवाही से छोड़ देना और भैंसों को दिल से पालना 'स्वदेशी धर्म' के विरुद्ध है। जिन बैलों से हम सेवा लेते हैं, जिनके बल पर अपनी खेती चलाते हैं उनकी जननी गाय की रक्षा करना हमारा अत्यन्त निकट का और पवित्र कर्तव्य है। इस उपयुक्तता की दृष्टि से ही हिन्दू-धर्म में गाय को पवित्र माना गया है।

किसानों ने अपनी जो यह धारणा बनाली है कि 'गायों का पालना उन्हें पूरा नहीं पड़ता' यह सवाल गलत है। वे भैंस पर जितना पैसा खर्च करते हैं और उसपर जितना परिश्रम करते हैं, उतना पैसा और परिश्रम अगर गाय के प्रति किया जाय तो गाय का पालना उन्हें भारी नहीं पड़ेगा। इस देश और विलायत वालों का भी यह अनुभव है कि अगर गायों को अच्छी खुराक दी जाय और उनकी अच्छी साध-सम्भाल की जाय तो वे भी भरपूर और चौकस दूध देती हैं। अमेरिका में तो एक-एक गाय एक-एक दिन में ४५ पौंड अर्थात् लगभग साढ़े बाईस सेर दूध देती है। किसान लोग अगर दूर दृष्टि से काम लेकर गायों का पोषण करेंगे तो उनपर किया गया खर्च ब्याज समेत वसूल हो जायगा। उनका अच्छी तरह पोषण होने पर वे खूब दूध देंगी, इसके सिवा हर साल उनके जो बछड़े-बछड़ी होंगे उनसे घर में लक्ष्मीकी वृद्धि ही होगी। उन्हें नये बैल खरीदने के लिए पैसे खर्च नहीं करने पड़ेंगे, घर की गायों से पैदा हुए बैलों से ही उनकी खेती का काम चल जायगा। आज घर से कुछ पैसे खर्च होने के कारण अगर किसान संकुचित दृष्टि रखकर गाय का अच्छी तरह पोषण नहीं करेगा तो ऐन खेती के समय उसके पुराने बैलों के थककर अड़ जाने पर उसे साहूकार से कर्ज लेकर सवाई-ड्योढ़ी कीमत में बैल खरीद कर खेती के रुके हुए काम को आगे ढकेलना होगा।

किसानों की यह शिकायत सही है कि इस समय गायों के चरने के लिए गोचर-भूमि की कोई सुविधा नहीं। इस सम्बन्ध में उन्हें हमारी यह सूचना है कि उन्हें अधिक कपास अथवा अधिक अन्न के मोह अथवा

लोभ में न पड़ कर अपनी खेती का एक खास हिस्सा ढोरों के घास-चारे के लिए ही सुरक्षित रखना और उससे गोरक्षण करना चाहिए। भैंस के दूध-घी की ही तरह उन्हें गाय के दूध-घी से आर्थिक लाभ हुए बिना नहीं रहेगा।

जिस समय हम यह कहते हैं कि आर्थिक दृष्टि से गाय पालन पुसा जायगा, उस समय हमारी नजरों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अवहेलित अथवा दीन-दुबली बनी हुई गाय नहीं होतीं। हमारे कहने का आशय यही है कि आरम्भ से ही गाय को पौष्टिक खुराक देने के बाद उसकी जो सन्तान तैयार होगी वही सुधरते-सुधरते १०-१२ वर्षों में आज की भैंस जितना दूध देने लगेगी और इस प्रकार किसान को आर्थिक दृष्टि से पुसायगी।

पाँच-सात गाँवों के एक केन्द्र में उन्नत पद्धति पर एक चर्मालय चल सकता है, और इसमें किसानों और चमारों दोनों का हित है। अभी ढोर के मरने पर किसान उसकी कीमत लिये बिना ही चमार से उसे उठा ले जाने को कह देता हे। मरे हुए पशु का चमड़ा, हड्डी, सींग, खुर, आंत, पीठ के पुट्ठे और चरबी आदि वस्तुएं फेंक देने के योग्य नहीं होतीं; ये चीजें एक तरह की सम्पत्ति होती हैं, अतः किसानों को उनकी कीमत वसूल करनी चाहिए। पशुओं की चीर-फाड़ के लिए चमारों को जो मजदूरी लेनी हो, लें, लेकिन उनका चमड़ा और हड्डी पशुओं के मालिकों की ही मिल्कियत होनी चाहिए। अगर चमारों को चमड़ा कमाने की उन्नत पद्धति सिखाने की व्यवस्था करदी जाय तो आज वे जो चमड़ा, जिस कीमत में बेचते हैं उसकी अपेक्षा आठ-नौ गुनी कीमत वे जरूर पा सकते हैं। पशुओं की हड्डी का खाद बहुत कीमती होता है, खासकर फलों के बाग-बगीचे के लिए वह बहुत गुणकारी होता है। अतः किसानों को उस दृष्टि से उसका उपयोग करके अथवा बेचकर अपनी शक्ति में वृद्धि करनी चाहिए।

किसान 'सोन' खाद के नाम पर से ही 'खाद' की दृष्टि से उसका महत्व समझते हैं। लेकिन उसमें बदबू अथवा गन्दगी मानकर उसके उपयोग की ओर लापरवाही कर जाते हैं। असल में देखने पर पाखाने

पर मिट्टी डालदी जाय तो उसमें से बदबू आना बन्द हो जाता है और साधारणतया दो-तीन महीने के अन्दर-अन्दर उसका खाद तैयार होकर उसका सारा रूप बदल जाता है, और तब वह साधारण मिट्टी की तरह होजाता है। तब उसका खाद के लिए उपयोग किया जाने पर फसल अच्छी पैदा होकर किसानकी सम्पत्ति में वृद्धि हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए किसानों को अपने कुटुम्ब का मल—पाखाना—व्यर्थ जाने न देने के लिए 'किसानी चलते-फिरते सडास' का प्रयोग करना चाहिए और उस मल का उपयोग खाद के लिए करना चाहिए। रूढ़ि प्रिय किसान आरम्भ में ऐसे संडास पसन्द नहीं करेगा। उसके लिए समझदार किसानों को चाहिए कि वे खुद ऐसे संडास बनवाकर लोगों को किराये पर दें, अथवा उन्हें उनका प्रयोग करने के लिए प्रेरित करके उस 'सोन' खाद का स्वयं उपयोग करलें अथवा उसे बेचकर पैसे कमालें। जहां नहर, तालाब आदि हों वहां किसानों को गन्ना या ईख बोकर गुड़ तैयार करना और बेचना चाहिए।

इसी तरह किसानों को अपने खेतों में तैलीय-पदार्थ—तिल, सरसों आदि—बोना चाहिए और तेली की मजदूरी देकर घानी से तेल निकलवा लेना चाहिए। इस व्यवस्था से एक ओर किसानों को शुद्ध, स्वच्छ और पुष्टिकारक तेल खाने को मिलेगा और तेलियों की भी घानियां अच्छी तरह चलकर उनका भी पेट भरेगा।

इसी तरह उन्हें हाथ के कुटे चावल और हाथ की चक्की पर पिसा हुआ आटा खाने का निश्चय करना चाहिए। इस व्यवस्था से उन्हें खाने को सत्वयुक्त चावल और आटा तो मिलेगा ही, साथ ही चावल कूटने और आटा पीसने का काम घर-का-घर में ही करने से उतने मजदूरी के पैसे बच जायंगे। जो लोग घर-गृहस्थी-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण खुद ऐसा न कर सकें उन्हें मजदूरी देकर अपने घर पर ही यह काम करवा लेना चाहिए। इससे वे मजदूर को एक काम दे सकेंगे।

किसान अगर अपनी खेती के लिए आवश्यक रस्सी आदि अपने खेत में ही बोये हुए सन, अम्बाड़ी अथवा केतकी से तैयार करलें तो इससे भी

उनके दो पैसे बच जायंगे और जो रस्सी तैयार होगी वह टिकाऊ होगी।

इसी तरह किसान घर-के-घर कुछ शहद की मक्खियां पालकर शहद तैयार कर सकेंगे।

यह हुए हरेक किसान के कर सकने योग्य धन्धे।

इसके सिवा हरेक गांव में स्त्रियों के लिए आवश्यक कुंकुम अथवा रोली बनाने का धन्धा भी चल सकता है। इसी तरह अगर कोई साबुन और कागज बनाना चाहे तो वह भी थोड़ी ही पूंजी में हो सकता है।

इसी तरह हमें यह भी सावधानी रखनी चाहिए कि हरेक गांव में कुम्हार, सुनार, लुहार और पासी वगैरा के धन्धे जीवित रहें। इसका मतलब यह हुआ कि अपने घरों के छप्परों के लिए विदेशी टीन के पत्तर काम में न लाकर अपने गांव के कुम्हार द्वारा बनाये हुए खपरैल, अथवा कवेलूटी काम में लाने चाहिएँ। इसी तरह गाड़ियों में रबरदार पहिए और लोहे के पाटे ही लगाने चाहिएँ। अपने गांव के पासी की बनाई हुई टोकरियां, झाड़ू और चटाइयां आदि लेनी चाहिएं और स्त्रियों की प्रसूति के लिए दाइयां बुलानी चाहिएं।

इस वर्णन में सारे ग्रामोद्योगों का सर्वनाश नहीं हुआ है, फिर भी उनके सम्बन्ध में क्या किया जाना चाहिए इसकी कल्पना के लिए इतना विवेचन काफी होगा।

अन्त में यह कहना जरूरी है कि आज सारे संसार में एकमात्र 'औद्योगीकरण' को ही उन्नति का मार्ग समझा जाता है; किन्तु वह सर्वोपरि ठीक नहीं है। वह एक वहम बन गया है। औद्योगीकण के शिखर पर पहुंचे हुए जापान जैसे देश में ६० फीसदी लोग ग्रामोद्योग में लगे हुए हैं। चीन को औद्योगीकरण की हविस नहीं। वहां ग्रामोद्योग का आदर्श संगठन देखने को मिलता है और रूमानिया आदि देशों में भी ग्रामोद्योगों का स्थान बना हुआ है।

: १५ :

खादी-संगठन और स्वराज्य

प्रकृति के नियम के अनुसार मृत्यु के बाद जन्म, अस्त के बाद उदय और प्रलय के बाद सृष्टि होती ही रहती है।

अंग्रेज सरकार ने हमारे कपड़े के धन्धे का गला घोंटा, इससे वह और उससे सम्बन्धित धन्धे तो डूबे ही, उसके साथ ही दूसरे धन्धे भी डूब गये![1] लोगों के पास खेती के सिवा और कोई दूसरा आधार नहीं रहा! राष्ट्र की सम्पत्ति का स्रोत रुक गया, समाज का संगठन बिखर गया। पहले जो गांव सम्पन्न थे वे निस्तेज और चैतन्यविहीन होगये और इस प्रकार राष्ट्र पर विनाश की घड़ी सवार होगई! ऐसी स्थिति में महात्माजी चरखा और खादी द्वारा हिन्दुस्तान का रक्त-शोषण रोकने का, समाज के संगठन को और गांवों को फिर से सुधारने और गांवों को फिर से सजीव करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

जिस तरह सूर्य के साथ किरणें हैं, उसी तरह वस्तु के साथ उसका सहचारी भाव है। हम जो यह कहते हैं कि चरखे का सार्वत्रिक प्रसार होते

१. कातन-बुनने के धन्धे की जो गति हुई वही दूसरे धन्धों की भी हुई। रंगाई, रंग बनाना, चमड़ा कमाना और रंगना, लोहा और दूसरी धातुओं के काम, शाल-दुशाले और गलीचे और इसी तरह मलमल और विभिन्न बेल-बूटों से सज्जित रेशमी वस्त्र बुनना, और कागज तथा स्टेशनरी से सम्बन्धित अन्य सामान के कारखाने आदि सब डूब गये। ये उद्योग करके जो करोड़ों लोग अपनी उपजीविका चलाते थे, उन्हें अपने निर्वाह के लिए खेती का आश्रय लेने पर मजबूर होना पड़ा।"

डा० बालकृष्ण कृत "Industrial Decline in India" नामक पुस्तक के पृष्ठ ९०-९१ पर श्री रमेशचन्द्रदत्त का उद्धरण।

ही स्वराज्य मिल जायगा, बहुत से उसका अर्थ नहीं समझते। इसका कारण यही है कि चरखे का साहचर्य भाव उनके ध्यान में नहीं आता। घर में एक चरखे का प्रवेश होते ही अपने साथ वह कितनी भावनायें लाता है, इसकी हमें कल्पना नहीं है। बिजली की बत्ती जलने के समान एक क्षण में सारा वातावरण बदल जाता है। राजा के बाहर निकलने पर हम कहते हैं 'राजा की सवारी बाहर निकली।' उसी तरह समझना चाहिये कि चरखे के घर में आने का अर्थ है उसकी सवारी घर में आना। उस सवारी में कौन-कौन सरदार शामिल हैं इसका विचार करते ही 'चरखे से स्वराज्य' का मतलब समझ में आजायगा।"[१]

'जन-सेवा में ही ईश्वर-सेवा है' की वृत्ति से काम करनेवाला कार्यकर्त्ता गांव में जाकर काम करने का विचार करे तो महात्माजी ने आज तक लोक-हित की जो प्रवृत्तियां चलाई हैं उन पर नजर डालते ही वह सहज ही यह समझ सकेगा कि उसे किस तरह ग्राम-संगठन करना चाहिए। इस पर से यह स्पष्ट ही कल्पना हो जाती है कि इन प्रवृत्तियों के चलाने में महात्माजी की दृष्टि कितनी गहरी और दूरदर्शितापूर्ण है। कार्यकर्त्ता को गांव में जाकर यह अष्टविध कार्यक्रम अपनाना चाहिए—(१) खादी, (२) ग्रामोद्योग, (३) गोरक्षण, (४) वर्धा-पद्धति के स्कूल, (५) 'शांति-दल' की स्थापना, (६) हरिजन सेवा, (७) ग्राम पंचायत और (८) कांग्रेस कमेटी की स्थापना।

इनमें से पहले चार विषयों पर पिछले अध्याय में और दूसरे भाग के 'खादी कार्यकर्त्ताओं को अनुभवपूर्ण सूचनायें' शीर्षक अध्याय में विस्तृत विवेचन किया जा चुका है, अतः यहां अधिक न लिखकर सिर्फ यह बताना ही काफी होगा कि इन विषयों में संगठन का रूप क्या होना चाहिए।

खादी का काम करते हुए कार्यकर्त्ता का गांव के चरखे बनानेवाले बढ़ई, लुहार, कतवैये, जुलाहे, खादी धोनेवाले धोबी, छपाई और रंगाई का काम करने वाले छीपे और रंगरेजों से ग्रामोद्योग का प्रचार करते हुए

१. विनोबाजी—'मधुकर' पृष्ठ ५४-५५

तेली, कुम्हार, चमार, महार, पासी, कोली, भोई आदि से और उसी प्रकार हाथ से साल या धान कूटनेवाले और हाथ की चक्की पर आटा पीसने वालों से, गोरक्षा का महत्व समझाते हुए गाय पालनेवाले प्रत्येक कुटुम्ब से और वर्धा-पद्धति पर स्कूल शुरू करने से गांव के बालकों और उनके अभिभावकों से सम्बन्ध आयगा।

गांव में किसी तरह का झगड़ा न होने देने, खासकर हिन्दू-मुसलमानों में तनातनी पैदा न होने देने के लिए 'शान्ति-दल' स्थापित करना जरूरी है। 'शांति-दल' स्थापित करते हुए गांव की सब जातियों के नवयुवकों से अच्छा परिचय होगा। इन नवयुवकों को यह बातें अच्छी तरह समझनी चाहिएं कि उन्हें गांवों में एकता स्थापित करने की कितनी जरूरत है, गांव में झगड़े हुए तो किस तरह आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक हर तरह से उनकी हानि है। उक्त एकता स्थापित करने का सर्वोत्तम मार्ग 'अहिंसा' है। इस 'अहिंसा' को हृदयंगम करने के लिए ईश्वर पर श्रद्धा होने का अर्थ है मनुष्य का 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की स्थिति पर पहुँचना और मनुष्य जब इस स्थिति को पहुँच जाता है तब अत्याचार की ओर उसकी प्रवृत्ति होना सम्भव ही नहीं रहता। मनुष्य के हृदय पर एक बार इन तत्वों की छाप बैठ जाने पर फिर वह उनसे पीछे नहीं हटता। अगर हरेक गांव में इन तत्वों को अच्छी तरह समझे हुए उदार हृदय के २०-२५ नवयुवक तैयार हो जायं तो साम्प्रदायिक दंगे होना सम्भव ही न रहे। यह स्पष्ट है कि इस शान्ति-दल में गांव की सब जातियों के नवयुवक होने के कारण उसके प्रति सबकी अपनेपन की भावना रहेगी।

हरिजन में महार, ढेड़, चमार, पासी, भंगी आदि सभी का समावेश होता है। उनके व्यवसाय की गन्दगी के कारण सवर्ण हिन्दुओं ने उन्हें अस्पृश्य अथवा अछूत ठहराया; किन्तु (१) ये सब लोग समाज की अत्यन्त महत्व-पूर्ण सेवा करते हैं, अगर ये अपना काम छोड़ बैठें तो समाज की अत्यन्त विषम स्थिति हो जाय। इसके सिवा (२) ईश्वर के दरबार में उच्च-नीच का कोई भेद-भाव नहीं है। उसने उन्हें भी आत्मा दी है। उनमें के कई

लोग सद्गुण सम्पन्न, चरित्रवान्, शीलवान्, और संतपद को पहुँचे हुए हैं। एसी स्थिति में, केवल जन्म से हरिजन होने के कारण ही उन्हें नीच नहीं समझना चाहिए। उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इतना ही नहीं, उनके बीच घुलमिल जाना चाहिए। उनके सुख-दुख में समरस होना चाहिए। उनका रहन-सहन अस्वच्छ अथवा गंदगी-युक्त हो तो स्वच्छता का महत्व उन्हें अच्छी तरह समझा देना चाहिए। बीमारी की हालत में उनकी स्थिति और भी खराब होजाती है; ऐसे समय में उनकी दवा-दारू और सेवा-सुश्रूषा की विशेष व्यवस्था करनी चाहिए। उनके आपस में जो छुआछूत हो उसे भी दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उनकी सेवा करने से उनका संगठन किया जा सकेगा।

प्रत्येक कार्यकर्त्ता को अपने-अपने गांव में लोगों द्वारा निर्वाचित ग्राम-पञ्चायत स्थापित करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

"अगर भारतीय जनता को स्वराज्य के अधिकार दिये जाते हों तो उनकी स्थापना प्राचीन ग्राम-पञ्चायतों के आधार पर होनी चाहिए; क्योंकि अबतक के अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि हिन्दुस्तान जैसे विशाल और कृषिकर्मासक्त देश के लिए ग्राम-व्यवस्था ही उपयुक्त है।[1]

"यूरोप में सम्पत्ति की विषमता के कारण धनवान और गरीबों में भारी अन्तर पड़कर गरीब लोगों का जो बेहाल होने लगा है, उसे दूर करने के लिए 'सोशलिज्म' (समाजवाद), कम्यूनिज्म' (साम्यवाद) आदि विभिन्न 'वाद' निकलने लगे हैं। बहुतों के ध्यान में अब यह बात आने लगी है कि हिन्दुस्तान-जैसे ग्राम-पञ्चायतों से युक्त देशों में सम्पत्ति की विषमता के इस प्रकार के परिणाम बहुत अधिक दिखाई नहीं देते, इसलिए अनेक लोग यह आवश्यक समझने लगे हैं कि जहां इस तरह की ग्राम-पंचायतें कायम हैं, वहां वे बदस्तूर कायम रखी जायँ और जहां नहीं हैं वहां कायम की जायं।"[2]

१. म. रा. बोड्स 'ग्रामसंस्था' पृ० ११-३४

२. " "

बम्बई की कांग्रेस सरकार ने ग्राम-पंचायतों की उपयुक्तता अनुभव कर हाल ही में गांव-गांव में उनकी स्थापना करने के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकार किया है, इससे वहां यह कार्य और भी सुलभ होगया है।

अब इन ग्राम-पंचायतों को, जिन-जिन बातों से अपने गांव की उन्नति होती है, वे सब करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। गांव में होनेवाले दीवानी और फौजदारी सब तरह के झगड़े गांव के निर्वाचित पंचों को ही निपटाने चाहिएं। पंचायत को ही गांव के सब लोगों की व्यवस्था करनी चाहिए, सब लोगों को काम देकर धन्धे से लगाना चाहिए। इस बात का ध्यान रखा जाय कि गांव में कोई भी बेकार न रहने पावे; ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जो चीज अपने देश में मिल सकती है वैसी कोई भी विदेशी वस्तु गांव में न आने पावे। गांव में पूरी सफाई रहे। स्त्रियों के शौच जाने के लिए चारों ओर रोक लगे हुए स्थान पर टट्टी बननी चाहिए और पुरुषों के लिए 'चलते-फिरते किसानी सण्डास' (Trench Latrines) बनाने चाहिएं। ग्राम-पंचायत के काम के लिए गांव के सब श्रेणी के लोगों से परिचय होता है।

शासन-कार्य के सम्बन्ध में सरकारी दृष्टि से गांव अन्तिम इकाइयां है। उसी तरह कांग्रेस का सन्देश पहुंचाने की दृष्टि से गांव राष्ट्रीय संगठन का अखीरी सिरा है।

इसलिए कार्यकर्त्ता को वहां ग्राम-कांग्रेस-कमेटी स्थापित करनी चाहिए, कांग्रेस के अधिक-से-अधिक मेम्बर बनाने चाहिएं और समय-समय पर प्रकाशित होने वाले कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए। जनता के एकरस होने की दृष्टि से कांग्रेस का कार्यक्रम बहुत उपयुक्त ठहरता है।

अबतक के विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है कि खादी के कार्य द्वारा कार्यकर्त्ता का जनता के साथ जितना सम्पर्क आता है उतना और किसी कार्यक्रम से नहीं आता। ऊपर जिस कार्यक्रम का उल्लेख किया गया है उसे उदाहरणरूप समझना चाहिए। प्रत्येक गांव की परिस्थिति के अनुसार उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया जा सकता है। हिन्दुस्तान में ७ लाख गांव हैं।

इन सात लाख गांवों में घर-घर चरखा और गली-गली करघा शुरू करना कोई साधारण बात नहीं है। इसके लिए जबरदस्त संगठन करना पड़ेगा। यदि वह होसका तो देश में न जाने कितनी जबरदस्त शक्ति पैदा हो जायगी। परन्तु यह संगठन हमें उसी जोश-खरोश के साथ करना चाहिये जिससे कि पश्चिमी देशों में महायुद्ध शुरू होने पर बम के कारखाने चल रहे हैं। युद्धमान पश्चिमी देशों में जिस प्रकार आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष महा-युद्ध का कोई न कोई काम अवश्य करते हैं उसी प्रकार इस अहिंसक संगठन को बनाने के लिए हिन्दुस्तान के बड़े-छोटे साथी को उत्साह से कूद पड़ना चाहिए। स्वतन्त्रता की प्राप्ति ही इस उत्साह की प्रेरक शक्ति होनी चाहिए। यदि चालीस करोड़ लोगों की एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति बन गई तो सरकार इन ४० करोड़ लोगों को जेलखाने में नहीं डाल सकेगी। यदि सरकार ने इनमें से एक लाख आदमियों को गोली से उड़ा दिया तो भी उससे स्वराज्य रुक नहीं सकेगा। हिंसक संगठन में जो बल होता है वह हिंसा का नहीं, बल्कि संगठन का होता है। हिंसक संगठन की बनिस्बत अहिंसक संगठन ज्यादा बलवान होता है। दूसरे को मारने की अपेक्षा सिद्धांत के लिए स्वयं मरने में ज्यादा शौर्य और धैर्य की जरूरत होती है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि अहिंसात्मक सत्याग्रह दुर्बल का नहीं बलवान का शस्त्र है।

महात्माजी ने दिसम्बर सन् १९३६ में फैजपुर कांग्रेस के समय 'खादी और ग्रामोद्योग प्रदर्शिनी' के पण्डाल में 'खादी के संगठन द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना किस प्रकार सम्भव है' इस विषय पर जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था, वह सर्वथा उचित होनेसे नीचे उद्धृत किया जाता है।

"आज मैं आप लोगों को कोई नई बात सुनाने नहीं आया हूँ। पहले जो कहता था, उसका पुनरावर्त्तन ही करूंगा। चर्खा-संघ को, या यों कहिए कि खादी को १८ वर्ष होगये हैं। ग्राम-उद्योग-संघ का जन्म इसकी छाया मे हुआ, और उसे दो वर्ष हुएहैं। जब खादी का आरम्भ हुआ, तब लोगों के आगे मैंने अपना यह विश्वास प्रकट किया कि था चरखे से स्वराज्य

मिलेगा, सूत के धागे से हम स्वराज्य लेंगे। उस समय यह कितने ही लोगों को पागलपन की बात मालूम हुई होगी। स्वराज्य, पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मल आजादी के मानी ये हैं कि हमारे ऊपर कोई भी विदेशी सल्तनत राज्य न करे। यह आजादी चार बाजू की होनी चाहिए। अर्थ-सिद्धि का मतलब यह है कि लोग उसमें भूखों न मरे। इसका अर्थ यह नहीं कि रूखी-सूखी रोटी सबको मिलती जाय। इसका अर्थ तो यह है कि हम सुखसे रहें और रोटी के साथ हम घी भी मिले, और दूध और साग-भाजा भी मिले। जो गोश्त खाना न छोड़ सकते हों उन्हें गोश्त भी मिले। इसके बाद पहनने के लिए भी मेरे जैसा कच्छ या लंगोटी नहीं, किन्तु गृहस्थों के जैसे वस्त्र मिलें—पुरुषों को अंगरखा, कुर्त्ता, साफा वगैरा और स्त्रियों को पूरी साड़ी और दूसरे कपड़े। (आज जिस फैशन की पोशाक की चलन है वैसी तो नहीं; पर हां, पुराने जमाने में गृहस्थ जसे कपड़े पहनते थे, और जिसके नमूने आप इस प्रदर्शिनी में देखेंगे, वैसे सुन्दर कपड़े जरूर मिलने चाहिएं।)

'सभी भूमि गोपाल की'

दूसरी है राजनैतिक आजादी। यह भी भारतीय होनी चाहिए। यह यूरोपीय नमूने की न हो, ब्रिटिश पार्लमेण्ट या सोवियट रूस या इटली का नमूना मैं कैसे लूँ? मैं किसका अनुकरण करूँ? मेरी राजनैतिक आजादी इस प्रकार की नही होगी, वह तो भारत-भूमि की रुचि की होगी? हमारे यहाँ स्टेट तो होगी, पर कारबार किस प्रकार का होगा, यह मैं आज नहीं बता सकता। गोलमेज कान्फ्रेंस में मैंने यह कहने की धृष्टता की थी कि अगर आपको हिन्दुस्तान के लिए राजकीय विधान का नमूना चाहिए तो कॉंग्रेस का विधान ले लीजिए। इसे मेरी धृष्टता भले ही कहें। पर मेरी कल्पना के अनुसार तो गरीब और अमीर दोनों एक झंडे की सलामी करते हैं। पंच कहें सो परमेश्वर! इसलिए हमारे यहाँ के भलेमानस हिन्दुस्तान को जानने वाले करोड़ों मनुष्य जैसा तन्त्र चाहते हों वैसे की हमें जरूरत है। यह राजनैतिक आजादी है। इसमें एक आदमी का नहीं, बल्कि सबका राज्य होगा। मैं समाजवादी भाइयों से कहूँगा कि हमारे यहाँ तो—

सभी भूमि गोपाल की, वा में अटक कहां ?
जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा ।

इस सूत्र को युगों से मानते आरहे हैं। इसलिए यह भूमि जमींदार की नहीं, मिल-मालिक की नहीं, या गरीब की नहीं, यह तो गोपाल की है—जो गायों का पालन करता है उसकी है। गोपाल तो ईश्वर का नाम है, इसलिए यह भूमि तो उसकी है। हमारी तो कही ही नहीं जा सकती। यह न जमींदार की है और न मेरे जैसे लंगोटिये की। यह शरीर भी हमारा नहीं, ऐसा साधु-सन्तों ने कहा है। यह शरीर नाशवान् है, केवल एक आत्मा ही रहनेवाली है। यह सच्चा समाजवाद है। इस पर हम अमल करने लग जायं, तो हमें सब-कुछ मिल गया। इस सिद्धांत का अनुकरण करनेवाला आज कोई दीख नहीं रहा है, तो इसमें सिद्धान्त का दोष नहीं, दोष हमारा है। मैं इसकी व्यावहारिकता बिल्कुल शक्य मानता हूँ।

चार समकोण

स्वराज्य का तीसरा भाग नैतिक या सामाजिक स्वतन्त्रता का है। नैतिक और सामाजिक को मैं मिला देना चाहता हूँ। या तो हमारा स्वराज्य चक्र होना चाहिये या चतुष्कोण। मेरी कल्पना शुद्ध चतुष्कोण की है। इसके दो समकोण मैंने कह दिये हैं। यह तीसरा है। इस तीसरे में प्राचीन-काल से हमें जो नीति मिलती आरही है, वह नीति है—सत्य और अहिंसा की। चौथा कोण धर्म का है; क्योंकि धर्म के बिना ये तीनों पाये खड़े नहीं रह सकते। कोई अगर कहे कि मैं तो सत्य को मानता हूँ, तो मैं उससे कहूँगा कि तुम सत्य को मानते हो तो खुदा को क्यों नहीं ? म तो कहता हूँ कि अगर मैं सत्य को मानता हूँ तो भगवान् को भी मानता हूँ। कारण, भगवान का नाम ही सत्यनारायण है। मेरा सत्य तो जीवित है, वह ऐसा जीवित है कि दुनिया में जब सब मिट जायगा तब यही एक रहेगा। सिक्ख 'सत् श्री अकाल' कहते हैं; गाता कहती है कि सत् का नाम लेकर सब काम करो; कुरान कहता है कि खुदा एक है। इस प्रकार सत् को माननेवाले हम सब एक-दूसरे के गले क्यों काटें ? मुसलमान हिन्दुओं के गले

काटें, हिन्दू मुसलमान के गले काटें, सिक्ख दोनों के काटें, और ईसाई तीनों के गले काटें, यह बात ईश्वर को माननेवालों से तो हो ही नहीं सकती।

इस तरह चारों कोनों को हमें एक-सा सम्भालना है, यह सब ९० अंश के समकोण हैं। इन चारों कोणों से बने हुए स्वराज्य को आप स्वराज्य कहिए, मैं इसे रामराज्य कहूँगा।

धारा-सभा का कार्यक्रम

अठारह वर्ष पहले मैंने कहा था कि यह स्वराज्य सूत के तार पर अवलम्बित है। वही मन्त्र मैं आज भी बोल रहा हूँ। उसका स्मरण आज भी करा रहा हूँ। यह बात नहीं कि धारा-सभा के कार्यक्रम को मैं मानता नहीं हूँ। इसे एक बार नष्ट करने के लिए मैंने कहा था, और डा० अन्सारी साहब के साथ मिलकर इसके सजीवन में भी मेरा हाथ है। इसे सजीवन इसलिए करना पड़ा; क्योंकि मैंने देखा कि इसके बिना हम अपना काम चला नहीं सकते। पर यह कार्यक्रम आप लोगों के लिए नहीं है और न मेरे लिए है। हम सब कौन्सिलों के अन्दर जायंगे तो वहां समायंगे कहां? हमारे देश की ३५ करोड़ की आबादी में एक हजार या पन्द्रह सौ देश-सेवक भले कौंसिलों में चले जायं। पर उन लोगों को हुक्म तो हमें ही देना होगा। हमारी कांग्रेस के कुछ प्रतिनिधि वहां रहेंगे, पर उन्हें भेजने की राय देने का हक तो सबको नहीं है। मुझे तो वोट देने का हक नहीं। मुझे तो ६ वर्ष की सजा हुई थी, इसलिए मैं नापास समझा जाता हूं। ३५ करोड़ में से ३१॥ करोड़ को मत देने का हक नहीं। उनके साथ ही मैं रहूं, यह अच्छा है न? बोलिये, आप क्या कहते हैं? (आवाज—"३१॥ करोड़ के साथ") बहनो! आप क्या कहती हैं? (आवाज—"हमारे साथ।") आपके साथ तो हूं ही। जिस माता की गोद में खेला, जिस माता का दूध पिया, उन माताओं के कन्धे के ऊपर कैसे बैठूंगा? उनके तो चरणों के आगे रहूंगा, उनकी सेवा करूंगा।

अब जो ३॥ करोड़ मत देनेवाले बचे, उनमें से कितने धारासभाओंमें जायं? पन्द्रह सौ जगहोंके लिए हम लड़ें तो यह कहा जायगा कि हमने स्वराज

का कत्ल कर दिया। कहते हैं कि आज ऐसा कत्ल होरहा है। धारा-सभा का कार्यक्रम शरीफ आदमियों के लिए ही होना चाहिए। लेकिन गन्दे आदमी वहां घुस जायँ तो क्या करेंगे? पर खैर, यह तो हुआ। जिन्हें मत नहीं देना है, वे ३१॥ करोड़ क्या करेंगे? उनके लिए तो सिवा रचनात्मक कार्यक्रम के दूसरा कुछ है ही नहीं।

जो धारा-सभाओं में जायेंगे वे वहां कितना काम कर सकेंगे, यह बतला दूं। हिन्दुस्तान में जो आर्डिनेन्स का राज्य चलता है उसमें कांग्रेस के भी प्रतिनिधि शामिल थे। इतिहास में अगर यह न कहा गया तो काफी है। कोई गन्दा मनुष्य भी बतौर हमारे प्रतिनिधि के चला जायगा, पर मत तो उसका हमारे पक्ष में ही पड़ेगा। प्रतिनिधि आर्डिनेन्सों का बचाना रोक नहीं सकते। जवाहरलाल को जेल जाने या फांसी पर चढ़ने से वे रोक नहीं सकेंगे। और वह तो फांसी के तख्ते पर भी बहादुरी से और हँसने-हँसते चढ़ेंगे। पर उन्हें जो भी सजा मिले उसके लिए कांग्रेस के प्रनिनिधियों की मंजूरी नहीं मिलेगी। सुभाष बोस को शायद बंगाल के प्रतिनिधि छुड़ानें, और सम्भव है कि शायद यह भी अनुचित बात कांग्रेसवालों के हाथ से नहीं होगी। किसी भी गन्दी बात में हमारा वोट नहीं मिलेगा। आर्डिनेन्स राज्य का अर्थ है, जैसा बादशाह कहे वैसा करना। ऐसे राज्य को हमारे प्रतिनिधियों की मंजूरी नहीं मिलेगी।

आज़ादी नहीं दिला सकते

लेकिन ये प्रतिनिधि हमें आजादी नहीं दिला सकते। वह तो सूत के तार से ही मिलेगी। सूत का तार छोड़ा और आजादी का जाना शुरू हुआ। इसमें अंग्रेजों का अपराध तो था ही; पर हम भी पागल बन गये। हमने चर्खा छोड़ दिया, हमने विलायत से आनेवाला कपड़ा लेना शुरू कर दिया। इसलिए हमारे देश में लोगों के हाथ में कुछ भी काम नहीं रहा और करोड़ों मनुष्य बेकार होगए। अगर दूसरे किसी भी उपाय से हमारे आदमी बेकार न रहें, सबको खाने-पीने को मिलने लगे और सब आराम से रह सकें, तो हम खुशी से लंकाशायर से कपड़ा मंगाने

लगें, लंकाशायर से कपड़ा मंगाना खुद कोई पाप नहीं है। लेकिन दूसरे के पापों की शोध करने से पहले उन दोनों कोनों का, यानी नीति और धर्म का पालन करना पड़ेगा। इस शर्तपर मुझे सूत के तार के बदले या चर्खे के बदले कोई दूसरी चीज दे तो मैं उसका गुलाम बन जाऊँगा। पर यह चीज मेरी जिन्दगी में पूरी हो सकेगी, ऐसा मुझे लगता नहीं। बाकी तो बनानेवाला ईश्वर है, उसे जो करना हो करे।

आज मैं सेगाँव चला गया हूं, तो भी उसकी यही बात सुनता हूं। हमारे लोग बेकारी से भूखों मर रहे हैं, पर इसका कारण केवल अंग्रेजी राज्य नहीं है। यह भी इसका एक कारण है, अंग्रेजी राज्य से बेकारी फैली और बेकारी से दारिद्रय, पर इस दारिद्रय को निमंत्रण देने में हमारा काफी हिस्सा है। बेकारी हमारे देश में ईस्ट इंडिया कम्पनी की बदौलत आई, पर आज जो आलस्य देखने में आता है, इसमें तो हमारा ही दोष है। मैं सेगाँव में देखता हूं न कि लोगों को उनके घर जा-जाकर पैसा दें तो भी वे आलस्य छोड़कर काम नहीं करते। लोगों को पैसा दिलाने के, उनकी जेब में थोड़ा-सा पैसा डालने के मार्ग तो बहुत हैं, पर वे नीति के अनुकूल होने चाहिएं। शराब के धन्धे से भी पैसा मिलता है, पर वह किस काम का? खजूर के पेड़ों से यों ताड़ी बनती है, पर मैं उनसे गुड़ बना रहा हूं। ऐसा गुड़ बना रहा हूं कि जैसा आपने कभी नहीं खाया होगा। इसमें मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं। यह गुड़ अगर पैदा हो सका तो मैं कुछ हजार रुपये तो सेगांव के लोगों की जेब में डालूंगा ही। अब उन पेड़ों से ताड़ी निकालें तब भी रुपया मिलेगा। पर इससे आजादी नहीं मिलेगी, और मिले भी तो भी मुझे नहीं चाहिए। मैं तो यह कहता हूं कि मैं वहां गुड़ दाखिल करूं। और उसके बाद लोग चोरी से ताड़ी बनाने लगें तो मुझे उनके विरुद्ध कड़ा सत्याग्रह करना पड़ेगा। इसलिए ऐसा धन्धा मुझे कोई खादी के बदले बतावे तो उसे मैं स्वीकार नहीं करूंगा। किन्तु कोईभी नीति से चलनेवाली वस्तु खादी के बदले कोई मुझे बतावे तो उसे मैं उठा लेने के लिए हूं। वह मुझे किसी ने बताई नहीं।

इसीलिए मैं कहता हूं कि सूत के तार से ही स्वराज्य मिलेगा, पर इसके साथ नीति की जरूरत है। कुछ लोग ठगबाजी के लिए और खून करने के लिए भी खादी पहनते हैं। उनकी मनोदशा को मैं खादी की मनोदशा नहीं कहता। हमारा हृदय जब खादी से व्याप्त हो जायगा, तब हमारी आजादी को रोकनेवाली एक भी शक्ति टहरने की नहीं। गांवों में बसनेवालों को हमें यही चीज सिखानी है। इतना उन्होंने समझ लिया और कर लिया तो फिर धारा-सभायें सो जांयगी। कारण कि हम तो इसके पहले ही स्वराज्य प्राप्त कर चुके होंगे।

मैंने इसी समझ से एक साल के अन्दर स्वराज्य प्राप्त करने की बात अठारह साल पहले कही थी। वही बात आज भी कह रहा हूं, और की थी इसके लिए मुझे जरा भी शर्म नहीं। मैंने जिन शर्तों को पूरा करने के लिए कहा था, उनमें से क्या एक भी पूरी हुई थी ? आज भी उन्हें आप पूरा करें तो स्वराज्य हस्तामलकवत् है। आज हिन्दू-मुस्लिम-एकता कहां है ? बम्बई में हाल में कैसी-कैसी शैतानियां हुईं। आज वे करोड़ चर्खे कहां हैं ? और कहां हैं वे नियमित रूप से रोज आधा घण्टा कातनेवाले ? (यद्यपि आज तो मैं पांच घण्टा कातने को कहता हूं, क्योंकि कातनेवाले बहुत थोड़े रह गये हैं।) और हमने अस्पृश्यता कितनी दूर की है ? त्रावणकोर की यह घोषणा तो समुद्र में एक बूंद के समान है। अस्पृश्यता जब बिलकुल नष्ट हो जायगी, तब हिन्दू-मुसलमान गले मिलेंगे। अस्पृश्यता को जड़-मूल से नष्ट करने का अर्थ है, सबको अपना भाई बनाना—हरिजनों को ही नहीं, बल्कि मुसलमान ईसाई वगैरा को भी अस्पृश्य न मानना। और हमें जो शराब का सम्पूर्ण बहिष्कार करना था, वह किया है क्या ? मैंने तो इसके अलावा सरकारी स्कूलों, अदालतों और धारासभाओं के बहिष्कार की भी बात की थी। मान लीजिए कि आज भी कोई धारासभा में नहीं जाना चाहता तो मैं किसी से जाने का आग्रह करता हूं क्या ? मैं तो बनिया ठहरा, जो बात लोगों को पसन्द नहीं आई, और जिसे वे हजम नहीं कर सके, उसे छोड दिया और धर्म और नीति के अनुकूल उनके सामने दूसरी चीज रख दी।

आर्थिक सूर्य-मण्डल

आज मैं सरल शब्दों में एक बड़ी ऊंची बात आप लोगों से कह रहा हूं—अगर आप चख को अपनायेंगे तो आप देखेंगे कि सूत के तार से स्वराज्य मिलता है या नहीं ? सारा हिन्दुस्तान तो सूर्य-मण्डल है । उसमें चरखा मध्य-बिन्दु है, और इसके आसपास ग्राम-उद्योग-रूपी ग्रह चक्कर लगा रहे हैं। नभोमण्डल में तो नवग्रह कहे जाते हैं, पर चरखे के आस-पास तो अनन्त ग्रह घूमते हैं। इस मध्यचक्र अर्थात् सूर्य को मिटाने का अर्थ है, आसपास के सभी उद्योगों का नष्ट कर देना। आज सूर्य सेवा करता है तो उसकी गरमी से टिके हुए दूसरे ग्रह सेवा करते हैं। मूल सूर्य का अस्तित्व स्थिर हो गया तो फिर दूसरे सब ग्रह तो उसके आसपास चक्कर लगायेंगे ही।

इस प्रदर्शिनी में आप एक छोटा-सा सूर्य-मण्डल देखेंगे। यह ता एक नमूना है, पर ऐसे नमूने से आप सारे हिन्दुस्तान को भर दें,सारा हिन्दुस्तान इस प्रकार के गांवों का बन जाय, तो फिर धारासभा के कार्यक्रम की कोई जरूरत नहीं रहेगी, और न जेल जाने की जरूरत रहेगी। स्त्रियों को तो जेल जाना ही नहीं पड़ेगा, बल्कि पुरुषों को भी नहीं जाना पड़ेगा। हमें जेल में अपने पाप के कारण जाना पड़ता है; याने इससे कि रचनात्मक काम को हाथ में नहीं उठा लेते।

ऊंचा उपाय

इसलिए यह एक ऊंचा उपाय है। इसके आगे हिंसक उपाय फीका पड़ जाता है। हमारी संख्या इतनी ज्यादा है कि ३५ करोड़ सहज ही ७०,००० अंग्रेजों को पत्थर मारकर भी मार डाल सकते हैं। लेकिन फिर ३५ करोड़ के बारे में क्या कहा जायगा ? इससे आजादी मिलनी तो दूर, पर ईश्वर याने संसार हमारे ऊपर थूकेगा। और ब्रिटिश सरकार के पास इस सम्बन्ध में धर्म नहीं, नीति नहीं। वह तो हवाई जहाजों से बम फेंकेगी, और जहरीली गैस बरसायगी, यह भय तो हमेशा है ही। इस भय को मिटाने के लिए मैंने चर्खा खोजा, और आज सेगांव में बैठा हूं, पर रटना उसी की है। आज भी मुझ में जेल जाने की शक्ति है, पर अब मैं ६८ वर्ष

का होगया हूं, अब तो आप लोगों में जो जवान हैं, वे जेल में जांय। लेकिन आज तो मैं आपके आगे वह चीज रख रहा हूं, जो मेरे अन्दर भरी हुई है। जेल तो जाने के लिए तैयार हूं, फांसी पर चढ़ने को भी तैयार हूं—शायद जवाहरलाल की तरह हंसते-हंसते नहीं, रुआंसी आंखों से चढ़ूं। पर आज इसके लिए सवाल कहां पैदा हुआ है ? मैं तो कहता हूं कि ३५ करोड़ आदमी अगर बुद्धिपूर्वक हिंसा का नाम छोड़ दें और मेरे बताये अनुसार चर्खे को अपना लें, तो धारा-सभा या जेल में जाने की, फांसी पर चढ़ने की, अर्जियां भेजने की या लार्ड लिनलिथगो के पास जाने की जरूरत रहेगी ही नहीं। उलटे लार्ड लिनलिथगो कांग्रेस में आकर कहेंगे कि तुम्हें जो चाहिए, ले लो और हमें यह बताओ कि हम यहां किस तरह रहें ? वह कहेंगे—'हमसे गलती हुई। तुम्हारा वर्णन हमें आतंकवादी और हिंसावादी के रूप में नहीं करना चाहिए था। अब तुम रखोगे तो रहेंगे, और जिस तरह रहने को तुम कहोगे, उस तरह रहेंगे।' इसके बाद हमें विदेशियों को रोकने के कानून की जरूरत नहीं रहेगी। हम उन लोगों से कहेंगे, 'तुम दूध में शक्कर की तरह मिल जा सकते हो तो मिल जाओ, फिर हमें कोई अलग नहीं कर सकता।'

यह मेरा स्वप्न है। यह स्वप्न सेगांव में रहकर मुझे इतना प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि मुझे लगा कि आप लोगों को यह सुना देना चाहिए। आगामी कांग्रेस में मिलूंगा या नहीं, इसकी किसे खबर है ? मैं तो यमराज के लिए किवाड़ खोलकर बैठा हूं, कौन कह कहता है कि वह कब आकर उठा ले जाय ? इसलिए मेरे मन में जो भरा हुआ था, उसे सुनाने का आज मैंने अवसर लिया। मेरे बताये अर्थ से भरे हुए चर्खे में हमारे देश के हरेक स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, पारसी-ईसाई सबकी स्वतन्त्रता समाई हुई है—जिस स्वतंत्रता में सबका हक समान है—'सबै भूमि गोपाल की।'

: १६ :

सूत्र-यज्ञ का रहस्य

प्राचीन काल में बड़े बड़े राजा-महाराजा भिन्न-भिन्न प्रकार के 'यज्ञ' किया करते थे। अपनी वाञ्छित कामना—आकांक्षा—की सिद्धि की इच्छा से ही ये यज्ञ किये जाते थे। ये यज्ञ प्रभूत परिमाण में होते थे, इसलिए देश के सब तरह के लोगों को भिन्न-भिन्न कला-कौशल से लेकर साधारण मजदूरी तक के तरह-तरह के काम मिलते रहते थे। इससे उन्हें अपनी गृहस्थी चलाने में काफी मदद मिल जाती थी।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने यज्ञ के सम्बन्ध में लिखते हुए "समाज के धारण-पोषण के उद्देश्य से जो कोई भी सार्वजनिक कार्य किया जाय, उसी का नाम यज्ञ है।" इन शब्दों में उसकी व्याख्या की है। यज्ञ का सामान्य रूप है व्यक्ति का अपने आस-पास के समुदाय के हित के लिए बिना किसी पुरस्कार अथवा बदले की आकांक्षा के अपनी शक्ति का उपयोग होने देना। बिना किसी व्यक्तिगत फल की इच्छा रखे मनुष्य जो कार्य करता है, वह यज्ञ कर्म होता है।

द्रव्य यज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

इस श्लोक में यज्ञ के द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ आदि भिन्न-भिन्न नाम बताये गये हैं। तात्पर्य यह है कि यदि हम राष्ट्र का धारण-पोषण करनेवाली किसी भी सार्वजनिक संस्था की द्रव्य से सहायता करें तो वह 'द्रव्ययज्ञ' होगा। अगर सार्वजनिक उपयोग के लिए कोई एकाध कुआ, तालाब, सड़क, बाग अथवा मन बहलाव की जगह तैयार करनी हो और उसके लिए हम कुछ शारीरिक श्रम करें तो वह हमारा 'तपोयज्ञ' होगा। पूज्य विनोबाजी ने कहा है—"राष्ट्रीय यज्ञ में विचार-

पूर्वक भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग करना, उनमें संशोधन करना एक प्रकार का तप ही है।[१] समाज-सेवा के लिए उपयुक्त और समर्थ व्यक्ति का चित्त निर्माण करने के लिए ध्यान-धारण की जो क्रिया की जाती है, वह 'योगयज्ञ' कहलाती है। जो व्यक्ति बिना किसी तरह का मुआवजा या बदला लिए ही विद्यार्थियों अथवा जनता को अपने ज्ञान का लाभ पहुंचायेगा और यह ज्ञान यदि राष्ट्रीय प्रगति का पोषक हुआ तो उसका यह कार्य 'ज्ञानयज्ञ' कहलायेगा और अपनी नजरों के सामने यह ध्येय रखकर कि मुझे ऐसा ही 'ज्ञानयज्ञ' आगे भी करना है, उसकी तैयारी के लिए स्वयं उन विषयों का अध्ययन करता है, उसके इस कर्म को 'स्वाध्याय-यज्ञ' कहा जा सकेगा। व्यक्ति की अपनी शुद्धि और विकास के लिए यह 'स्वाध्याय-यज्ञ' करना पड़ता है।

गत डेढ़सौ वर्षों से हिन्दुस्तान की करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति अनेक मार्गों से विदेशों को ढोई जा रही है। इन अनेक मार्गों से केवल विदेशी कपड़े के द्वारा ही हमारे करोड़ों रुपये बाहर चले जाते हैं। ये कपड़े 'जहाज' जैसी कोई वस्तु नहीं हैं जो वर्तमान परिस्थिति में यहां तैयार न हो सकते हों। हिन्दुस्तान में रुई काफी तादाद में पैदा होती है, करोड़ों लोग काम के अभाव में बेकार फिरते हैं; चरखे आदि साधन-सामग्री परम्परा से अपने पास मौजूद हैं। ऐसी स्थिति में अपने यहाँ प्रति वर्ष करोड़ों रुपये के विदेशी कपड़े का खपना अत्यन्त दुःखदायक, लज्जास्पद और दुर्भाग्य की बात है।

हिन्दुस्तान की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखकर महात्माजी का कहना है कि "इस समय सब लोगों के लिए अधिक नहीं तो कम-से-कम आध घंटा तो प्रतिदिन नियमपूर्वक कातना आवश्यक है। वर्तमान युग में भारत-वासियों के लिए यह यज्ञकर्म है।" स्वयं महात्माजी इस नियम का पालन करने में कितने नियमित हैं, यह बात इसीसे प्रकट है कि दूसरी गोलमेज परिषद के मौके पर जब वे विलायत गये तो वहाँ उन्हें कार्य की अधिकता के कारण अवकाश न मिलने पर वे रात के बारह-बारह बजे तक

१. उदाहरणार्थ तकली और चरखे की गति बढ़ाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग करना 'तपोयज्ञ' होगा।

चरखे पर सूत काते बिना नहीं रहे।

यह यज्ञ-कर्म किस तरह है, इस सम्बन्ध में महात्माजी की विचार-सरणी यह है कि विदेशी कपड़े के बदले में प्रतिवर्ष राष्ट्र के ५०—६० करोड़ रुपये देश से बाहर जाते हैं। इस प्रकार 'राष्ट्र में गढ़ा पड़ गया है, उसे भरने के लिए नित्यप्रति जो कार्य नियमपूर्वक उपासना बुद्धि से जो कार्य किया जाय उसे यज्ञ कहा जाता है'[१] 'बूंद-बूंद जल भरे तलावा' इस कहावत के अनुसार यदि प्रत्येक व्यक्ति नियमपूर्वक आधा घंटा प्रति दिन काते तो वर्ष के अन्त में ३६५ दिन का बहुत-सा सूत इक्ट्ठा हो जायगा। जितना सूत काता गया, उतनी ही राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि हुई। उस सूत की जितनी खादी तैयार होगी, उतना ही विदेशी कपड़े की खपत कम होगी। यदि हिन्दुस्तान के ४० करोड़ लोग इस तरह अमल करने का निश्चय कर लें तो ५०--६० करोड़ रुपयों में से हम देश के कई करोड़ रुपये बचा सकेंगे। ये करोड़ों रुपये यदि देश में बच जांय, तो इनसे देश में और अधिक उद्योग-धन्धे शुरू किये जा सकते हैं। देश की बेकारी दूर करने का यह एक उपाय है। इस प्रकार सूत्र-यज्ञ अर्थात् नित्य नियमपूर्वक आध घंटा रोज सूत कातना हिन्दुस्तान के भरण--पोषण करने—उसकी आर्थिक उन्नति करने का एक मार्ग है। आज की परिस्थिति मे यह हमारा एक धर्म है; लेकिन 'जो जो करेगा उसका' है।

देश, काल, परिस्थिति के अनुसार यज्ञ का स्वरूप बदलता रहता है। आज देश में विदेशी कपड़े के जरिये प्रतिवर्ष बाहर जाने वाले ५०—६० करोड़ रुपये से जो गढ़ा पड़ता है, हमें उसे पूरना—भरना—है, इसलिए महात्माजी ने सूत्रयज्ञ की कल्पना देश के सामने रखी है। लेकिन मान लीजिए की देश की अन्न-वस्त्र की आवश्यकता किसी उपाय से देश-की-देश में ही पूरी हो जाय, तब महात्माजी अथवा देश के अन्य नेता देश में फैली हुई भयङ्कर निरक्षता को दूर करने का प्रश्न हाथ में लेंगे; क्योंकि देश की अन्न-वस्त्र के बाद की दूसरी आवश्यकता साक्षरता अर्थात् शिक्षा की है उस

१. विनोबाजी का एक भाषण

समय राष्ट्र की इस निरक्षरता को दूर करने के लिए यह नियम बनाया जायगा कि प्रत्येक व्यक्ति को एक निरक्षर व्यक्ति को आध घंटा रोज नियमपूर्वक पढ़ाना ही चाहिए। तब यह 'शिक्षण-यज्ञ' होगा। अथवा देश में वृक्षों की संख्या बहुत कम हो गई है, इसलिए उस कमी को पूरा करने के लिए वर्ष में तीन-चार 'वृक्षारोपण-दिन' मनाने की योजना की जायगी। उस दिन सामूहिक रूप से पेड़ लगाये जायंगे और फिर यह नियम बना दिया जायगा कि प्रत्येक व्यक्ति को नियमपूर्वक आध घंटा रोज इन वृक्षों को पानी पिलाना होगा। यह 'वृक्षारोपण-यज्ञ' होगा। मान लीजिए देश की खेती की स्थिति खराब होगई है। केवल बरसात के पानी से काम नहीं चलता। इसलिए यदि विशेषज्ञ लोगों का यह मत हुआ कि पानी के बन्द बनाये बिना कोई गति नहीं है; तब यह नियम बनाया जायगा कि प्रत्येक व्यक्ति को बन्द के लिए आध घंटा रोज नियमपूर्वक खुदाई का काम करना चाहिए। यह 'कृषियज्ञ' होगा। सारांश यह कि भिन्न-भिन्न समयों में यज्ञ का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है।

सूत्र-यज्ञ की एक और भी उपपत्ति नीचे लिखे अनुसार है—

संसार में लूटने वाले (exploiters) और लूटे जाने वाले (exploited) जो दो वर्ग बन गये हैं, इसका कारण शारीरिक श्रम से बचने की वृत्ति है। यह जो वृत्ति बन गई है कि उत्पादन के लिए शारीरिक परिश्रम तो दूसरे लोग करें और उससे जो लाभ हो उस पर हम हावी रहें, वह नष्ट होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को—फिर चाहे वह कितना ही विद्वान् और धनवान् क्यों न हो—उत्पादक श्रम करके ही अपना पेट भरना चाहिए। यदि इतना सम्भव न हो सके तो कम-से-कम आध घण्टा रोज 'सूत्र-यज्ञ' रूपी उत्पादक श्रम तो अवश्य ही करना चाहिए। क्या 'श्रम की प्रतिष्ठा' को अंगीभूत करने के लिए—श्रम-देवता की उपासना करने के लिए 'सूत्र-यज्ञ' सरल-से-सरल उपाय नहीं है?

"तुमको हमेशा यह सिखाया जाता है कि श्रम अभिशाप रूप है और शरीर-कष्ट करना दुर्भाग्य का लक्षण है। लेकिन मैं कहता हूं कि संसार के

आरम्भ काल से ही पृथ्वी-माता यह अपेक्षा करती है कि तुम श्रमजीवी जीवन व्यतीत करो, और इसीलिए जब तुम श्रम करते हो, तब पृथ्वी-माता के हृदय में घर करके बैठी हुई आशा को सफल करते हो। श्रम-देवता की उपासना करना जीवन का सच्चा आनन्द भोगना है। श्रम करके जीवन-रसास्वादन करना जीवन का गूढ़तम रहस्य समझना है।[1]

गत तेरहवीं सदी में एक शासक हो चुका है जो 'उत्पादक श्रम' की प्रतिष्ठा को मानता और इसीलिए स्वयं उसके अनुसार प्रत्यक्ष आचरण करता था। यहां पर उसका उल्लेख करना आवश्यक है। दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ होकर जिन भिन्न-भिन्न मुस्लिम घरानों ने शासन किया, उनमें एक गुलाम घराना भी था। इसी गुलाम घराने के बादशाह अल्तमश का लड़का नासिरुद्दीन मुहम्मद वह शासक था। सन् १२४६ में यह तख्त पर बैठा और २० वर्ष बादशाहत करने के बाद १२६६ में मृत्यु को प्राप्त हुआ। नासिरुद्दीन मुहम्मद कुरान की हस्तलिखित प्रतियां बेचकर उनकी आमदनी से अपना गुजर करता था। उसका रहन-सहन सादा और खान-पान भी किसी बनवासी साधु की तरह बिलकुल मामूली था; लेकिन विचार और सिद्धांत उसके बहुत ऊंचे थे। उसका कहना था कि प्रजा से कर के रूप में वसूल हुए पैसे पर अपने खर्च का भार डालना उचित नहीं है।

यही नहीं कि वह स्वयं ही इस उच्च आदर्श का पालन करता था; बल्कि उसकी बेगम भी अपने महल का सब काम-काज खुद ही करती थी। भोजन बनाते समय बेगम साहिबा का हाथ जल जाने पर उससे उसने भोजन बनाने के लिए एक दासी नौकर रखने की प्रार्थना की; लेकिन नासिरुद्दीन ने यह कह कर वह प्रार्थना अस्वीकृत करदी कि दासी नौकर रखने से श्रम की प्रतिष्ठा घट जायगी और प्रजा के पैसे का दुरुपयोग होगा! कितनी आदर्श है यह तत्त्वनिष्ठा!

'सूत्रयज्ञ' पर ध्यान देने का एक तीसरा कारण और भी है। हिन्दुस्तान में दलित समाज काफी बड़ा—करोड़ों की संख्या में है। सामाजिक,

१. सीरियन तत्त्वज्ञानी खलील जिब्रान।

राजनैतिक और आर्थिक आदि अनेक दृष्टियों से वह कष्ट पाता है । उनके लिए हमारे दिल में व्यथा है, व्यग्रता है, यह हम कैसे व्यक्त करेंगे ? केवल व्याख्यान दे देने से काम नहीं चलेगा। उनके साथ एक–रस होने के लिए जिस तरह का वे श्रमजीवी जीवन बिताते हैं, उसी तरह का जीवन हमें भी बिताना चाहिए; लेकिन यदि वर्त्तमान स्थिति में यह सम्भव न हो सके तो उस श्रमजीवी जीवन के श्रीगणेश के तौर पर हमें कम से-कम आध घण्टा रोज नियमित रूप से सूत कातना चाहिए । इस आध घण्टे के 'सूत्र-यज्ञ' को दलित-समाज के श्रमजीवी जीवन का प्रतिनिधि स्वरूप समझना चाहिए ।

इस प्रकार त्रिविध दृष्टिसे 'सूत्र-यज्ञ' पर विचार किया जा सकता है—

(१) विदेशी कपड़ों के कारण देश में पड़े हुए भारी गढ़े की पूर्ति के लिए ।

(२) श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए और

(३) देश के करोड़ों श्रमजीवी लोगों के जीवन से समरस होने के लिए।

क्या इन सब बातों के लिए हम नियमित रूप से आध घण्टा रोज सूत कातने का सङ्कल्प नहीं करेंगे ? कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर जो संकल्प किया जाता है, परिणाम में उससे अपनी आत्मोन्नति को पुष्टि ही मिलती है ।

: १७ :

चरखा-संघ

अबतक खादी के सम्बन्ध में तात्विक विवेचन मुख्यत: किया गया है। अब खादी के प्रत्यक्ष कार्य के सम्बन्ध में विचार करना है। देश में खादी का प्रचण्ड काम करनेवाली संस्था 'अखिल भारतीय चरखा-संघ' है। इस संस्था के कार्य का परिचय कराने से पहले यह देखना जरूरी है कि इस संस्था की स्थापना के पहले खादी का काम किस तरह चल रहा था।

महात्मा गांधी को चरखे की उपयुक्तता और कार्यक्षमता का अनुभव बहुत समय पहिले ही होगया प्रतीत होता है। उन्होंने सन् १९०८ में विलायत से दक्षिण अफ्रीका जाते समय जहाज में 'हिंद स्वराज्य' नाम की सुप्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने शुरू में ही चरखे का उल्लेख किया है।

सन् १९१५ में वह दक्षिण अफ्रीका छोड़कर स्थायीरूप से हिन्दुस्तान में रहने के लिए आये और अहमदाबाद के निकट पहले कोचरब में और बाद को साबरमती में अपना सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया। उस समय पहले-पहल प्रत्यक्ष कार्य का आरम्भ हुआ। पहली शुरूआत भी 'चरखे' से नहीं 'करघे' से हुई। पाठकों को आश्चर्य होगा कि जैसा कि महात्माजी ने स्वयं कहा है, "सन् १९०८ ई० तक चरखा अथवा करघा देखने का मुझे स्मरण तक नहीं था। इतना होने पर भी 'हिन्दस्वराज' लिखते समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि चरखे द्वारा ही हिन्दुस्तान की दरिद्रता नष्ट होगी; क्योंकि यह मानने में कोई हर्ज नहीं है कि जिस उपाय से भुखमरी टलेगी उसी उपाय से स्वराज्य मिलेगा, यह बात सब के समझ में आने जैसी है। सन् १९१५ ई० में दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान आया तबतक भी मैं चरखे के

दर्शन नहीं कर पाया था। आया तब आश्रम स्थापित किया और करघा लगवाया।"[1]

करघा शुरू करने में भी उन्हें कितनी अड़चनें उठानी पड़ीं और चरखे की शुरूआत पहले कहां से की जाय, इसकी खोज करने में उन्हें कितना प्रयत्न करना पड़ा, इसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' के चौथे भाग में 'खादी का जन्म' शीर्षक और उसके बाद के अध्याय में अत्यन्त मनोरंजक जानकारी दी है। जिज्ञासुओं को वह सब मूल पुस्तक में अवश्य देखना चाहिए।

लेकिन उक्त वर्णन में से एक मुद्दे की ओर हम पाठकों का ध्यान खासतौर पर आकर्षित करना चाहते हैं। वह यह कि सन् १९१७-१८ तक उन्होंने चरखा देखा तक नहीं था, तो भी 'जिस मार्ग से लोगों की भुखमरी टलेगी, उसी मार्ग से स्वराज्य मिलेगा—जनता की भुखमरी बढ़ाने से स्वराज्य नहीं मिलेगा'—यह तत्त्व उन्हें सन् १९०८ में ही मालूम होगया था और इस बात का उन्होंने सन् १९०८ में लिखी हुई अपनी 'हिन्द स्वराज' नामक पुस्तक में उल्लेख भी किया है।

चरखे द्वारा हमें स्वराज्य प्राप्त होगा, यह बात उन्होंने पहले-पहल सन् १९१८ में प्रकट की।

सितम्बर सन् १९२० में कलकत्ता में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में कांग्रेस के प्रस्ताव में पहली बार खादी का उल्लेख हुआ। उसमें इस आशय का प्रस्ताव पास हुआ कि 'प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बालक को देश के अनुशासन और स्वार्थ-त्याग का प्रतीक समझ कर सूत कातना चाहिए और हाथ से कते सूत के बने हुए वस्त्र का व्यवहार करना चाहिए।'

इसके बाद अगले पांच वर्षों में खादी की जैसी-जैसी प्रगति होती गई, उसी तरह कांग्रेस उस सम्बन्ध में अपनी नीति को किस तरह व्यापक करती गई, इसका हाल बड़ा मनोरंजक है।

१. आत्मकथा, भाग ४ अध्याय ३९

दिसम्बर १९२० में नागपुर में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में कलकत्ता के ही प्रस्ताव को दुहराया गया।

मार्च सन् १९२१ में बेजवाड़ा में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई थी। उसमें देश में २० लाख चरखे चलाये जाने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

उसके बाद भिन्न-भिन्न कांग्रेस कमेटियों ने खादी का अपने कार्यक्रम का एक अंग समझकर उसका प्रचार किया।

सन् १९२२ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने देश में होनेवाले खादी के कार्य पर देख-रेख रखने के लिए एक स्वतन्त्र 'अखिल भारतीय खादी विभाग' का निर्माण किया।

सन् १९२३ में कोकनाड़ा में हुए कांग्रेस अधिवेशन में अनेक प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों द्वारा स्थापित 'प्रांतीय खादी संघों' के सहयोग से देश में होनेवाले सारे खादी-कार्य पर देख-रेख और नियन्त्रण रखने के लिए 'अखिल भारतीय खादी-संघ' की स्थापना की गई।

सितम्बर सन् १९२५ में पटना में हुई 'अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी' ने 'अखिल भारतीय चरखा संघ' नाम की संस्था स्थापित की। उस सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उसका आवश्यक अंश इस प्रकार है—

"चूंकि हाथ से कातने की कला और खादी का विकास करने के लिए उसके विशेषज्ञों की एक संस्था स्थापित करने का समय आ पहुंचा है और क्योंकि अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि राजनीति, राजनैतिक उथल-पुथल और राजनैतिक संस्था के नियन्त्रण और प्रभाव से दूर रहने वाली एक स्थायी संस्था के बिना ऐसा विकास हो सकना सम्भव नहीं है, इस लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की अस्वीकृति से इस प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस में समाविष्ट किन्तु स्वतन्त्र अस्तित्व और सत्ता रखने वाली 'अखिल भारतीय चरखा संघ' नामकी संस्था स्थापित की जाती है।"

इस संघ के विधान व नियमों में संघ की समय-समय पर हुई बैठकों में कुछ परिवर्तन किये गये। फिलहाल जो विधान अमल में है उसमें निम्न

लिखित बातें मुख्य हैं:—

उद्देश्य—इस संघ के उद्देश्य ये होंगे:—

हाथ-कताई तथा हाथ-कती व हाथ-बुनी खादी की उत्पत्ति व बिक्री के तथा तत्संबंधी अन्य सब प्रक्रियाओं के द्वारा—

(अ) गरीबों को पूरे या थोड़े समय काम देकर राहत पहुँचाना;

(आ) उनको यथासम्भव जीवन-निर्वाह मजदूरी प्राप्त कराना;

(इ) उनकी बेकारी से रक्षा करने के लिए साधन मुहय्या करना, खास करके अकाल के दिनों में, फसल न होने पर या दूसरे दैवी-संकट आने पर;

(ई) सामान्यत: और यथा--अवकाश शिक्षण, दवाई आदि की सुविधायें कराना;

(उ) हाथ--कताई तथा खादी की उत्पत्ति व बिक्री तथा तत्संबंधी दूसरी तमाम प्रक्रियाओं का शिक्षण देने तथा प्रयोग करने के लिए संस्थायें खोलना, चलाना या ऐसी संस्थाओं को सहायता देना; और

(ऊ) पूर्वोक्त उद्देश्यों के अनुकूल दूसरे कार्य या प्रवृत्तियां चलाना।

नियम—

१. संघ के सदस्य दो तरह के होंगे—आजीवन सदस्य व सालाना सदस्य।

२. आजीवन व सालाना सदस्यों का मिलकर 'ट्रस्टी-मंडल' होगा (जिसको आगे 'मण्डल' कहा गया है) वही संघ का संचालक मंडल होगा।

३. (अ) आजीवन सदस्य तथा दूसरे ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें मंडल रिक्त स्थानों पर आजीवन सदस्यों के तौर पर समय-समय पर ले:—

महात्मा गांधी (अध्यक्ष)	बाबू राजेन्द्रप्रसाद
सरदार वल्लभभाई पटेल	श्रीमती राजकुमारी अमृत कुंवर
श्री. वि. व जेराजानी	श्री कृष्णदास छ० गांधी
श्री पुरुषोत्तम कानजी	श्री धीरेन्द्र मजूमदार
श्रीकृष्णदास जाजू (मंत्री)	

(आ) सालाना सदस्यों की संख्या ३ से अधिक न होगी। वे आजीवन सदस्यों द्वारा सहयोगियों में से हर साल इस काम के लिए बुलाई गई सभा में उपस्थित सदस्यों के $\frac{२}{३}$ बहुमत से ले लिये जाया करेंगे। फिलहाल श्री रघुनाथराय सालाना सदस्य हैं।

सूचना—आजीवन सदस्यों की संख्या ७ से कम और १२ से अधिक कभी न होगी।

४. मण्डल संघ के सब काम, कारोबार और प्रवृत्तियाँ चलावेगा और विशेषकर नीचे लिखे काम करेगा :—

(अ) कर्ज लेना, चंदा करना, स्थावर सम्पत्ति रखना, संघ की धन-सम्पत्ति जायदाद पर या अन्य तरह से लगाना;

(आ) कर्ज, दान या सहायता के तौर पर खादी संस्थाओं को आर्थिक या दूसरी तरह की मदद देना।

(इ) हाथ-कताई और हाथ-कती व हाथ-बुनी खादी की उत्पत्ति व बिक्री तथा तत्संबंधी प्रक्रियाएं सिखाने वाली या उनके प्रयोग करने वाली संस्थाएं व विद्यालय खोलना या उन्हें सहायता देना;

(ई) खादी भंडार खोलना या उन्हें सहायता देना;

(उ) खादी कार्यकर्त्ताओं का संगठन करना;

(ऊ) जमीन—जायदाद पट्टा, रहन, चार्ज, दान अथवा बिक्री से सम्पादन करना या अलग करना,

(ए) संघ की तरफ से मुकद्दमे अथवा अन्य कार्रवाई करना व दूसरी तमाम कानूनी कार्रवाई करना तथा संघ पर मुकद्दमे तथा अन्य कार्रवाई की जाय तो उनकी जवाबदेही करना;

(ऐ) किसी उपसमिति या व्यक्तियों को अपना कोई अधिकार देना;

(ओ) दावों झगड़ों को पंच द्वारा निपटाना;

(औ) आमतौर पर संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मण्डल जो बातें करना मुनासिब या जरूरी समझे वे सब करना।

५. मण्डल संघ के दो प्रकार के सहयोगी बनावेगा:—

(अ) साधारण सहयोगी, व (आ) आजीवन सहयोगी।

६. (१) जो व्यक्ति (अ) १५ साल से ऊपर की उम्र का हो,
(आ) आदतन खादी पहनता व इस्तेमाल करता हो,
(इ) अपना कता समान व अच्छे बल वाला मासिक
१००० गज सूत या १२ रु. वार्षिक चन्दा
संघ को दे, वह संघ का साधारण सहयोगी बनाया जा सकेगा।

(२) हर एक साधारण सहयोगी का कर्त्तव्य होगा कि वह हाथ-कताई और खादी के लिए प्रचार करता रहे।

७. जिस व्यक्ति की उम्र १८ साल से ऊपर हो, जो आदतन खादी पहनता और इस्तेमाल करता हो और जो ५०० रु. एक मुश्त संघ को दे वह संघ का आजीवन सहयोगी बनाया जा सकेगा।

८. साधारण सहयोगी अपने चन्दे का सूत या रुपया, ६ मास तक न देने पर सहयोगी न रहेगा।

संस्था ने १२ लाख रुपये की पूंजी से अपने कार्य की शुरूआत की। अब पूंजी ५४ लाख रुपये होगई है। अवश्य ही यह पूंजी भिन्न-भिन्न प्रान्तीय शाखाओं और दूसरे खादी-केन्द्रों में बांटी गई है।

फिलहाल भिन्न-भिन्न प्रान्तों में 'अखिल भारतीय चरखा--संघ' की कुल १९ शाखायें हैं। प्रत्येक प्रान्त में खादी के काम में दिलचस्पी रखने वाले श्रद्धावान् और प्रभावशाली सज्जन एजेन्ट के तौर पर यथा संभव नियत किये जाते हैं। यह नियुक्ति अखिल भारतीय चरखा-संघ की ओर से होती है। एजेण्ट पर अपने प्रान्त के खादी-कार्य-सम्बन्धी सब तरह की जिम्मेदारी होती है। ये एजेण्ट अखिल भारतीय चरखा-संघ के प्रति उत्तरदायी होते हैं। बिना कहे ही यह बात समझ लेना चाहिए कि इन एजेण्टों को अवैतनिक ही काम करना पड़ता है।

अपने उद्देश्य को दृष्टि के सामने रखकर संघने आज तक (१) खादी के औजारों में उन्नति करने, (२) यथासम्भव खादी की उत्पत्ति बढ़ाने और (३) खादी का माल अधिकाधिक सुन्दर, मुलायम और सस्ता करने

का प्रयत्न किया। खादी की लोक-प्रियता और उसकी बढ़ती हुई खपत देख-कर मिलवालों ने अपने माल को भी खादी का ही बनाने का प्रयत्न शुरू किया, तब इस मनोवृत्ति पर रोक लगाने के लिए, मिलवालों और चरखा-संघ की ओर से महात्मा गांधी के बीच सन् १९२९में यह समझौता हुआ कि—

(१) मिलवाले अपने माल पर खास तौर से ऐसी मुहर लगावें जिससे यह सहज ही झलक जाय कि यह माल खादी से भिन्न है;

(२) उन्हें अपने माल को न तो 'खादी' बताना चाहिए, न उसपर इस आशय की मुहर ही लगानी चाहिए।

(३) मिलवाले खादी में मिल सकनेवाला अथवा उससे स्पर्धा कर सकनेवाला माल तैयार न करें। इसके लिए उन्हें कुछ निश्चित नमूनों के अपवाद छोड़कर, १८ नम्बर से ऊपर के ही सूत का माल तैयार करना चाहिए।

दुःख की बात है कि मिल-मालिकों ने सत्याग्रह-आन्दोलन कमजोर रहने तक ही इस समझौते पर अमल किया। सन् १९३१ के आरम्भ में हुई गांधी-इरविन-सन्धि के बाद से ही उन्होंने इस समझौते के विरुद्ध काम करना शुरू कर दिया।

संक्षेप में कहा जाय तो १९२५ से १९३३ तक होनेवाला खादी-कार्य बेकार और आर्त्त लोगों को सहायता और सुविधा पहुंचाने के रूप में था। किन्तु सन् १९३३ के हरिजन-दौरे में देश की स्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करते समय महात्माजी को यह अनुभव हुआ कि अभी तक जो खादी-कार्य हुआ वह शहरी ग्राहक किस तरह खुश हों, इस बात को सामने रखकर हुआ है। अभीतक शहरी ग्राहकों को (१) उनकी इच्छानुसार मुलायम, (२) यथा-सम्भव सस्ती, (३) आवश्यक परिमाण में और (४) जहां वे हों वहीं पहुं-चाने के लिए यथासम्भव प्रयत्न किया गया। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसा प्रयत्न करने का हेतु किसानों को सहायक धन्धा देना तो था ही, साथ ही इस रचनात्मक कार्य की ओर शहरी लोगों का ध्यान आकर्षित करना भी था।

हरिजन-दौरे के बाद महात्माजी ने अखिल भारतीय चरखा-संघ के ध्येय में परिवर्त्तन किया। ३-४ अप्रैल सन् १९३४ को वर्धा में संघ की कार्य-समिति की बैठक होकर उसमें खादी की उत्पत्ति और वस्त्र-स्वावलम्बन की प्रगति को ध्यान में रखकर निश्चय किया गया कि—

(१) खादी जहां पैदा होती हो उसी गांव में और उसके आसपास के इलाके में खपाई जाय, और (२) विशेषतः कातनेवाले, जुलाहे और उनके आस-पास के कुटुम्बों के हृदय में यह बात बिठा देने का प्रयत्न होना चाहिए कि उन्हें अपने खुद के लिए आवश्यक वस्त्रों की पूर्त्ति के लिए स्वयं कातना, बुनना और अपने ही गांव में तैयार हुई खादी बापरनी चाहिए, और इसी पर जोर देकर जोरों से प्रयत्न किया जाय।

इन लोगों के लिए खादी का व्यवहार सुगम हो, इसके लिए खादी-भण्डारों के व्यवस्थापकों को यह सूचना प्रकाशित करनी चाहिए कि इन्हें लागत के मूल्य में ही खादी दी जायगी।

प्रत्येक गांव वस्त्र-स्वावलम्बी हो और जहां खादी तैयार हो, वहीं वह बेची जाय, खादी-कार्य का यह ध्येय पहले भी था; लेकिन अब उस पर अधिक जोर दिये जाने के कारण उसको अधिक प्रोत्साहन मिला।

अखिल भारतीय चरखा-संघ ने बेकार और दरिद्र लोगों का जीवन अधिक समृद्ध और सुखी करने लिए जो प्रयत्न किये, उसके तीन भाग हैं। उनमें का यह पहला भाग है।

इस ध्येय के अनुसार चरखा-संघ ने १९३४ के अप्रैल से सन् १९३५ के अक्तूबर तक कारीगरों को यथासम्भव वस्त्र-स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया; लेकिन इससे ही महात्माजी का समाधान नहीं हुआ। उन्होंने देखा कि खादी की विविध क्रियाओं में 'कातने' की क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; लेकिन इतना होनेपर भी खादी के दूसरे सब मजदूरों में कातनेवालों की मज-दूरी बहुत कम होती है। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि किसी भी मज-दूर से यदि ८ घंटे पूरा काम हम लेते हैं तो उन्हें कृपा के रूप में नहीं बल्कि उनके काम के बदल में उन्हें उनकी अन्न-वस्त्र की आवश्यकता पूरी हो

सकने जितनी याने अपना जीवन स्वाभिमान से ठीक-ठीक तरह चला सके उतनी मजदूरी मिलनी चाहिए और इसके लिए ११ अक्तूबर १९३५ को वर्धा में चरखा-संघ के कार्य-वाहक मण्डल की नियमित बैठक बुलाकर उसमें नीचे लिखा हुआ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास करवाया—

"इस कार्यकारिणी-समिति की यह राय है कि कत्तिनों को अभी जो मजदूरी दी जाती है, वह पर्याप्त नहीं है; इसलिए यह समिति निश्चय करती है कि मजदूरी की दर में वृद्धि की जाय, और उसका एक ऐसा उचित पैमाना निश्चित कर दिया जाय कि जिससे कत्तिनों को उनके आठ घण्टों के सन्तोष-जनक काम के हिसाब से कम-से-कम इतना पैसा मिल जाय कि जिससे उन्हें कम-से-कम अपनी जरूरत-भर का कपड़ा (सालाना २० गज) और वैज्ञानिक रीति से नियत किये हुए आहार के पैमाने के अनुसार भोजन मिल सके। अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार सभी शाखाओं को कताई की मजदूरी के अपने-अपने पैमानों को तबतक बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिए जबतक कि ऐसा पैमाना बन जाय जिससे हरेक कत्तिन के कुटुम्ब का पालन-पोषण उस कुटुम्ब के काम करनेवालों की कमाई से हो सके।"

इस प्रस्ताव से एक बात यह स्पष्ट होती है कि अभी तक जो यहां मान बैठे थे कि कातने वालों का धंधा सहायक धंधा है, इससे उन्हें कम मजदूरी देने से भी काम चल जायगा, यह विचार-सरणि गलत थी। अतः सहायक धंधा होने पर भी वह धंधा ही है; इसलिए उसकी मजदूरी पूरी पड़नी चाहिए, यह नीति निश्चित की गई। इसके अनुसार खादी बिक्री के भाव की वृद्धि करनी पड़ी।

सबसे पहले महाराष्ट्र चर्खा-संघ को इस प्रस्ताव पर अमल करने का सौभाग्य मिला।

मानवता की दृष्टि से तो खादी की भाव वृद्धि के पीछे जो विचार-सरणि रही है वह तो उपयुक्त है ही, किंतु देश के अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से भी वह कितनी उपयुक्त है, इसका, आचार्य श्री विनोबा भावे ने अपने एक भाषण तथा लेखन में अत्यन्त युक्तियुक्त और मार्मिक विवेचन किया

था। वह इस प्रकार है—

"अभी तक हमारा जो काम श्रद्धा के बल पर चलता था, उसके साथ ही अब उस पर विचार करने का अवसर उपस्थित हो गया है, और वह अवसर खादीवालों ने ही उपस्थित किया है; क्योंकि खादी का भाव खादी वालों ने ही बढ़ाया है और अनेकों का यह मत है कि इस भाव-वृद्धि के कारण खादी की खपत कम होगई है।

"सन् १९२० में हम लोगों ने सत्रह आने गज की खादी खरीदी है। लेकिन उसे सस्ती करने के उद्देश्य से दरों में कमी करते-करते आज वह चार आने गज पर आ पहुंची है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहां गरीबी मौजूद थी वहां कम-से-कम मजदूरी देकर खादी सस्ती करते-करते चार आने गज पर लाई गई। अकाल के स्थान पर खादी तैयार करने का काम शुरू करना पड़ा; इसका अर्थ यह हुआ कि खादी और गरीब स्त्रियों की जोड़ी ही बन गई।"

"चारों ओर मशीन युग होने के कारण कार्यकर्त्ताओं ने मिलों के कपड़े का भाव अपनी नजर के सामने रखकर खादी का भाव धीरे-धीरे कोशिश करके कुशलतापूर्वक सत्रह आने से सवा चार आने अर्थात् सत्रह पैसे पर ला रखा। लेने वालों ने उसे सस्ती कहकर ली। मध्यम श्रेणी के लोग कहने लगे कि अब खादी के इस्तेमाल में कोई हर्ज नहीं। खादी का भाव मिल के कपड़े की बराबरी पर आगया और टिकाऊपन दुगना हो गया, ऐसी दशा में वह महंगी रही ही नहीं। मतलब यह कि लोगों को गोल सींगों वाली सुन्दर, कम कीमत की और बहुत दूध वाली गायरूपी खादी चाहिए थी। वैसी उन्हें मिल गई; और उन्हें यह भासित होने लगा कि ऐसी खादी का इस्तेमाल कर हम बहुत बड़ी देश-सेवा कर रहे हैं।

"ऐसी स्थिति में विचारशील लोगों ने—स्वयं गांधीजी ने—यह प्रस्ताव किया कि मजदूरों को अधिक मजदूरी दी जाय। इतना ही नहीं, गांधीजी अब भी यह कहते हैं कि मजदूरों को आठ आने रोज मजदूरी पड़नी चाहिए। कई लोगों का खयाल है कि गांधीजी कहीं 'मुखमस्तीति

वक्तव्यं' वाली कहावत तो चरितार्थ नहीं कर रहे हैं ? वह—गांधीजी—साठ वर्ष के हो चुके हैं, इसलिए उनकी साठी बुद्धि नाठी हो गई, अतः उनके कथन में क्या कुछ अर्थ है,इसका अपनेको विचार करना चाहिए। हम अभी साठी तक नहीं पहुंचे हैं। हमने अभी घर-दुनिया छोड़ नहीं दी है। हमें घर-गिरिस्ती चलाना है। अगर हमें यह विचार नहीं पटते हैं तो यह समझकर कि यह सब 'सनकी' लोगों की कल्पना है, हमें वह छोड़ देनी चाहिए।

"मैं सच कहूं ? जब से खादी के दर में वृद्धि हुई है, तब से मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा है मानो मेरे शरीर में देवता का संचार होगया हो। पहले भी मैं वही काम करता था। आठ-आठ घण्टे काम करता था। मैं नियमित कातने वाला हूं। अच्छी पूनियां और निर्दोष चरखा मैं काम में लाता हूं। यह आप अभी देख ही चुके हैं कि कातते समय मेरा सूत टूटता नहीं है। मैं श्रद्धापूर्वक और ध्यान से कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करके भी उसकी मजदूरी सिर्फ सवा दो आने होती थी। हड्डियां चूर-चूर हो जाती थीं, लगातार आठ घण्टे मौनपूर्वक काम करता था। तब भी सवा दो आने ही मिलते। ऐसी दशा में देश में इसका प्रचार हो तो कैसे हो, यह विचार मन में उठता था। बाद को यह मजदूरी बढ़ गई, इससे मुझे आनन्द हुआ; क्योंकि मैं भी तो एक मजदूर ही हूं। सन्त तुकाराम का यह कथन कि "जिस पर बीतती है वही जानता है," ठीक ही है।

"मेरे काते हुए सूत की धोती पांच रुपये कीमत की हो तो भी पैसे वाले लोग उसे बारह रुपये में लेने को तैयार हो जाते हैं और कहते हैं कि यह तुम्हारे हाथ के सूत की है, इसलिए लेते हैं। ऐसा क्यों होता है ? मैं मजदूरों का प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देंगे वही उन्हें दें। ऐसी दशा में मुझे चिन्ता यही थी कि इतनी सस्ती खादी जीवित कैसे रहेगी ? मेरी यह चिन्ता अब मिट गई है। पहले कातने वालों को यह चिन्ता थी कि खादी किस तरह टिकेगी, अब वह चिन्ता खादी बापरनेवालों को मालूम होती है।"

"संसार में तीन तरह के लोग रहते हैं—(१) किसान, (२) दूसरे धन्धे करनेवाले और (३) कुछ भी धन्धा न करनेवाले; उदाहरणार्थ वृद्ध, रोगी, बालक और बेकार आदि। अर्थशास्त्र का—सच्चे अर्थशास्त्र का—यह नियम है कि तीनों श्रेणियों में जो प्रामाणिक हैं उन सब के लिए पेटभर अन्न, तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र और रहने के लिए मकान की आवश्यक सुविधा होनी चाहिए। इसी तत्व पर कुटुम्ब चलते है। कुटुम्बों की ही तरह देशों को चलना चाहिए। इसीका नाम राष्ट्रीय अर्थशास्त्र—सच्चा अर्थशास्त्र—है। इस अर्थशास्त्र में सब प्रामाणिक पुरुषों की पूर्ण सुविधा होनी चाहिए। अवश्य ही आलसी अर्थात् अप्रामाणिक लोगों का उत्तरदायित्व किसी भी देश पर नहीं है।"

"इंग्लैण्ड-जैसे देश में भी, जो यान्त्रिक सामग्री—मशीनरी—से सम्पन्न है और जहां दूसरे देशों की सम्पत्ति बहकर जाती रहती है; जहां के सब बाजार सुसमृद्ध हैं, सब प्रकार की सुविधा है,—बेकारी मौजूद है। ऐसा क्यों है ? इसका कारण है मशीनें। इतने बेकारों के होने के कारण इस तरह काम न करनेवाले लोगों को प्रति सप्ताह भिक्षा—सदाबरत—(Dole) देना पड़ता है। इस प्रकार करीब २०-२५ लाख बेकार लोगों को मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। हम कहते हैं कि भिखारियों को बिना काम अन्न नहीं देना चाहिए; लेकिन वहां सहज ही अन्न-दान चालू है। इन लोगों को काम दीजिए। 'इन्हें काम देना कर्त्तव्य है; कम-से-कम एक काम तो दीजिए; नहीं तो खाना दीजिए।' यदि इंग्लैण्ड में यह नीति है तो सारे संसार में क्यों न हो ? वही यहां भी लागू कीजिए। लेकिन यहां उसे लागू करने पर बिना काम दिये डेढ़ करोड़ लोगों को अन्न देना पड़गा। मैं यह बात हिसाब लगाकर कहता हूं कि कम-से-कम डेढ़ करोड़ लोग ऐसे निकलेंगे। मैं हिसाबी आदमी हूं। इतने लोगों को अन्न किस तरह दिया जा सकेगा ? दिया जा नहीं सकेगा। इच्छा करने पर भी नहीं दिया जा सकेगा। वहां दूसरे देशों की सम्पत्ति लूट कर ले जाई जाती है, इसलिए वे लोग ऐसा कर सकते हैं। अगर प्रामाणिकता के साथ शासन करने को कहा जाय तो

इस तरह किया नहीं जा सकेगा।"

"यहां मजे की बात यह है कि हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश होने पर भी उसके पास और कोई सहायक धन्धा नहीं है। जिस देश में खेती का धंधा होता है वह देश हीन समझा जाता है। हिंदुस्तान में ७५ फीसदी से अधिक खेतिहर—किसान—हैं। हिंदुस्तान की भूमि कम-से-कम १०,०००वर्ष से जोती जाती है। अमेरिका में इससे तिगुना प्रदेश है। आबादी सिर्फ बारह करोड़ है। जमीन की जुताई सिर्फ ४०० वर्ष से ही है, इसलिए वहां की भूमि अच्छी और उपजाऊ है और वह देश सम्पन्न है। अपने देश में, किसानों के हाथ में और कोई धंधे देने पर ही वह जीवित रह सकेगा। किसान से मतलब है (१) खेती करनेवाला, गोपालन करनेवाला और (२) पिंजाई कर कातनेवाला। किसान की इतनी व्याख्या करनेपर हिंदुस्तान का किसान टिक सकेगा।"

"कहते हैं हिंदुस्तान में अब नया राज्य शुरू हुआ है; नये मन्त्री आये हैं। वे कुछ अच्छी बातें करेंगे। लेकिन दूध मंगानेवाले अश्वत्थामा को उसकी मां ने दूध के बजाय अत्यंत आतुरता के साथ पानी में आटा घोलकर यद्यपि दूध कह कर दिया तो भी उसे दूध थोड़े ही कहा जा सकेगा? पेट में आग लगी हो, उस दशा में सिरपर सौंठ लगाने से क्या लाभ? मंत्रियों को यह जानना चाहिए था कि उन्होंने भलमनसाहत में आकर सत्ता ली होगी; लेकिन इस सत्ता के लेने का अर्थ है अपने को पददलित करनेवाली सत्ता की सहायता करना। फौज का काम न होने पर भी उसपर ६० करोड़ का खर्च किस बात के लिए? सम्पत्ति के बहकर जाते रहने पर फुटकर प्रवृत्तियों से किसानों का कुछ हित नहीं होनेवाला है।

"अत: सारी व्यवस्था फिर से बदलनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि इसी के लिए हम यहां आकर बैठे हैं। बहुत से लोग इस बात पर दु:ख प्रकट करते हैं कि खादी का प्रसार जितना होना चाहिए था उतना हो नहीं रहा है। लेकिन इसमें दु:ख नहीं, आनन्द ही है। खादी कोई बीड़ी का बण्डल या लिप्टन की चाय नहीं है; खादी एक विचार है। आग लगानी

हो तो उसमें कुछ देर नहीं लगती ? लेकिन इसके विपरीत अगर गांव बांधना हो तो उसमें कितना समय लगेगा, इसका विचार कीजिए। खादी रचनात्मककार्य है; विध्वंसक नहीं। यह विचार अंग्रेजों के विचारों का शत्रु है। ऐसी दशा में खादी धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है, इसका कोई दुःख नहीं, यह ठीक ही है। पहले जब अपना राज्य था, तब खादी थी ही। लेकिन उस खादी और अबकी खादी में अंतर है। इस समय की खादी में जो विचार है, वह उस समय नहीं था। आज हमें खादी के उपयोग करने का मर्म अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आज की खादी का अर्थ है संसार में प्रचलित प्रवाह के विरुद्ध जाना। यह पानी को ऊंचे चढ़ाना है। अतः जब हम अधिकांश प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल काल—को जीत लेंगे, तब खादी आगे बढ़ेगी। तब वह कहेगी, 'मैं प्रतिकूल काल का संहार करनेवाली हूं।' अपना 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः' वाला विराटस्वरूप वह बतलायगी। इसलिए अगर मिल के कपड़े से उसकी तुलना की गई तो मिलों में ही समाई हुई—मरी हुई—समझी जायगी। इसके विपरीत उसे यह कहना चाहिए कि "मैं मिलों के कपड़े की तरह सस्ती नहीं हूं; मैं महंगी हूं; मैं कीमती हूं; मैं जो विचारशील व्यक्ति हैं उन्हीं को अलंकृत करती हूं; मैं खोके पर बैठने नहीं आई हूं, मुझे तो सिर पर बैठना है।" ऐसी खादी का एकदम प्रचार किस तरह होगा ? वह तो धीरे-धीरे आगे बढ़ेगी। लेकिन जितनी भी आगे बढ़ेगी, मजबूती से बढ़ेगी। खादी प्रचलित विचारों की विरोधी है, इसलिए हमारी गिनती पागलों में होगी। आप विचारपूर्वक इन पागलों की श्रेणी में शामिल होइए। कईएक लोग अधूरी खादी पहनते हैं। इससे किसी का समाधान होता हो तो भले ही हो; लेकिन मैं तो सिर्फ दो ही तरह के आदमी पहचानता हूं—एक जीवित और दूसरे मरे हुए। आधा-जीवित और आधा-मृत मनुष्य मैंने नहीं देखा। अधूरी खादी क्यों बरतते हैं ? खादीवालों पर कोई कृपा न कीजिए। खादी के सम्बन्ध में विचार कीजिए। जबतक वह आपको नहीं पटे तबतक खुशी से अपने यहां

की मिलों का कपड़ा पहनिये। मैं आपको लिखकर दे सकता हूं कि अपने यहां की मिलों का कपड़ा देशी ही है, विदेशी नहीं। इसके सिवा आपको और क्या सबूत चाहिए? बिना विचार के खादी के व्यवहार का कोई अर्थ नहीं। खादी का अर्थ है विचारों का प्रवर्तन।

"मैं अभी जो तीन श्रेणी—(१) किसान, (२) दूसरे धंधे करने वाले और (३) कोई भी धंधा न करनेवाले—बता आया हूं, उन सब प्रामाणिक व्यक्तियों को अन्न देना है। यह करने के लिए तीन शर्तें हैं। सबसे पहली यह कि किसान की व्याख्या बदली जाय। जो व्यक्ति (१) खेती, (२) गोपालन और (३) कातने का काम करता हो, उसे किसान कहा जाय। अन्न, वस्त्र, गाय, बैल, दूध के संबंध में किसान को स्वावलंबी होना चाहिए। दूसरी शर्त यह है कि किसानों की तैयार की हुई सब वस्तुयें दूसरों को महंगे मोल मे लेनी चाहिएं। तीसरी शर्त यह है कि, इनके सिवा किसानों को जो दूसरी चीजें लेनी हों वे उन्हें सस्ती मिलनी चाहिएं। अन्न, वस्त्र, दूध आदि वस्तुयें महंगी, और घड़ी, प्याला आदि चीजें सस्ती होनी चाहिएं। लेकिन हो रहा है इसके विपरीत। दूध महंगा होना चाहिए; किन्तु वह कीमती चीज सस्ती है और प्याला सस्ता होना चाहिए, वह महंगा है। हमको प्याला सस्ता और दूध महंगा हो, ऐसी स्थिति पैदा करनी चाहिए। क्या खादी, दूध और अनाज के सस्ता होने से राष्ट्र सुखी होगा? जिन नौकरों को नियमित रूप से पैसे मिलते हैं उनकी बात छोड़कर जिस देश में ७५ फीसदी किसान हैं, वह देश इन वस्तुओं के सस्ता होने पर सुखी किस तरह होगा? अतः किसानों की पैदा की हुई खादी, दूध, अनाज आदि वस्तुयें महंगी और बाकी की दूसरी वस्तुयें सस्ती होनी चाहिएं।

"लोग मुझसे कहते हैं कि तुम्हारे ये सब व्यवहार उलटे हैं। इस बीसवीं सदी में तुम गांधी वाले लोग यन्त्रों का—मशीनों का—विरोध कर रहे हो। लेकिन मैं जानना चाहता हूं कि क्या तुम अंतर्ज्ञानी हो? हम सब यंत्र-विरोधी हैं, यह तुमने कैसे जाना? हम कहते हैं हम यंत्र वाले ही हैं। यह कोई इतनी सरल बात नहीं है कि तुम एकदम पहचान लो। हम तो तुम्हें हजम कर जानेवाले लोग हैं। मैं कहता हूं, तुमने यंत्रों की ईजाद की

है न ? हमें वे चाहिएं। किसानों की उक्त वस्तुओं के सिवा बाकी की सब चीजें तुम सस्ती करो। तुम अपनी यंत्रविद्या किसानों के धंधों के सिवा दूसरे धंधों पर चलाओ। उन्हें छोड़कर बाकी सब चीजें सस्ती होने दो। लेकिन ऐसा हो नहीं रहा है। उलटे किसानों की चीजें सस्ती, लेकिन इन मशीन के हिमायतियों के पास मशीनें होने पर भी इन सब मशीनों की चीजें महंगी हैं। मैं खादीवाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि आप चकमक से आग जलावें। मुझे भी दियासलाई की डिब्बी चाहिए। किसान को एक पैसे में पांच डिब्बी क्यों नहीं देते ? आपने बिजली पैदा की और कहते हैं कि वह गांवों में होनी चाहिए। तब दीजिए न उन्हें दो पैसे में महीने भर। आप खुशी से यंत्र ईजाद कीजिए; लेकिन उनका उपयोग मैं कहता हूं उस तरह होना चाहिए। केले चार आने दर्जन होना चाहिए और आपके यंत्रों की चीजें एक-दो पैसे में मिलनी चाहिएं। आपको किसान से मक्खन दो रुपये सेर लेना चाहिए। जो यह कहें कि हमें यह पुसाता नहीं है तो किसान को उन्हें जवाब देना चाहिए मैं स्वयं ही वह खाता और खा चुकने के बाद बचा हुआ देता हूं। मुझे बताइए कौनसा किसान ऐसा होगा जो इसका विरोध करेगा ? इसलिए इस खादी का विचार समझना चाहिए। बहुतसों को ऐसा प्रतीत होता है कि खादी महंगी हुई तो काम कैसे चलेगा ? लेकिन किसका? किसानों को खादी खरीदनी ही नहीं है, उन्हें तो बेचनी है। ऐसी दशा में यह खादी उन्हें महंगी नहीं पड़ेगी। वह तो दूसरे लोगों को महंगी लेनी चाहिए।"

वास्तव में महंगी खादी खरीदने में हम किसी पर कोई उपकार कर रहे हों, या वृथा औदार्य दिखा रहे हों, सो बात नहीं है। "अथा तो न्यायारम्भः" इतना ही इसके बारे में कह सकते हैं। पर यह न्यायारम्भ भी बहुत महंगा पड़ता है और नहीं पुसाता, ऐसी आज की परिस्थिति या यों कहिए कि मनःस्थिति है। उसमें फंस कर मजदूरों को अल्प मजदूरी देते रहने में न्याय तो नहीं है, पर व्यवहार भी नहीं है। क्योंकि ऐसा करते रहने में मुक्ति का मार्ग ही रुंध जाता है। इसलिए न्याय से चलना कितना ही महंगा पड़े तो भी न्याय से चलकर मौजूदा परिस्थिति के विरुद्ध बलवा

पुकारने के सिवाय सज्जनों को कोई चारा नहीं है ।

सज्जनता से अर्थात् अहिंसा से बल्वा करने में सब मिलकर एक साथ हो सके या सारे क्षेत्र में जब हो सकेगा तभी बल्वा पुकारा जाय, इसकी गुंजाइश ही नहीं रहती । जिसको सूझ हुई उसने अपने क्षेत्र में, स्थूल परिणामों की परवाह न करते हुए, फौरन श्रीगणेश कर दिया, यह अहिंसा की पद्धति है । मुझे कितने प्रवाह आकर मिलेंगे इसका अन्दाज लगा कर गंगाजी गंगोत्री से नहीं चली हैं । वह हिमालय से शान्त और दृढ़ निश्चय से—सीधी निकल पड़ीं और जिन प्रवाहों से उन्हें मिलना था,वे मिले, जिन्हें नहीं मिलना था, वे नहीं मिले । न मिलने वालों की गङ्गाजी ने कोई परवाह नहीं की । इसीलिए वह प्रवाहित हुई, नहीं तो उद्गम स्थान में ही रुंध गई होती । अहिंसा की प्रणाली उन गंगाजी सरीखी है । इसलिए 'चरखा-संघ' उसके इस दृढ़ निश्चयपूर्वक उठाये हुए कदम के लिए तमाम अहिंसक बागी लोगों के धन्यवाद का पात्र है ।

बगावत का रुख हो तो भी उसकी अपनी कोई पद्धति तो होनी ही चाहिए । उस पद्धति की कुछ बातें इस प्रकार हैं—

१—व्यवस्था-खर्च यथासम्भव कम हो । बिल्कुल ही न हो तो अच्छा । कुछ समय के बाद व्यवस्था खर्च की मद ही उड़ जाय, ऐसी कल्पना कर सकते हैं ।

२—ऐसी परिस्थिति निर्माण होनी चाहिए कि हाथ-कता सूत मिल के सूत की स्पर्धा कर सके, या उससे भी बढ़ा-चढ़ा साबित हो । इस दृष्टि से नादेड़ पद्धति की धुनाई का प्रचार उपयुक्त और आवश्यक है । हलके दर्जे की रुई इस्तैमाल करने की कोरकसर आदरणीय नहीं ।

३—मजदूरों के जीवन में कार्यकर्ताओं का—अर्थात् उनकी भलाई का—प्रवेश होना चाहिए । बढ़ी हुई मजदूरी से कार्यकर्ताओं की भलाई हो, इसका खयाल रखना चाहिए ।

४—चुनीदा स्थानों में खादी-उत्पत्ति केन्द्रित न कर, और यदि जरूरत हो तो कम करके भी, हर जिले में वह फैलाई जाय । ऐसा करने से खादी

में का स्वदेशी-धर्म अधिक उज्ज्वल और प्राणदायी होगा।

५—आजतक चरखे के द्वारा चार-छः पैसे मजदूरी देकर भी चरखा-संघ गंभीरता-पूर्वक कार्य कर रहा था। अब के भावों से तकली पर भी २॥ आने के लगभग मजदूरी पड़ सकती है। इसलिए तकली की ओर भी गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए। उसका लाखों में प्रवेश होकर स्वावलंबन—जो खादी आन्दोलन का अन्तिम ध्येय है—प्रत्यक्ष में सिद्ध हो सकेगा। इसलिए तमाम कार्यकर्ताओं को तकली पर (दोनों हाथों से) नित्य कातने की आदत रखनी चाहिए। इस कातने में यज्ञदृष्टि रहे।

"चरखा-संघ के अथवा तत्सम कार्यकर्ताओं के लिए ये बातें लिखीं। पर बगावत का झंडा चरखा-संघ को सौंपकर, अथवा हम महंगी खादी लेते हैं, इसलिए उतने अंश में हम बागी हैं ही, ऐसा समाधान कर लेना पर्याप्त नहीं है। हरएक खादीधारी व्यक्ति ने, जहां-जहां, उसका मजदूरों से सम्बन्ध आवे, वहां-वहां, मजदूरों को पूरी मजदूरी देकर ही काम कराना चाहिए। ऐसा यदि हम करेंगे तो ही हम अहिंसक बलवे का झंडा फहरा सकेंगे। अन्यथा सिर्फ खादी ही महंगी खरीदकर अन्य मजदूरों से यथासम्भव कम दामों में काम कराते रहने से खादी पहनकर हमने एक प्रकार की, कोरी प्रतिष्ठा ही प्राप्त की, ऐसा हमारे खादी पहनने का आइन्दा के लिए मतलब होगा। अपने व्यक्तिगत जीवन में पूर्ण मजदूरी देने का सिद्धान्त अमल में लाने वाली व्यक्तियां जगह-जगह पर निर्माण होंगी, तभी हम उस अहिंसा के बूते पर सरकार को भी वह सिद्धान्त मान्य करने पर मजबूर कर सकेंगे और राज्य-पद्धति में तथा अर्थ-व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन करा सकेंगे।"

मजदूरी बढ़ाने का प्रस्ताव खादी के सब मजदूरों के लिए हितकर सिद्ध हुआ; इतना ही नहीं भिन्न-भिन्न प्रान्तों के कार्य-कर्त्ताओं को अपने-अपने प्रान्तों के खाद्य-पेय पदार्थों और उनके गुण-धर्म का शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन कर उनके भाव की भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ी और इस दृष्टि से उनके ज्ञान में इतनी और वृद्धि हुई।

अगर यह कहा जाय तो कोई हर्ज नहीं है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों के

खाने-पीने की वस्तुओं के भावों का विचार कर सामान्यतया प्रत्येक प्रान्त में कम-से-कम मजदूरी दो आना से लेकर तीन आने तक ठहरी। आरम्भ में तो कार्यकर्त्ताओं को यह डर लगा कि इस दर-वृद्धि के कारण खादी के भाव में वृद्धि होने से उसकी खपत पर अनिष्ट परिणाम होगा, और दूसरी ओर कातनेवालों की तादाद बढ़ जायगी। लेकिन सौभाग्य से उनका यह डर गलत निकला। मजदूरों की दृष्टि से विचार करने पर बढ़ी हुई मजदूरी का परिणाम भी चाहिए था, उससे भी अच्छा हुआ! बढ़ी हुई मजदूरी से उनकी थोड़ी-सी आर्थिक सहायता हो गई; उनका उत्साह बढ़ा; इतना ही नहीं, नैतिक दृष्टि से उनकी स्वावलम्बन की ओर प्रवृत्ति अधिक बढ़ी।

इस बढ़ी हुई मजदूरी का एक यह महत्त्वपूर्ण लाभ और हुआ। कार्यकर्त्ता के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि मजदूरों को कम-से-कम तीन आने रोज मजदूरी मिलनी ही चाहिए, तब उनका ध्यान साधनों में उन्नति करने की ओर तीव्रता से खिंचा और उस दृष्टि से खादी के उपकरणों में अनेक सूक्ष्म सुधार होगये हैं और मजदूरों की कार्य-क्षमता बढ़ाने का भी प्रयत्न जारी है। मजदूरी की दर बढ़ाने से पहले सब मजदूर ज्यों-त्यों अपना काम पूरा कर देने की धुन में रहते थे। पहले उन्हें उनके काम में किसी तरह का सुधार करने को कहने पर वे उसे सुना-अनसुना कर देते थे; लेकिन अब सुधार को ध्यानपूर्वक अमल में लाने की दिल से कोशिश करते हैं। कातनेवाली स्त्रियों का सूत अब अधिक मजबूत, बटदार और एक-सा आने लगा है। इतना ही नहीं, उनकी कातने की गति भी बढ़ी है। अच्छा चरखा और अच्छी पिंजी हुई रुई की पूनियां दी जाने पर सामान्य कुशल कतवैया एक घण्टे में ४०० गज सूत कात सकता है। यह प्रत्यक्ष देखने में आया है कि बढ़ी हुई मजदूरी के कारण खादी की सब क्रियाओं में स्थायी उन्नति का काफी मौका है। ऐसे चिह्न दिखाई देने लगे हैं कि अगर इस तरह सब क्रियायें कुशलतापूर्वक की जाने लगीं तो मजदूरों को जीवन-वेतन (Living-wage) देने जैसी स्थिति पैदा हो जायगी, जिससे गरीब-से-गरीब मजदूर तक को अपनी कार्यक्षमता के बारे में आत्मविश्वास अनुभव होगा और आगे

चलकर वह अपना जीवन व्यवस्थित रूप से बिता सकेगा। सिर्फ कार्यकर्त्ताओं को यह स्थिति पैदा करने के लिए अधिक उत्साह, दृढ़निश्चय और निष्ठा के साथ इस काम को आगे बढ़ाना चाहिए।

सन् १६३८ के आखिरी मार्च में डेलांग में अखिल भारतीय चरखा-संघ के कार्यवाहक मण्डल की बैठक हुई थी। इस बैठक में महात्माजी ने हृदय-द्रावक भाषण दिया था। उसमें उन्होंने कहा था कि आठ घण्टे तक सन्तोषजनक और कुशल कतवैये को आठ आने मजदूरी दी जानी चाहिए। लेकिन इस सम्बन्ध की अन्य कठिनाइयों का विचार कर मण्डल ने अभी इस आशय का प्रस्ताव किया है कि "खादी-कार्य की प्रगति को धक्का न पहुंचाकर कतवैये को अधिक मजदूरी देने के सम्बन्ध में संघ की भिन्न-भिन्न शाखाओं की ओर से जो योजनायें आवें, मण्डल के अध्यक्ष और मन्त्री को उन सबके स्वीकार करने का अधिकार दिया जाता है।"[१] इस प्रस्ताव के अनुसार महाराष्ट्र चरखा-संघ ने ही एक और कदम आगे रखा था। उस दर से अच्छे-से-अच्छे कातनेवाले के लिए वर्तमान साधनों से ही आठ आने मजदूरी कमा सकने की सम्भावना थी। लेकिन महाराष्ट्र चरखा-संघ को यह कदम परिस्थितिवश पीछे हटाना पड़ा।

अखिल भारतीय चरखा-संघ के कार्य की प्रगति की यह दूसरी सीढ़ी है।

अब अगर दूसरे धन्धों में भी यह आयवृद्धि करनी है तो खादी के धन्धे की तरह उनमें भी इसी तरह के प्रयोग किये जाने चाहियें। प्रत्येक धन्धे के लोग ये प्रयोग किस तरह करें, उसका हिसाब किस तरह रखा जाय और वास्तविक मजदूरी निकालने का नियमानुसार ज्ञान उन-उन धन्धों के लोगों को प्राप्त कर लेना चाहिए।

अनुभव यह है कि देश में प्रत्येक १०० व्यक्तियों में से सामान्यतः ४० व्यक्ति प्रत्यक्ष काम के लिए उपलब्ध हो सकते हैं। तदनुसार एक व्यक्ति को कई व्यक्तियों का पेट भर सकने जितनी मजदूरी दी जानी चाहिए। इसके सिवा प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे कामों के लिए कुछ दिनों की छुट्टी

१. अखिल भारतीय चरखा-संघ का वार्षिक विवरण सन् १६३०

की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर २५ दिन काम करने पर ३० दिन की मजदूरी दी जानी चाहिए। तभी मजदूर को पूरी मजदूरी दी गई समझना चाहिए। मजदूर को प्रतिदिन आठ घण्टे उत्पादक काम करना चाहिए। प्रत्येक धन्धे में, प्रत्येक घन्टे में मनुष्य किस हद तक और किस दर्जे का काम कर सकता है, यह प्रयोग करके निश्चित कर लेना चाहिए और उनके अनुसार आठ घण्टे की मजदूरी का हिसाब करना चाहिए।

मजदूरी बहुतांश में चीजों के रूप में दी जानी चाहिए। ऊपरी खर्च के लिए कुछ पैसे नकद भी देना चाहिए। सिर्फ पैसा देने से उसके दुरुपयोग होने अथवा अन्न वस्त्रादि की प्राथमिक आवश्यकताओं के सिवा दूसरी बातों पर खर्च हो जाने की संभावना रहती है। अतः ऐसा नहीं होने देना चाहिए।

भिन्न-भिन्न धन्धों में लगे हुए मजदूरों को जीवन-वेतन देकर उनमें जागृति पैदा करनी हो तो कार्यकर्ताओं के सामने यह एक भारी प्रयोग-क्षेत्र और कार्य-क्षेत्र है।

जो शिक्षा-पद्धति उद्योग के साथ-साथ ज्ञान का सुझाव करती है, उसके अनुसार भी ऐसे प्रयोग की काफी गुंजाइश है।

: १८ :

चरखा-संघ का नव-संस्करण

कातो, समझ-बूझ कर कातो। कातें वे खद्दर पहनें। पहनें वे जरूर कातें।

(१) समझ-बूझ कर के मानी हैं कि चरखा यानी कताई अहिंसा का प्रतीक है। गौर करो, प्रत्यक्ष होगा।

(२) कातने के मानी हैं, कपास खेत से चुनना, बिनौले बेलन से निकालना, रुई तुनना, पूनी बनाना, सूत मनमाना अंक का निकालना, और दुबटा कर परेतना।

—१९४५ के राष्ट्रीय सप्ताह पर दिया गया गांधीजी का संदेश।

चरखा-संघ ने पिछले २० साल में सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से २६ लाख की अपनी थोड़ी-सी पूंजी से, ४।। करोड़ रुपए मजदूरी के रूप में गरीबों को दिये और जनता की यथाशक्ति सेवा की; जीवन-वेतन के सिद्धान्त को अमली जामा पहनाया। परन्तु फिर भी महात्माजीका 'चरखे से स्वराज्य' का दावा चरखा-संघ साबित न कर सका। स्वराज्य के योग्य सद्‌गुणों का विकास देहात में खादी के द्वारा करके जनता में से नये नेतृत्व को मूर्तिमान करने का कार्य—अहिंसक समाज निर्माण करने का गांधीजी का उद्देश्य—अधूरा ही रह गया। बल्कि १९४२ के आन्दोलन ने तो उलटा यह दिखा दिया कि चरखा-संघ जो कुछ कार्य कर रहा है वह भी सरकार की मर्जी पर चल रहा है। 'भारत छोड़ो' नारे के जन्मदाता को यह कैसे सहन हो सकता था? यदि चरखा-संघ पर वार किया जाय तो क्या चरखा-संघ मर जाय? इसलिए १९४४ में, जेल से छूटने पर, गांधीजी ने चरखा-संघ के कार्य की बुनियाद ही बदल डाली। चरखा अहिंसक समाज-रचना का प्रतीक निश्चित होगया। परन्तु उसे गांधीजी

के ही शब्दों में पढ़ना ठीक रहेगा। अतः १ सितम्बर १९४४ में हुई चरखा-संघ की सभा में उन्होंने जो अपना हृदय खोला व मार्ग-दर्शन कराया वह ज्यों-का-त्यों यहां दिया जाता है—

सरकारी दमन

"इन दो वर्षों में देश को किस परिस्थिति से गुजरना पड़ा इसे अब मैं जान पाया हूं। एक युग की घटनाएं इन दो वर्षों में एकत्रित हुई-सी दिखाई देती हैं। संपूर्ण देश एक अकंथ यातना से गुजर रहा था, उसमें चरखा-संघ कैसे छूट सकता था। सरकारी दमन के डर से वह अपने कर्तव्य से कैसे विचलित हो सकता था? अगर वह अपने कर्तव्य से पीछे हटता, तो वह मेरे लिए अत्यंत दुःख की बात होती। मैंने चरखा-संघ को जानबूझ कर राजनीति से अलग रखा। मुझे आशा थी कि इससे देश में चाहे कुछ हो, उसका चरखा-संघ पर असर न होगा। लेकिन यह आशा झूठी ठहरी। चरखा संघ पर अपना प्रबल दमनचक्र चलाने में सरकार ने कुछ भी उठा न रखा।

कारावास के दिनों में मैंने चरखा और चरख-संघ के बारे में काफी विचार किया। चाहने पर सरकार चरखा-संघ को नष्ट कर सकती है, इस वास्तविकता से मैं आहत हुआ। सरकार की दया पर जीवित रहना मैं नहीं चाहता। ईश्वर के सिवा और किसी की मुझे दया नहीं चाहिए। ऐसी परिस्थिति में क्या यह अच्छा नहीं होगा कि मैं खुद ही चरखा-संघ को तोड़ दूं और उसकी जायदाद ग्रामीणों में बांट दूं।

चरखा-संघ की असमर्थता

हिन्दुस्तान को अगर एक अहिंसक राष्ट्र बनना है तो वह सिर्फ चरखा और उसके सहकारी सिद्धान्तों के द्वारा ही हो सकता है। इस दृढ़ विश्वास से ही चरखा-संघ का निर्माण हुआ है। अगर हिन्दुस्तान अहिंसा यानी चरखे के द्वारा पूर्ण स्वराज प्राप्त कर सका तो उससे सारे विश्व का कल्याण हो सकेगा। चरखा स्वाधीनता का साधन है, सिर्फ भाषा से मैं हिन्दुस्तान को समझा नहीं सकता, इसलिए अपन विचारों को अमली रूप देने के लिए मैंने

चरखा-संघ की स्थापना की। मुझे आशा थी कि चरखा-संघ के द्वारा प्रत्येक देहात और प्रत्येक घर में चरखे का संदेश पहुंचाया जायगा और इस तरह अहिंसक समाज की बुनियाद चरखा कैसे हो सकता है, यह दुनिया को दिखा दिया जायगा। लेकिन पिछले कुछ सालों में जो कुछ हुआ, उससे मुझे प्रतीत होता है कि उस उद्देश्य की पूर्ति करने में चरखा-संघ असमर्थ रहा है। प्रत्येक घर की बात छोड़ दें तो भी चरखा अभी तक सब देहातों में भी नहीं पहुंच सका है।

इन सारी बातों से मैं गहरे सोच में पड़ा। चरखा-संघ क्यों सफल न हो सका? तुरन्त अपने उद्देश्य को प्राप्त करना हो तो उसमें कौन से परिवर्त्तन करने की आवश्यकता है? अगर वह हिन्दुस्तान के ७ लाख देहातों में पहुंचा होता, तो कौन सी ऐसी शक्ति है जो उसे दबा सके? ४० करोड़ स्त्री-पुरुषों को सरकार जेल में बन्द नहीं कर सकती, और न वह इन सबको गोली से उड़ा ही सकती है। मान लें कि ४० करोड़ में से १ करोड़ लोगों को उड़ा दिया जाता तो भी उससे ध्येय की तरफ हमारी प्रगति रुक नहीं सकती, उल्टे वह अधिक तेजी से आगे बढ़ती।

चरखा-संघ अपने कार्य में अगर सफल होता—जैसा कि उसे होना चाहिए—तो उससे अपने आप स्वराज आ जाता, उससे जरूरी अहिंसक शक्ति का निर्माण होता और जनता के उत्साह को योग्य रास्ता दिखाकर उसे वह आगे बढ़ाता। फिर निराशा और विफलता के बदले प्रत्येक भारतीय हृदय में नई आशा का संचार होता।

अहिंसा का प्रतीक

चरखा जीवन का संपूर्ण तत्त्वज्ञान है। वह अहिंसा का जीवित प्रतीक है। किसी तरह के शोषण से सर्वथा मुक्त अहिंसक समाज की रचना करना इसका उद्देश्य है। यदि हिन्दुस्तान के ७ लाख देहातों में यह जागृति पैदा हो जाती तो संपूर्ण हिंदुस्तान की स्वाधीनता हम प्राप्त किये होते।

मुझ पर श्रद्धा होने के कारण बहुतों ने चरखे को अपनाया। श्रद्धा अच्छी चीज है। लेकिन मैं चाहता हूं कि ज्ञान के साथ वह संबद्ध रहे, जिससे

नास्तिकों के सामने भी वह टिक सके। पूर्ण श्रद्धा बुद्धि को तेजस्वी करती है। अगर आप अहिंसा की शक्ति और कार्य को समझ सकें, अगर मेरे समान अहिंसा में आपका दृढ़ विश्वास हो तो विश्व में वह सब से बड़ा कार्यकारी शक्ति का स्रोत साबित होगा। उस हालत में कोई शिथिल कैसे रह सकता है? प्रकाश के सामने अंधकार कैसे खड़ा रह सकता है? इसलिए चरखा-संघ को मेरी अपेक्षा पूरी करनी हो तो उसके कार्यकर्ता अहिंसा के जीवित उदाहरण बनने चाहिएं। उनका संपूर्ण जीवन अहिंसा का क्रियात्मक प्रदर्शन होना चाहिये। उनका शरीर स्वस्थ और मन निर्मल होना चाहिए। अगर इस तरह वे हो जांय तो देहाती लोग चरखे को अत्यंत उत्साह से अपनायेंगे और सूर्य निकलते ही कुहरा जिस तरह भाग जाता है, उस तरह जातीय वैमनस्य, अस्पृश्यता आदि बातें अपने आप दूर हो जांयगी।

यह कठिन कार्य है

मैं स्वयं इसमें पूरी सफलता प्राप्त नहीं कर सका। सेवाग्राम में रहते मुझे छः से भी अधिक वर्ष हुए। आश्रम से ग्रामीण लोगों को कुछ आर्थिक मदद मिली, उसने यथाशक्ति लोगों की सब तरह की सेवा की, इतना होने पर भी हम हर एक घर में चरखे को दाखिल नहीं कर सके। यह क्यों? क्या चरखे में मेरा विश्वास नहीं था? मैं ऐसा नहीं समझता। मेरा विश्वास कभी धुंधला नहीं हुआ। अगर उसे हम अमल में नहीं ला सके तो इसका एक मात्र कारण मेरी और मेरे सहकारियों की अपूर्णताएं ही हो सकती हैं।

देहातों में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को देहाती लोगों के संपूर्ण जीवन में प्रवेश करना चाहिए और सब तरह से उनकी सेवा, उनकी मदद और उनका मार्ग-दर्शन करना चाहिए। इससे वे लोगों का विश्वास प्राप्त कर सकेंगे और लोगों के जीवन को इस तरह गढ़ सकेंगे कि जिससे अहिंसक समाज की बुनियाद डाली जा सके।

या मुझे अकेला छोड़ दें!

मेरा उद्देश्य, आपको दोष देना नहीं है, वस्तुस्थिति का भान मैं आपको कराना चाहता हूं। इसमें शक नहीं की संघ ने लोकोपकार का

प्रचण्ड काम किया है। दुनिया में वह सबसे बड़ी सहकारी संस्था है। संघ नें अपनी २५ लाख की पूंजी से ४½ करोड़ रुपया गरीबों को रोजी के रूप में दिया है। लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं। संघ के पास त्यागी कार्यकर्ताओं की कमी नहीं। यह देखकर मेरा हृदय खुशी से फूल उठता है कि मातृभूमि के चरणों पर अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए स्वेच्छा से त्यागी स्त्री-पुरुष कार्यकर्ता आज हमारे पास तैयार हैं। ऐसे लोगों को पैदा करने वाला राष्ट्र कभी दुःखी नहीं रह सकता। मैं जानता हूं, स्वराज आरहा है—और वह भी जल्दी। लेकिन सवाल यह है कि इसमें चरखा-संघ का कितना हिस्सा रहेगा ?

यह सच है कि मैंने अभीतक 'चरखा अहिंसा का प्रतीक है' इस बात पर इतना जोर नहीं दिया था। लेकिन अब तक की गलती दुरुस्त करना जितना जल्दी होसके उतना ही अच्छा। यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यांत्रिक औद्योगीकरण से स्वतंत्र हिन्दुस्तान में समता और शान्ति प्रस्थापित करना नामुमकिन है। इस तरह की स्वतंत्रता से हिन्दुस्तान के ४० करोड़ लोगों के लिए सुख और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसे समाज में बहुतों के शोषण से ही थोड़े लोगों की सम्पन्नता खड़ी होगी। निम्नतम लोगों को शक्ति और आनंद देनेवाला स्वराज केवल अहिंसा से, चरखे से ही प्राप्त हो सकता है। इस उद्देश्य को अमल में लाने में संघ को मेरा पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा। लेकिन इसके लिए तैयारी न हो तो संघ अपना लोकोपकारी कार्य पूर्ववत् चलाये और मुझे अकेला अपना काम करने दे।"

इस दृष्टि से महात्माजी ने निम्नलिखित सुझाव संघ के सामने विचारार्थ रखे।

"१. चरखे को कल्पना की जड़ देहात है और चरखा-संघ की कामनापूर्ति उसके देहात में विभक्त होने में है। इस ध्येय को खयाल में रखते हुए चरखा-संघ की यह सभा इस निर्णय पर आती है कि कार्य की प्रणाली में निम्न लिखित परिवर्तन किये जांय—

(अ) जितने कार्यकर्ता तैयार हों और जिनको संघ पसंद करे, वे देहातों में जांय।

(आ) बिक्री भंडार और उत्पत्ति केन्द्र मर्यादित किये जांय।

(इ) जो शिक्षालय हैं उन्हें विस्तृतरूप दिया जाय, और अभ्यास-क्रम बढ़ाया जाय।

(ई) जो सूबा या जिला स्वतंत्र और स्वावलंबी होना चाहे, उसे यदि संघ स्वीकार करे तो, स्वतंत्रता दी जाय।

२. चरखा-संघ, ग्राम-उद्योग-संघ और हिन्दुस्तानी तालीमी-संघ की एक स्थायी समिति नियत हो, जो नई पद्धति के अनुकूल आवश्यक सूचना निकाला करे। तीनों संस्थाएं समझें कि उनपर पूर्ण अहिंसा को प्रकट करना निर्भर है। इसके सपूर्ण विकास में पूर्ण स्वराज छिपा है।

तीनों संस्थाओं का ज्ञान एसा होना चाहिए कि सारा राजकारण उन पर अवलंबित रहे न कि वे प्रचलित राजकारण पर अवलंबित रहें। यह स्वयं-सिद्ध लगना चाहिए।

इसका निचोड़ यह माना जाय कि इन तीनों संस्थाओं के कार्यकर्ता स्थितप्रज्ञ-से होने चाहिएं। अगर यह संभव न हो तो हमारी कार्यरेखा बदलनी चाहिए। हमारा आदर्श नीचे जाना चाहिए। आज हमारी हालत विचित्र-सी मालूम होती है।"

परंतु समयाभाव के कारण उसपर थोड़ी चर्चा हुई और अधिक चर्चा होने की जरूरत समझकर, उस विषय में कोई निर्णय नहीं किया जा सका। बाद में चरखा-संघ के मंत्री श्री जाजूजी ने पू० गांधीजी से इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के विषय में चर्चा की।

नव-संस्करण की दृष्टि

खादी के संबंध में रखी गई आशाओं में कहां तक सफलता मिली है, इसका सिंहावलोकन करके भविष्य की नीति निश्चित करना अब आवश्यक जान पड़ता है। आरंभ से ही खादी का उद्देश्य गरीब बेकारों को सहायता देने के साथ-साथ स्वराज्य-प्राप्ति के योग्य गुणों का विकास करना भी था।

चरखा-संघ के प्रयत्न से गरीबों को कुछ सहायता मिली, परन्तु बहुत मर्यादित। यह नहीं जान पड़ता कि वर्तमान परिस्थिति में हम उस दिशा में एकदम आगे बढ़ सकेंगे। एकबारगी खादी की उत्पत्ति बढ़ाने में कई दिक्कतें है। उत्पत्ति बढ़ जाय तो भी मिल के कपड़े के मुकाबले में बिक्री की अड़चन रहती है पूंजी की भी दिक्कत है। एकाएक काम को बहुत अधिक बढ़ाने के लिए जैसे-तैसे कार्यकर्ताओं से ही काम चलाना पड़ता है। वे ज्यों-त्यों हमारे व्यापारिक कामों में तो मदद देते हैं, किन्तु खादी की नीति को सुशोभित नहीं कर पाते। चरखा अहिंसा का प्रतीक है इसका प्रचार अधिकतर खादी-कार्यकर्ताओं के निज के आचरण पर निर्भर है। केवल व्यापारिक बुद्धि से काम करने वाले कार्यकर्ता खादी-सिद्धांत को हानि पहुंचाकर अन्त में हमारे उद्देश्य की पूर्ति में बाधक बनते हैं। अतः हम खादी की उत्पत्ति और बिक्री का काम आज की दशा में बहुत अधिक नहीं बढ़ा सकते। अतः हमको इसका परिणाम बढ़ाने का मोह छोड़ देना चाहिए। जान पड़ता है कि हमारे पूर्ण प्रयत्न करने पर भी खादी की उत्पत्ति और बिक्री में वार्षिक पच्चीस प्रतिशत से अधिक वृद्धि नहीं हो सकती। पूंजी अधिक मिल जाने पर इतने की ही संभावना जान पड़ती है।

वस्त्र-स्वावलम्बन की दृष्टि से भी बहुत थोड़ा काम हो पाया है। खास चरखा-संघ के कार्यकर्ताओं में, जिनसे संघ ने अपेक्षा की है कि वे नियमपूर्वक हर मास ७॥ गुण्डी कातें, थोड़े ही लोग ऐसे कातने वाले पाये गये। मजदूरी के लिए न कातकर केवल अपने कपड़ों के लिए ही कातने वालों की भी संख्या थोड़ी ही है। मजदूर वर्ग को, जो केवल मजदूरी के लाभ से कातता है और जिन्हें उनकी मजदूरी का कुछ अंश कपड़े के रूप में दिया जाता है, वस्त्रस्वावलंबियों में गिनना गलत होगा। कारण, उनका वह खादी पहनना स्वयं अपनी खुशी से नहीं है, कताई के स्वावलंबन गुण को समझकर तो बिलकुल नहीं है। स्वावलंबी कताई अधिक न बढ़ने का बड़ा कारण तो यह दीखता है कि उसमें आर्थिक बचत इतनी कम होती है कि उतने

अर्थलाभ की दृष्टि से दीर्घकाल तक परिश्रम करने के लिए गरीब और बेकार लोग भी तैयार नहीं हैं।

उपर्युक्त बातें सही हों तो हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि वर्तमान परिस्थिति में गरीब बेकारों को सहायता देने की दृष्टि से,भी तथा वस्त्र-स्वावलंबन की दृष्टि से भी, हम बहुत अधिक वृद्धि नहीं कर सकते हैं। खादी-कार्य के आरम्भ काल में हमने बड़े पैमाने पर गरीबों को आर्थिक सहायता पहुंचाने तथा व्यापक वस्त्र-स्वावलम्बन की आशा रखी थी। खादी ने किसानों को सहायता तथा गरीबों को अवकाश के लिए काम के रूपमें अपना जो दावा सिद्ध किया है, वह आगे स्थिर रहने पर वर्तमान परिस्थिति मे हम उसका विशेष विस्तार नहीं कर सकते हैं। हमको अपनी यह मर्यादा समझ रखनी चाहिये।

आर्थिक दृष्टि से उपर्युक्त परिस्थिति होते हुए भी यह साफ है कि यदि वस्त्र-स्वावलम्बन का या सद्‌गुणों के विकास का अर्थात् चरखे के अहिंसा का प्रतीक होने का खादी का दावा सिद्ध न हो सका तो हम इस अहिंसक मार्ग से स्वराज्य-प्राप्ति की आशा छोड़नी पड़ेगी और अहिंसक समाज-रचना भी दुर्लभ होगी।

अब तक हम शहरों में बेचने के लिए खादी की उत्पत्ति करते रहे। यदि अब खादी का विकास सही रास्ते पर करना हो तो इसे अनिष्ट मानना होगा। मतलब,भविष्य में खादी-उत्पत्ति या कताई वस्त्र-स्वालम्बन की दृष्टि से ही होनी चाहिए। वस्त्र-स्वालम्बन का काम भी भविष्य में आर्थिक लाभ के लोभ से न चलाकर, स्वावलम्बन, उद्यमशीलता, सारे देहात तथा राष्ट्र के कल्याण, पारस्परिक सहयोग-वृद्धि और सत्य आदि गुणों के विकास आदि दृष्टियों से चलाना होगा।

अब तक खादी के उद्योग पर जितना जोर दिया गया है उतना अन्य ग्रामोद्योगों पर नहीं दिया गया। हमने शायद खादी की ठीक मर्यादा नहीं समझी और मान लिया कि केवल खादी से सब काम सफल हो जांयगे। किन्तु अब अन्य ग्रामोद्योगों को भी पूरा महत्त्व देना होगा। हमने गाय-बैलों

के प्रश्न की ओर ध्यान ही नहीं दिया। खेती के काम को तो जान-बूझकर अलग रखा। सफाई, स्वास्थ्य, खान-पान आदि मे भी काफी जोर देकर आगे बढ़ने को कोशिश नहीं की। मालूम होता है यहां हम गलती पर थे। इसको अब सुधारना चाहिए। देहात का सारा जीवन एक ही है, और उस समूचे जीवन को ऊंचा उठाना है। खादी तथा वस्त्र-स्वावलम्बन का काम सम्पूर्ण देहात के उत्थान का अंगभूत समझा जाकर चलना चाहिए। हमारी इस देहात की सम्पूर्ण सेवा में देहात का अर्थलाभ भी आ ही जायगा। इस प्रकार यद्यपि कताई की मजदूरी का लाभ उनको कम मिलेगा, वस्त्र-स्वालम्बन में भी अधिक बचत न होगी, पर उनका खान-पान तथा स्वास्थ्य सुधरता है, आपस का सहयोग बढ़ता है, गाय, बैल, खेती सुधरती है, तेलघानी आदि अनेक उद्योग चलते हैं, वे उद्यमशील बनते हैं, तो अन्त में अनेक प्रकार से उनका लाभ ही होगा। अब हमारे सामने देहात की सम्पूर्ण सेवा का काम तीव्र रूप से रहना चाहिए।

उक्त विचारों को व्यवहार में लाने के लिए हमें देहात में योग्य कार्यकर्त्ताओं को रखना होगा। उनको हमारे विद्यालयों में उपयुक्त शिक्षा लेनी होगी। कार्यकर्ताओं को निम्नलिखित विषयों की जानकारी होनी आवश्यक है और यथासम्भव एक ही कार्यकर्ता को यह सब जानकारी हो तो अच्छा है।

१—उसको मातृभाषा के सिवा प्रांतीय तथा राष्ट्र-भाषा का ज्ञान होना चाहिए। २—देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दशा का ज्ञान होना चाहिए। कुछ-कुछ दुनिया की हालत का भी। तभी उसे यह पता चलेगा कि भारतवर्ष कहां है और उसे कहां जाना है। ३—फिर वह जहां जाकर बैठे वहां की परिस्थिति का तो उसे ब्योरेवार ज्ञान चाहिए ही। ४—संघ की खादी की प्रथम परीक्षा का पूरा ज्ञान, चरखा दुरुस्ती जितना बढ़ई का काम, अन्य देहाती काम—जैसे कि तेलघानी और हाथ-कागज, आटे की हाथचक्की तथा धानचक्की, खेती तथा गाय-बैल, गांव की सफाई, स्वास्थ्य तथा आहार-सम्बन्धी ज्ञान। कुछ कपड़ा सीने का भी।

इन व्यावहारिक गुणों के साथ कार्यकर्ता को पूरा नीतिमान तो होना

ही चाहिए । वह कितना ही कुशल हो पर नीतिमान न हो तो हमारे काम नही आ सकता ।

सोचा यह जाता है कि ऐसे सुयोग्य कार्यकर्ता को देहात में जाकर बैठना चाहिए । जितने क्षेत्र में उसकी काम कर सकने की शक्ति हो उतने आस-पास के क्षेत्र में काम करे । उस पर परिवार का बोझ अधिक न हो । उसके निर्वाह के लिए आर्थिक सहायता चरखा-संघ से मिले । पर यह नहीं कि काम वह केवल खादी का करे, बल्कि देहात की पूर्ण सेवा करे । निर्वाह व्यय उसे अवलम्बित परिवार की संख्याके अनुसार मिले । आजकल की मंहगाई के हिसाब से परिवार-संख्या के अनुसार ३०) मासिक से लगाकर १००) मासिक तक निर्वाह व्यय मिले । पर १००) से अधिक नहीं । कार्यकर्ता पांच वर्ष में पूर्ण स्वावलम्बी बन जाय । अर्थात् प्रथम वर्ष के बाद हर वर्ष उसके निर्वाह की सहायता बीस प्रतिशत कम कर दी जाय । उसे अपनी सब जरूरतों के लिए, सफर खर्च के लिए भी, स्वतन्त्र रूप से प्रबंध कर लेना होगा । उसे अपने उद्योग आदि चलाने के लिए भी संघ से पूंजी नहीं दी जायगी । उसे स्वयं ही अपनी सब साधन-सामग्री जुटा लेनी होगी । जितने सुयोग्य कार्यकर्ता मिलें उतने ही केंद्र चलाये जांय । विस्तार का मोह न रखा जाय । अयोग्य कार्यकर्ताओं से काम लेने में हानि होगी ।

उपर्युक्त विचारों की दृष्टि से भविष्य में खादी के काम का स्वरूप यह रहेगा कि व्यापारियों को उत्पत्ति-बिक्री के प्रमाणपत्र देने का काम बंद किया जाय । खादी के व्यापारिक काम में तीन बातों की ओर ध्यान देना बहुत आवश्यक है ।

(१) खादी की शुद्धता अर्थात् उसमें मिल के सूत का मिश्रण न हो ।

(२) जो मजदूरी के लिए कातते हैं उनको जीवन-निर्वाह की मजदूरी मिले ।

(३) मुनाफा न हो ।

यह सब काम व्यापक रूप से प्रमाणित व्यापार के द्वारा सिद्ध होना असंभव-सा लगता है । चरखा-संघ के आज के उत्पत्ति-केंद्रों व बिक्री-

भंडारों के रूप भी बदल जायंगे। उत्पत्ति बिक्री के लिए न कराई जाय और बिक्री नकद से न हो। उत्पत्ति-केंद्रों में, उनके आस-पास अथवा शहरों के भंडारों में भी, जो खादी बेची जाय उसके एवज में कुछ नकदी और कुछ हाथ कता सूत लिया जाय। खादी अथवा ग्राम-उद्योग का माल (ग्राम-सेवा केंद्रों में या आस-पास बननेवाला) केंद्र में या केंद्र के आस-पास अधिक-से-अधिक जिले भर में ही बिक जाना चाहिए। ग्राम सेवा-केंद्र में खादी का बहुतेरा काम वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए ही होना चाहिए। थोड़ा-सा, सूत के बदले में बिक्री के लिए भी हो सकता है। यह नहीं कि ऊपर की सारी व्यवस्था हमें तुरन्त ही करा लेनी है। पर अब हमारी कार्य-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि हम निश्चित रूप से उधर बढ़ें और शीघ्र-से-शीघ्र इस व्यवस्था को व्यवहार में लाया जा सके।

देहात में सूत के बदले खादी देना वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए विशेष सहायक होगा। जिसके घर में कपास है वह तुनाई करके सूत तैयार कर ले तो उसे खादी प्राप्त करने में नकद पैसा खर्च नहीं करना पड़ेगा, खादी के मूल्य में बुनाई की मजदूरी भर के लिए उसे अधिक सूत अवश्य देना पड़ेगा, पर नकद पैसे देने की जरूरत न रह जायगी, इसलिए वह उसे नहीं अखरेगा।

काम का यह जो विकेन्द्रीकरण होगा वह देहात में ट्रस्टी के नाते स्वयं कार्यकर्ता द्वारा, अथवा देहात के सेवाभावी व उत्साही व्यक्तियों की समिति द्वारा, अथवा कीर्त्तन आदि की सहयोग-समिति बनाकर। परंतु इस प्रकार बनी हुई चीजें बाहर अथवा दूर भेजकर बेचने के लिए न होकर वहां ही तथा आस-पास के इस्तेमाल के लिए होनी चाहिएं। विकेन्द्रीकरण देहात से शुरू हो, आवश्यकतानुसार अधिक क्षेत्र में बढ़ाया जाय। उसकी आखिरी इकाई जिले से अधिक नहीं होनी चाहिए।

खादी के बदले में मिले हुए सूत के बुनवाने के प्रबन्ध का काम चरखा-संघ को कुछ समय तक करते रहने की जरूरत होगी। देहात में जगह-जगह मौजूदा बुनकरों से काम लेना होगा और नये बुनकर भी तैयार करने पड़ेंगे।

इसलिए कि अब देहात की समग्र सेवा की ओर ध्यान देना है, चरखा-

संघ, ग्रामोद्योगसंघ तालिमीसंघ, हरिजनसेवकसंघ और गोसेवासंघ, इन पांच संघों के अधिकारियों अथवा प्रतिनिधियों की एक सम्मिलित समिति बननी चाहिए। वह समिति देहात में, प्रत्यक्ष कोई कारोबार अर्थात् कार्य न करे। परन्तु समय-समयपर बैठकर देहात के काम की सब दिशाओं में कैसे सहायता पहुंचाई जा सकती है तथा भिन्न-भिन्न संघों के कार्यों द्वारा एक-दूसरेके लिए कैसे पूरक बन सकते हैं, इसका विचार करते हुए मार्गदर्शन करे।

चरखा-संघ के निर्णय

चरखा-संघका उपर्युक्त सारांश परिपत्र रूप में चरखा-संघ की सब प्रांतीय शाखाओं तथा प्रमुख खादी कार्यकर्ताओं को विचारार्थ भेजा गया था। जिनमें से बहुतेरे भाई-बहिनों ने उसका गंभीर तथा सूक्ष्म अध्ययन करके अपने विचार और उपर्युक्त सूचनाएं हमारे पास भेजीं। बाद में इस विषय का निश्चय करने के लिए ता० १, २ व ३ दिसम्बर १९४४ को सेवाग्राम में चरखा-संघ के ट्रस्टी मण्डल तथा उपर्युक्त सज्जनों की सभा पूज्य गांधीजी की अध्यक्षता में हुई। उसमें नीचे लिखे प्रस्ताव मंजूर किये गये—

चरखे की जड़ देहात है और चरखा-संघ की पूर्ण कामना-पूर्ति देहातों तक विभक्त होकर देहात की समग्र सेवा करने में है। इस ध्येय को खयाल में रखते हुए चरखा-संघकी यह सभा इस निर्णय पर आती है कि संघ की कार्य-प्रणाली में निम्नलिखित परिवर्त्तन किये जांय।

(१) जितने सुयोग्य कार्यकर्ता तैयार हों और जिनको संघ पसन्द करे वे देहातों में जांय।

(२) बिक्री-भंडार व उत्पत्ति-केंद्र मर्यादित किये जायं।

(३) शिक्षालयों में आवश्यक परिवर्तन तथा परिवर्धन किये जायं तथा नये शिक्षालय खोले जायं।

(४) इतने क्षेत्र वाले जो कि एक जिले से अधिक न हों, यदि नई योजना के अनुसार काम करने के लिए स्वावलम्बी होना चाहें और उन्हें यदि संघ स्वीकार करे तो उतने क्षेत्र में चरखा-संघ अपनी ओर से काम न

करे और जबतक वहां काम चरखा-संघ की नीति के अनुसार चले, उसको मान्यता और नैतिक बल दे।

(५) चरखा-संघ, ग्रामोद्योग संघ, हिन्दुस्तानी तालिमी संघ, गोसेवा संघ और हरिजनसेवकसंघ, इन संघों की एक सम्मिलित समिति बनाई जाय, जो समय-समय पर इकट्ठी होकर नई कार्य-प्रणाली के अनुसार आवश्यक सूचनाएं निकाला करे।

चरखा-संघ की इस नई कार्य-प्रणाली को सफल बनाने के लिए आवश्यक था कि बेचने के लिए सूत व खादी कम-से-कम बने, कताई का काम व्यापक हो, सूत व खादी दूर-दूर तक कम-से-कम भेजी जाय, तथा खादी पहनना चाहनेवाले स्वयं भी अवश्य कातें। इसलिए यह जरूरी था कि खादी की बिक्री केवल नगदी से न होकर उसके मूल्य का कुछ अंश सूत में देना अनिवार्य किया जाय। इसलिए चरखा-संघ ने निश्चय किया जिससे तारीख १ जुलाई १९४५ से सूती खादी केवल उन्हीं को बेची जारही है जो खादी के मूल्य के नकद दाम में रुपये पीछे समय-समय पर निश्चित की गई मात्रा में अच्छा सूत, खुद का या परिवार में या मित्रों द्वारा या आस-पास में कता हुआ देता है।

इससे चरखा-संघ के नव-संस्करण की भूमिका स्पष्ट रूप से समझ में आ सकेगी। पूज्य गांधीजी कहते हैं कि चरखा अहिंसा का प्रतीक है, वह यह भी कहते आये हैं कि सूत में स्वराज्य छिपा है। यहां अहिंसा शब्द केवल अहिंसा के लिए ही नहीं, किंतु वह उन सब गुणों का सूचक है कि जिनसे हम में शुद्धि आवे और हम स्वराज्य प्राप्त करने योग्य हों। गिनने पर इन गुणों की नामावली बहुत लम्बी हो सकती है, उन सब का उल्लेख हम केवल अहिंसा के नाम से भी कर सकते हैं। साथ ही यह भी सही है कि केवल अहिंसा का सही विकास हो जाय तो अन्य गुणों का भी उसमें विकास हो ही जाता है। इनमें से प्रधान गुणों के बारे में श्री विनोबाजी ने मराठी भाषा में नीचे लिखा श्लोक बनाया है, जो आश्रमवासियों की प्रार्थना में हर रोज गाया जाता है—

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन ।
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चयें ॥

इन गुणों के विकास से व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन शुद्ध, संपूर्ण होता है। इनके अभाव में विपरीत स्थिति रहती है। अहिंसा शब्द हमारी जबान पर आने लगा है, परन्तु वह हृदय तक कदाचित ही पहुंचता है। अन्य गुण जबान पर भी कदाचित् आते हैं। पू० गांधी जी ने सत्य और अहिंसा के बारे में बतलाया है कि ये एक ही सिक्के की दो पीठें हैं। अहिंसा शब्द चल पड़ा है, सत्य का क्वचित् ही स्मरण होता है। उसी प्रकार अन्य गुणों का भी। ऐसा लगता है कि चरखा अहिंसा का प्रतीक है, कहने के बदले, वह सत्य और अहिंसा का प्रतीक है, कहने से हमारी दृष्टि शायद अधिक साफ हो। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इन दोनों गुणों में अन्य गुण भी शामिल हैं।

कातने का काम करने वाले कई प्रकार के व्यक्ति हैं। मजदूरी के लिए कातनेवाले, अकाल आदि संकट के समय कातनेवाले, वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए कातनेवाले, बुनियादी तालीम में कातनेवाले और यज्ञरूप में कातने वाले। यदि चरखा-संघ की दृष्टि से चरखे को सत्य और अहिंसा का प्रतीक बनना हो तो इन कातने वालों को तथा खादी पहिननेवालों को ध्यान रखना है कि अपने में और अपने द्वारा अन्य लोगों में उपर्युक्त गुणों का विकास करना है। और इसलिए कि यह सब गुण अहिंसात्मक स्वराज्य और अहिंसात्मक समाज की रचना के लिए आवश्यक है, उसका विकास होने पर ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो हमारा स्वराज्य रोक सके। यह काम तब ही बन सकता है कि जब हम घर, बाहर सभी जगह जहां-जहां उसे काम करना पड़े, अपने आचरण में इन गुणों को प्रकट करें और नीचे लिखे अठारह रचनात्मक कामों के करने में तन-मन से जुट जांय—

१. कौमी एकता, २, अस्पृश्यता निवारण, ३. शराबबन्दी, ४. खादी,

५, अन्य ग्रामोद्योग, ६. बुनियादी तालीम, ७. ग्रामोत्थान, ८. प्रौढ़ शिक्षा, ९. स्त्रियों की उन्नति, १०. आरोग्य और सफाई, ११. राष्ट्रभाषा-प्रचार, ३२. स्वभाषा-प्रेम, १३. आर्थिक समानता, १४. किसान, १५ मजदूर, १६. विद्यार्थी में, १७. आदिवासी की सेवा, १८. कोढ़ पीड़ितों की सेवा।

गुणों का विकास केवल बौद्धिक प्रयोग से नहीं किंतु प्रत्यक्ष काम के आधार से ही हो सकता है। ऊपर लिखा रचनात्मक कार्यक्रम उसका आधार है। उसी मे देहात की समग्र सेवा भरी पड़ी है। देहात कहिये या हिंदुस्तान। अब चरखा-संघ का मुख्य लक्ष्य यह बनता है। यदि हम इसमें सफल हों तो देश का राजकारण रचनात्मक काम के आधीन हो जाता है।

: १६ :

खादी के उपकरणों की उत्क्रान्ति

कांग्रेस के आरम्भ किये हुए असहयोग आन्दोलन के साथ-ही-साथ खादी-आन्दोलन का किस तरह जन्म हुआ और खादी का आन्दोलन शुरु होने से आज तक खादी ने किस-किस प्रकार प्रगति की, ये सब बातें पाठक पिछले अध्यायों में देख हीं चुके हैं।

खादी का आन्दोलन शुरू होने से अबतक गत १८ वर्षों में खादी के सम्बन्ध में जो अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनपर से खादी का अलग एक शास्त्र ही बन गया है। इन अनुभवों को ध्यान में रखकर ही समय-समय पर खादी के उपकरणों में काफी प्रगति होती रहती है। उपकरणों की उत्क्रान्ति के साथ-साथ कार्यकर्ताओं की आविष्कारक बुद्धि का भी विकास हुआ है। इन दोनों विषयों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क होने के कारण इस अध्याय में इन दोनों पर विचार किया जायगा।

समस्त हिन्दुस्तान में जुदा-जुदा प्रान्तों में जुदा-जुदा आकार के उपकरण काम में लाये जाते हैं। उनका आकार छोटा-बड़ा होने पर भी उनकी बनावट बहुतकर एक निश्चित तरह की होती है। खादी का आंदोलन आरम्भ करते समय जो पुराने औजार उपलब्ध हुए, उन्हीं को हाथ में लेकर उनमें किस-किस तरह सुधार किये गये, इस अध्याय में यही बताना है।

कपास चुनकर साफ करने के बाद उसमें से बिनौला अलग करने की प्रक्रिया को ओटना कहते हैं। उसके लिए जो साधन काम में आता है उसे चरखी कहते हैं। अतः पहले हम उसी को लेते हैं।

ओटनी या चरखी

गांवों में अक्सर लोढ़ने की जो चरखी दिखाई देती हैं, वह आकार में बड़ी और अपेक्षाकृत भारी होती हैं; इसलिए उन्हें चलाने के लिए दो आदमियों

का जरूरत होती है। एक आदमी सलाई के पास कपास सरकाता है और दूसरा उसका हत्था घुमाता है। इस चरखी के जरिये एक घण्टे में ५ पौण्ड अथवा ढाई सेर कपास लोढ़ी जाती है। भारी और माटी होने और चलाने के लिए दो आदमियों की जरूरत होने के कारण यह चरखी पिछड़ गई।

गांवों में ऐसी चरखो भी दिखाई देती है, जिसे एक आदमी चला सके। लेकिन उसमें बैठक नहीं होती। बैठक की जगह लकड़ो के मध्यवर्ती डण्डे पर भारी पत्थर रखा जाता है, जिससे वह चरखी हिल न सके। इस पर काम करना बड़ा कष्टकर प्रतीत होता है। इसके सिवा उसपर एक घण्टे में तीन ही पौण्ड कपास लोढ़ी जा सकती है। ऐसी दशा में यह चरखी भी लोकप्रिय नहीं हुई।

बारडोली के 'सरंजाम-कार्यालय' ने भी खादी-कार्य के लिए एक चरखी तैयार की। इस चरखी की लाट मोटी है। यह लाट ऊपर से लकड़ी की है; लेकिन उसके बीच म आरपार लोहे की चौकोनी सलाई बिठाई गई है। इस सलाई के ही एक सिरे पर हत्था लगा दिया गया है, जिससे एक आदमी आसानी से उसे फिरा सके। चरखो में जो पेच होते हैं,वे लकड़ी के हैं। इसकी बनावट ऐसी रखीगई है जिससे यह पेचोंवाला भाग अलग निकाला जा सके। इसकी ऊपर की सली लोहे की और गोल है उस पर आड़ी रेखायें हैं। इस चरखी में ढिबरी लगाई गई है। सली के घूमने से घर्षण न हो, इसलिए एक पीतल का वर्तुल स्तम्भों के दोनों तरफ फिट किया गया है। इस चरखी के छुटे हिस्से 'लेथ' पर तैयार किये गये हैं, इसलिए वे समान नाम के हैं और फुटकर बिकाऊ मिल सकते हैं। इसकी बैठक अच्छी है और इसकी घड़ी की जा सकती है। इसपर एक घण्टे में पांच से सात पौण्ड तक सूरती कपास लोढ़ी जा सकती है।[१]

१. कपास के परिमाण के बारे में यह खुलासा कर देना जरूरी है कि जिस कपास में बिनौले से रूई जल्दी छूट जाती है उसका लोढ़ने का औसत ज्यादा होता है, और जिसमें से रुई देर से छूटती है उसका कम। उदाहरणार्थ, उपरोक्त चरखी पर एक घंटे में ७ पौंड सूरती कपास लोढ़ी

बारडोली चरखी के दोष--(१) इसकी कीमत अधिक होती है, जो किसान को नहीं पुसा सकती; (२) आरम्भ में उसपर बिनौले ज्यादा टूटते हैं, और (३) यह गाँवों में न तो तैयार हो सकती है, न टूट-फूट होने पर वहाँ उसकी दुरुस्ती ही हो सकती है।

इस चरखी में उक्त दोष होने के कारण वर्धा के ग्राम-सेवा मण्डल ने दूसरी तरह की चरखी तैयार करवाई। सुधरी हुई अथवा उन्नत चरखी तैयार करने पर पच्चीस रुपये के इनाम की घोषणा की। उसके लिए नीचे लिखी शर्तें थीं—

(१) वह ऐसी होनी चाहिए कि उससे आठ घण्टे में कम-से-कम पन्द्रह सेर रोजिया कपास लोढ़ी जा सके; (२) किसी भी तरह की कपास के बिनौले न फूटें; (३) सर्वसाधारण स्त्रियां बिना किसी दिक्कत के आठ घण्टा चला सकें; (४) आरम्भ से ही अच्छा काम दे और (५) बीच-बीच में टूट-फूट की दुरुस्ती का मौका न आकर कम-से-कम एक महीना काम देनेवाली हो।

नोट—बैठक के दोनों खूंटों में १० इञ्च का अन्तर हो और प्रत्येक खूंटा डेढ़ इञ्च मोटा हो।

इन शर्तों अनुसार वर्धा के एक बढ़ई ने एक चरखी तैयार की। इस चरखी की विशेषता यह है कि उसकी लाट मोटी है और उसमें छः आंटें हैं। कना अष्टकोनी और टांचेदार है। कना दोनों ओर टेढ़ा है और लाट की एक बाजू पर लगाया गया है, इससे बिनौला जल्दी टूटता है।

जाती है। इस कपास में से बिनौले से रुई जल्दी छूट जाती है इसलिए उसका औसत ७ पौंड है। रोजिया रुई को बिनौले से अलग करने में देर लगती है, इसलिए उस कपास के लोढ़ने का फी घंटा औसत कम पड़ेगा। इस अध्याय में जहां-जहां यह कहा गया है कि एक घंटे में अमुक पौण्ड लोढ़ी जाती है, वह औसत रोजिया कपास का समझना चाहिए। कपास की जुदा-जुदा किस्मों को ध्यान में रखकर, उस-उस कपास के गुण-धर्म के अनुसार उसके औसत में अन्तर पड़ता जायगा।

इसमें ढिबरी के बजाय पेंच लगाये गये हैं। लाट के रगड़ न लगने देने के लिए पाये पर लाट के दोनों ओर बांस के वर्त्तुलाकार 'बेअरिंग' लगाये गये हैं। कने के जितने अधिक फेरे होंगे, उतना ही काम अधिक होगा। इस नई चरखी के लोढ़ने में लाट के एक फेरे या चक्कर के साथ कने के तीन फेरे होते हैं। पहले की चरखी में दो फेरे होते थे। उपरोक्त सुधार के कारण काम अधिक होने लगा है। इस चरखी की घड़ी नहीं की जा सकती; लेकिन उसके बैठक है।

दोष—इस चरखी पर जितनी चाहिए उतनी कपास नहीं लोढ़ी जा सकती। अभी फी घण्टा साढ़े चार पौण्ड लोढ़ी जाती है; जब फी घण्टा छः पौण्ड लोढ़ी जाने लगे, तब यह चरखी वर्त्तमान चरखियों में सर्वोत्तम हो सकती है।

इसके सिवा अ० भा० चरखा-संघ के आजीवन सदस्य और साबरमती के सरंजाम-कार्यालय के सञ्चालक श्री लक्ष्मीदास पुरुषोत्तमजी ने भी एक 'लोढ़न-यन्त्र' तैयार किया है। इस यन्त्र पर फी घण्टा १५ पौण्ड कपास लोढ़ी जाती है। इसकी विशेषता यह है कि इस पर एक ही आदमी पैर से पैडल चलाता है और हाथ से कपास सरकाता जाता है। इसमें साइकिल की जंजीर, फ्री व्हील और बॉल-बेअरिंग का उपयोग किया गया है।

दोष—(१) यह यन्त्र महंगा है; (२) इससे बिनौला फूटता है; (३) यह गांवों में तैयार और दुरुस्त नहीं हो सकता और (४) यह सब तरह की कपास के लोढ़ने में उपयोगी नहीं होता।

इस सारे विवरण से यह स्पष्ट है कि वर्त्तमान चरखियों में अनेक दोष हैं। इसलिए अभी ऐसे एक उपकरण की अत्यन्त आवश्यकता है जिसमें से उक्त सब दोष निकाल लुढ़ाई का काम सन्तोषजनक रीति से हो सके। अ० भा० चरखा-संघ ने हाथ से लोढ़ने पर बहुत जोर देकर इस तरह की चरखी का आविष्कार करने की आवश्यकता बतलाई है। अगस्त सन् १९३६ में हुई संघ के कार्यवाहक-मण्डल की बैठक में इस सम्बन्ध

में नीचे लिखा महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किया गया था—

"कार्यवाहक-मण्डल का मत है कि वह समय आ गया है जबकि हाथ की लुढ़ाई पर यथासम्भव जोर दिया जाय। मण्डल खादी की उत्पत्ति में दिलचस्पी रखने वाली चरखा-संघ की सब शाखाओं का और खादी-प्रेमी लोगों का इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता है कि खादी की व्याख्या में आने वाले सब कपड़े हाथ से धुने, हाथ से कते और हाथ से बुने होने चाहिएँ और उसके लिए आवश्यक रुई हाथ-चरखी पर लुढ़ी होनी चाहिए। खादी चरखी में सुधार अथवा उन्नति करने और हाथ की लुढ़ी रुई को लोकप्रिय बनाने के लिए संघ की शाखायें और लोग जो प्रयत्न करेंगे उसके लिए मण्डल उनका अभिनन्दन करेगा।"

धुनकी या पींजन

पुराने-जमाने में बांस की खपच्ची पर डोर बाँधकर धुनकी तैयार की जाती थी और उस पर हाथ से ही रुई पींजने की प्रथा थी। यज्ञोपवीत—जनेऊ—तैयार करने अथवा पूजा की बत्तियों के लिए आवश्यक रुई इस तरह की धुनकली पर धुनी जाती थी। धुनिये की धुनकी में बकरी की आंत की तांत लगती थी, इसलिए उक्त पवित्र कामों के लिए इसे उपयुक्त न मानकर यह धुनकली काम में आ जाती थी। धुनकली के लिए काम में लाई जाने वाली डोर सन अथवा अम्बाड़ी के बजाय केले के तन्तु अथवा मूंज की घास से बनाई जाती थी। ऐसी बारीक डोर होने के कारण इस धुनकली से पिंजाई का काम हो सकता था।

खादी का आन्दोलन शुरू होने से पहले सामान्यत: पिंजारों के पास की मोटी धुनकियाँ ही सब जगह काम में आती थीं। अभी-भी लिहाफ़-गद्दों के लिए आवश्यक रुई इन्हीं धुनकियों पर धुनवाई जाती है। इन धुनकियों की ताँत दस-बारह तार की होने के कारण खूब मोटी होती है। तांत जितनी मोटी होती है, पिंजाई उतनी ही मामूली और जितनी बारीक होती है, पिंजाई उतनी ही अच्छी होती है। इसके सिवाय इस धुनकी के लिए जगह की भी अधिक आवश्यकता होती थी और धुनने में भी यह भारी पड़ती थी, इसलिए

इन दोषों से युक्त धुनकी की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इसलिए बारडोली के 'संरजाम कार्यालय' ने धुनकने में सामान्यतः हलकी, कम जगह घेरनेवाली और बारीक तांत की 'मध्यम-धुनकी' तैयार की। इस धुनकी पर फी घण्टा १०-१२ तोले रुई धुनकी जाती है। यह बांस की भी बनाई जाती है; लेकिन बांसके बीच में गांठ होती है, इसलिए उस पर काकर (धुनकी के पंखे पर लगने वाली चमड़े की पट्टी) अच्छी तरह कसकर नही जम पाती। संघ के कामों में 'मध्यम धुनकी' का ही व्यवहार अच्छा है।

धुनियों की मोटी धुनकी में और आजकल काम में लाई जाने वाली मध्यम धुनकी में भी टांगने के लिए जगह की जरूरत होती है। बांस की दो खपच्चियों को एक के ऊपर एक बांधकर उस पर डोरी से यह धुनकी लटका दी जाती है। इस कमान के कारण धुनकी पर काम करना सरल हो जाता है और प्रत्येक बार इस कमान का स्प्रिंग (Spring) की तरह उपयोग हो जाता है।

सत्याग्रह-आन्दोलन में जब्तियों और पकड़ा-धकड़ी का दौर-दौरा था। ऐसे समय में एक सुविधाजनक धुनकी की आवश्यकता अधिक प्रतीत हुई; क्योंकि 'मध्यम-धुनकी'के होनेपर भी उसे लेकर सफर करना ज़रा असुविधाजनक होता था। अतः 'यौद्धिक' अथवा 'सफ़री' धुनकी की कल्पना हुई और तदनन्तर वह बनाई गई। यह धुनकी इतनी हलकी हैं कि बालक-बूढ़े सभी स्त्री-पुरुष इसे जहां चाहें अपने साथ ले जा सकते हैं, उसके लिए जगह भी ही चाहिए। उसमें तांत बारीक लगानी पड़ती हैं, इसलिए उस पर पिंजाई भी अच्छी होती है। इससे फी घण्टा ७-८ तोले रुई धुनी जा सकती है। व्यक्तियों के अपने आप पींजने के लिए यह धुनकी अच्छी है। इसे लटकाना नहीं पड़ता।

बंगाल के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री सतीशचन्द्रदास गुप्त ने कलकत्ते के उपनगर सोदपुर में 'खादी प्रतिष्ठान' नामक एक संस्था स्थापित की है। इस संस्था ने सन् १९३०-३१ में पिंजाई की एक मशीन बनाई थी। वह हाथ से चलाई जाती है। इससे प्रतिदिन १० पौण्ड रुई धुनी जा सकती

है। यह मशीन अभी सर्वमान्य नहीं हुई है।

इसके बाद स्वर्गीय मगनलाल गांधी के पुत्र श्री केशवलाल गांधी ने भी पिंजाई की एक मशीन का आविष्कार किया और उसका लाभ उठाकर साबरमती के 'सरंजाम-कार्यालय' ने पींजने की एक नई मशीन बनाई है। दूसरे भी कई प्रयत्न इस दिशा में हुए।

इस मशीन के गुण—इस मशीन में रुई के विथूरने की क्रिया होने के कारण उसके—रुई के तन्तु साफ और अलग हो जाते हैं। तांत से तन्तुओं का इतना साफ हो सकना सम्भव नहीं होता। इसके सिवा इसमें पंखा लगाया गया है, जिससे तन्तु से भारी वजन की धूल अथवा कचरा उसकी हवा से अलग होकर, मशीन के साथ ही लगी हुई कचरा-पेटी में फेंक दिया जाता है। इस मशीन में पोल तैयार होता है। इस मशीन से एक घण्टे में अधिक से अधिक २० तोले सूरती और १२ तोले रोजिया रुई धुनी जाती है! रुई की धुनाई अच्छी होने के कारण पूनियां भी अच्छी होती हैं। ३० नम्बर से ऊपर का सूत कातने के लिए इस मशीन पर धुनी हुई रुई की पूनियां अच्छी रहती हैं।

इसके दोष(१) इस मशीन का चलाना एक आदमी की शक्ति के बाहर की बात है, (२) यह गांवों में न तो तैयार हो सकती है न दुरुस्त ही; (३) यह इतनी पेचीदा है कि घरेलू धन्धों में इसका समावेश नहीं हो सकता; (४) यह सब तरह की रुइयों के लिए उपयुक्त नहीं हैं; (५) इसकी कीमत अधिक होने के कारण गांव के लोगों के लिए उसका खरीद सकना सम्भव नहीं होता, और (६) इसके बनाने में विदेशी चीजों की आवश्यकता होती है।

इस मशीन के कारण धुनाई के सम्बन्ध में लोगों को परावलम्बी होना पड़ेगा। अभी लोगों को जो थोड़ी बहुत धुनाई की कला विदित है, वह नष्ट हो जायगी। इन दोषों के कारण अखिल भारतीय चरखा-संघ ने तय किया कि यंत्र धुनकी को उत्तेजन देना ठीक नहीं है।

नई तुनाई

तुनाई शब्द संस्कृत की तन् धातु से बना हुआ दीखता है। तन् धातु का अर्थ है, खींचना या तानना। तन्तुओं को खींच कर अलग-अलग करके उनको समानांतर बनाने की क्रिया को तुनाई कहते हैं। मराठी में तुनाई के लिए "खाण्डन-विचरण" यह एक संयुक्त शब्द है। इसे हिन्दी में खण्डन-कंघन कह सकते हैं। तुनाई में होने वाली....क्रियाओं की साफ-साफ कल्पना खण्डन और कंघन इन दो शब्दों में आ जाती है। खण्डन का मतलब है तन्तुओं को एक दूसरे से अलग करना, खींचकर दो भाग करना। और कंघन का मतलब है, अलग किये हुए इन तन्तुओं की एक सीधी दिशा में समानांतर पट्टी खींचना। कंघी से बाल संवारने से बाल एक सीधी दिशा में समानांतर हो जाते हैं। करीब-करीब यही क्रिया कंघन से होती है। खण्डन-कंघन यह जोड़ शब्द हिन्दीमें अभीतक रूढ़ नहीं है, तुनाई शब्द ही तुनने में जितनी क्रियाएं होती हैं, उनके लिए इस्तेमाल किया जाता है।

तुनाई में तुनने की क्रिया कर लेने के बाद तन्तुओं की समानांतर पट्टी को छोटी-सी धुनकी से धुनकर पूनियां बनाई जाती हैं; लेकिन जिसमें धुनकी का कहीं भी उपयोग नहीं किया जाता और सिर्फ समानांतर पट्टियों से सीधी पूनियां बनाई जाती हैं,उस क्रिया को नई तुनाई यानी बिना धुनाई की केवल तुनाई कहते हैं।

तुनाई की कला नई नहीं है। आंध्र, बिहार आदि प्रांतों में वह कई सालों से चली आ रही है। लेकिन अबतक केवल महीन सूत के लिए ही वह पद्धति काम में लाई जाती थी। तुनाई में जो सिद्धांत है उसका उपयोग हमारे मध्यम अंक के सूत के लिए भी यदि किया जाय तो खादी में सुधार हो सकता है और धुनकी, तांत वगैरा के झंझट मे हम मुक्त हो सकते हैं।

चरखे

भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में चरखे के अलग-अलग आकार और प्रकार हैं। पुराने चरखों में कुछ अधिक भारी,तो कुछ आसानी से उठाये जा सकने-जैसे हैं; कुछ के बीच की पुड़ी बेडौल पथरीली है, तो कुछ के बीच में नकशीदार डमरू हैं। कुछ का व्यास बहुत मोटा है, तो कुछ का बहुत

छोटा; कुछ चरखों की पंखुड़ियां लम्बी और मोटी, तो कुछ की आड़ी और पतली हैं। इन सब तरह के चरखों को वर्धा के 'मगन संग्रहालय' में एकत्र किया गया है, जिसकी नुमाइश देखने योग्य है।

इन चरखों के पहियों और तकुओं में जुदा-जुदा अन्तर होने के कारण उनमें कुछ भी वैज्ञानिकता नहीं थी। इस दोष के कारण ही तकुए पर की माल की पकड़ ठीक नहीं रहती थी।

बारडोली के 'सरंजाम-कार्यालय' ने इन पुराने चरखों का सूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद उनमें के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करके बिना चमरख का चरखा तैयार किया। इसे अभी 'बारडोली चरखा' कहते हैं। इसका पहिया २४ इञ्ची होता है। उसकी धुरी लोहे की है, और पीतल की बेअरिंग होने के कारण माल की पकड़ अच्छी रहती है।

इस चरखे के तकुए में भी बहुत से सुधार किये गये हैं। यह अनुभव होने पर कि जिस तरह धुनकी की तांत जितनी बारीक होती है, उतनी ही पिंजाई अच्छी होती है, उसी तरह जिस चरखे का तकुआ जितना अधिक पतला होता है, उतना ही वह अच्छा बारीक सूत कातने के लिए अच्छा होता है, 'बारडोली' चरखे में बारीक तकुए का प्रयोग किया गया है। तकुए में ही लोहे की गिर्री लगा दी गई है, इसलिए 'साड़ी' लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। तकुवा रखने के लिए मोढ़िये (मोहरे) के बीच में खाने कर दिये गए हैं। खानों की इस योजना के कारण चमरखों को बिलकुल उड़ा दिया गया है। इन सब सुधारों के कारण वर्तमान चरखों में 'बारडोली चरखा' सर्वोत्तम माना गया।

गांडीव-चरखा

अब हम पहियों के चरखों पर नजर डालेंगे। परम्परा से चले आनेवाले चरखे सामान्यत: आकार में बड़े होते थे; उनका आकार छोटा करने के लिए दो पहियों के चरखे की कल्पना पहले-पहल किसके दिमाग में पैदा हुई, यह कह सकना कठिन है; क्योंकि लगभग सन् १९२१ से हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों म भिन्न-भिन्न आकार के दो पहियों के चरखे निर्माण हुए दिखाई देने

लगे थे। ऐसे ही चरखों में के एक विशेष चरखे का यहां उल्लेख करना आवश्यक है। सूरत के श्री ईश्वरलाल बीमावाले ने अपनी कल्पना के अनुसार दो पहियों का चरखा बनाया। एक डंडे पर दो पहियों को आड़ा रखकर चरखा चलाने की कल्पना पहले-पहल श्री बीमावाला को ही हुई है। उन्होंने इस चरखे का नाम 'गाण्डीव-चरखा' रखा है।

जीवन-चक्र

'सुन्दरदास सॉ मिल्स' वाले श्री पुरुषोत्तमदास रणछोड़दास ने श्री बीमावाले के गाण्डीव चरखे की तरह दो पहियों का उपयोग कर एक दूसरा चरखा तयार किया और उसका नाम 'जीवन-चक्र' रखा। 'जीवन-चक्र' के पहिये खड़े रखे गये हैं और इसकी रचना 'अनुपम और आकर्षक' है।

चरखे पर भिन्न-भिन्न प्रयोग कर उसमें कई तरह का सुधार करने के लिए अबतक बहुत से प्रयत्न किये जा चुके हैं। इनमें श्री पुरुषोत्तमदास का प्रयत्न अधिक सफल हुआ है। छोटे-बड़े दो पहियों में लगी हुई माल कातते समय निकल न जाय अथवा ढीली न हो जाय, इसके लिए उसमें स्प्रिंग की योजना श्री पुरुषोत्तमदास की आविष्कारक बुद्धि का 'भव्य' परिणाम है। देखने में स्प्रिंग की यह योजना मामूली-सी है; लेकिन वास्तव में है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, क्योंकि इसके कारण छोटे आकार के चरखे लोकप्रिय होकर उनका स्थान स्थायी हो गया है।

श्री पुरुषोत्तमदासजी ने बारडोली के मोढ़िये (मोहरे) में भी एक उन्नति की है। पहले मोढ़िये के दोनों तरफ के स्तम्भों में ऊपर से बीच में छेद करने पड़ते थे और उनके बीच में गोल आकार की मुलायम बोरू की छोटी डंडियां डाली जाती थीं। इन लकड़ियों से सटाकर कपड़े की पट्टी के गर्भ में से तकुआ फिरता था। इन लकड़ियों के बजाय एक बारीक डोर के आधार पर हलके फूल की तरह तकुआ घूमते रहने का श्रेय श्री पुरुषोत्तमदास को दिया जाना चाहिए।

जिस तरह श्री पुरुषोत्तमदास ने दो पहियों में फिरनेवाली माल के निकल जाने अथवा ढीली होजाने की रोक के लिए स्प्रिंग की योजना की थी,

उसी तरह मोढ़िये में बिठाये गये तकुए पर की माल के लिए रबड़ की योजना की गई थी। उस रबड़ के बजाय स्प्रिंग की योजना करने का श्रेय बारडोली के 'सरंजाम-कार्यालय' को है।

महात्मा गांधी ने अपने सन् १९३० और उसके बाद के कारावास के समय में चरखे के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रयोग किये। जेल में उन्होंने अपने पास एक कारीगर रख लिया था और प्रयोग के अन्त में उन्हें जो बातें सूझतीं, उसके अनुसार वे चरखे में परिवर्तन करवाते थे। 'जीवन-चक्र' की रचना आकर्षक होते हुए भी महात्माजी को गाण्डीव चरखा अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ, क्योंकि 'जीवन-चक्र' की तुलना में उसकी सादी रचना और स्वल्प मूल्य अधिक पसन्द आया; इसलिए उन्हें और उनके पास के कारीगर को जो परिवर्तन सूझे, उन्हें उन्होंने गाण्डीव चरखे में ही समाविष्ट किया। मोढ़िये में बोरू की लकड़ी के डोरी डालने का सुधार श्री पुरुषोत्तमदास ने सुझाया; किन्तु वह डोर घिसकर निरुपयोगी होजाती थी और उसके कारण तकुआ भी घिसता था, इसलिए महात्माजी की सूचना के अनुसार आगे-पीछे सरकने वाली; किन्तु तकुए के तीनों ओर ठोस बैठने वाली डोर लगाने की योजना की गई। महात्माजी गोलमेज-परिषद् के लिए लन्दन गये, उस समय की यात्रा और उसके बाद के कारावास के समय उन्होंने जो प्रयोग किये उन्हीं के परिणाम-स्वरूप उन्हें यह सुधार या परिवर्तन सूझा।

गाण्डीव चरखे की मूलभूत कल्पना के आधार पर महात्माजी के द्वारा यरवदा जेल में से जो सूक्ष्म परिवर्त्तन सुझाये जाते, उन्हें अमल में लाकर श्री केशव गांधी ने उस चरखे को पेटी या बक्स में बिठाने की युक्ति खोज निकाली। सब सुधारों से युक्त इस नवीन चरखे का नाम 'यरवदा-चक्र' रखा गया।

जिस चरखे में यरवदा-चक्र की ही सब योजना का कायम रखकर पेटी या बक्स के बजाय घड़ी करने की सुविधा है उसका नाम 'घड़ी-चक्र' और जिसमें घड़ी करने के बजाय खड़ा ही टांगने की सुविधा है उसका नाम 'किसान-चक्र' रखा गया है।

यरवदा-चक्रमें पेटी की सुविधा होने के कारण उसकी कीमत अपेक्षाकृत अधिक पड़ती है। जो लोग यरवदा-चक्र के सब लाभ उठाना चाहते हैं, किन्तु पेटी के कारण अधिक पड़नेवाली कीमत देने में समर्थ नहीं हैं,उनके लिए 'घड़ी-चक्र' और जो इतनी भी कीमत नहीं दे सकते उनके लिए 'किसान-चक्र' तैयार किया गया है। किसान-चक्र में यह विशेषता है कि मजबूती में अधिक होने के अलावा कातते समय वह हिलता नहीं है। एक-के-बाद-एक किस तरह कल्पना सूझती गई वह, इस वर्णन पर से स्पष्ट होगा।

'यरवदा-चक्र', 'घड़ी-चक्र' और 'किसान-चक्र' की रचना में कातने के सम्बन्ध में भी जैसे-जैसे अनुभव होते गये, उनके अनुसार सुधार किये गये हैं।

सावली के चरखे पर तिरछा तकुआ रखने से सूत सफाईदार और अपेक्षाकृत बारीक निकलता है और लपेटने में भी सुविधा होती है, (सावली चरखे का पूरा वर्णन आगे आया है) इसलिए उपरोक्त तीनों चरखों में मोढ़िये तिरछी खांच के और हिलते हुए रखने की योजना की गई है; इसके सिवा उसी मुहरे पर दाहिने अथवा बायें हाथ से कातने की भी सुविधा रखी गई है।

इन तीनों तरहके चरखों में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने की योजना की गई है। नौसिखिये कातने वालों के लिए अर्थात् जिनका सूत कुछ मोटा निकलता है,उनके लिए तीन इंच व्यास का,मध्यम प्रकार का सूत कातनेवालों के लिए चार इंच और प्रवीण कतवैयों के लिए ५इंच व्यास का छोटा पहिया डालने की सुविधा की गई है।

इन तीनों तरह के चरखों की विशेषता यह है कि इनके लिए थोड़ी ही जगह की जरूरत होती है, कीमत कम पड़ती है और इसके सिवा इन पर कातने में ऊंचे पलंग की जरूरत नहीं रहती।

एक और महत्त्वपूर्ण आविष्कार का उल्लेख करना आवश्यक है। परम्परा से चले आने वाले सावली के चरखे पहले के सब चरखों से अच्छे हैं। लेकिन सावली चरखे का पहिया १६ से १८ इंच तक का होने के कारण कातते समय उसे घुमाना बहुत पड़ता है। परिणाम में वेग कम होता था।

अत: मुख्य पहिये और तकुए के बीच में एक छोटा-सा पहिया लगाकर इस दोष को दूर किया गया। इस छोटे पहिये का उपयोग वेग अथवा गति बढ़ाने के काम में हुआ, इसलिए उसे 'गति-चक्र' कहते हैं। सावली के चरखे पर यह गति-चक्र लगा देने से वह भी यरवदा-चक्रकी तरह ही कार्यक्षम सिद्ध हुआ है।

धनुष तकुवा

कातने के लिए एक नये साधन का आविष्कार इन दिनों हुआ है। उस साधन का नाम "धनुष तकुवा" रखा गया है। पोलेंड निवासी श्री मॉरिस फ्रिडमन् कई वर्षों से हिन्दुस्तान में आकर बसे हैं। उनका हिन्दुस्तानी नाम भारतानन्दजी है। वह अच्छे इंजीनियर हैं। खादी और ग्रामोद्योग में बड़ी श्रद्धा रखते हैं। सेवाग्राम में आकर वहां की प्रवृत्तियों का अधिक अध्ययन करके उनके संशोधन में वह लग गये। इसी प्रयत्न का फल उपर्युक्त नया आविष्कार है।

धनुष तकुआ की विशेषता यह है कि किसी भी देहात में बड़ी आसानी से वह बनाया जा सकता है। उसके दाम चरखे के मुकाबले में कम पड़ते हैं। बिना परते के वह चार से लेकर छ: आने तक बन जाता है। और कातने में करीब-करीब मामूली चरखे की बराबरी कर लेता है।

इसमें तकुवे के आधार के लिये एक छोटा-सा मोढ़िया रहता है। उस मोढ़िये को बांस के एक छोटे-से टुकड़े पर फंसाने की सुविधा होती है। बांस का टुकड़ा पैरों के नीचे दबाने से तकुवा एक जगह जमा कर रखा जा सकता है। तकुवे पर न घिर्री रहती है, न साड़ी और न वह बीच में मोटा रहता है। उसको वेग देने के लिए बांस का एक धनुष बनाया जाता है जिसमें रस्सी के स्थान पर चमड़े की सवा इंच चौड़ी पट्टी लगाई जाती है। और उस पट्टी को एक तरफ तेल में पकाया हुआ राल का चिपकने वाला मरहम लगाया जाता है। उस चमड़े की पट्टी को तकवे के घुमाने के स्थान पर लगाकर धनुष को खींचने से राल के सहारे तकुआ पकड़ा जाकर चमड़े की पट्टी के झटके से तेजी से घूमने लगता है। इस प्रकार धनुष से तकुवे को वेग देना

ही इसमें मख्य आविष्कार होने से इसका नाम धनुष तकुवा रखा गया है।

मगन-चरखा

अब हम एक खास किस्म के चरखे पर नजर डालें। खादी के अनन्य सेवक, 'वणाट शास्त्र' और 'तकली शिक्षक' इन दोनों पुस्तकों के लेखक स्व० श्री मगनलाल गांधी के भतीजे श्री प्रभुदास गांधी ने दोनों हाथों से एक साथ दो धागे काते जा सकें इस तरह का एक चरखा बनवाया और उसे 'मगन-चरखा' नाम दिया।

जिस तरह सिंगर की सिलाई की मशीन चलाने के लिए पैडल का उपयोग करना पड़ता है, उसी तरह इस चरखे के चलाने में भी पैडल से काम लेना पड़ता है। इस चरखे के दोनों मोहरों पर दो तकुए चलाने की व्यवस्था होने के कारण इसपर दोनों हाथों से कातने की सुविधा है। यरवदा-चक्र पर सामान्यत: जितने समय में जितना सूत निकलता है, उतने ही समय में इस चरखे पर उससे डयोढ़ा सूत निकल सकता है। सादे चरखे से इसकी कीमत डयोढ़ी से दूनी पड़ती है। इसकी बनावट ऐसी है कि टूट-फूट होने पर गांवों में उसकी दुरुस्ती हो सकती है। इस चरखे में एक यह दोष अवश्य है कि सूत लपेटते समय एकदम रुकना पड़ता है, इससे पांव पर दबाव पड़ता है। इस दोष को दूर करने के लिए इसमें संशोधन होने की जरूरत है। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि सूत अपने आप लिपट सके।[1]

१. मूल अन्वेषक का कहना है कि हमारा असली देहाती चरखा अपने रूप में स्वयंपूर्ण यंत्र है और उसके यांत्रिक सिद्धांतों को कायम रखकर ही हमें चरखे की गति बढ़ानी हो तो सादे एक तकुवे के स्थान पर दो तकुवे कर देने से अधिक हमें कुछ करना आवश्यक नहीं है, फिर भी इसमें एक दोष यह देखा गया है कि इस चरखे को चलाने में कातनेवाले को अधिक झुकना पड़ता है और उसकी रीढ़ तथा पैर पर अधिक दबाव पड़ता है इसलिए उसमें सुधार होता गया। इस सुधार में अपने आप लिपटने की व्यवस्था करनेकी भी कल्पना सुधारकों के सामने है; परंतु ऐसा करने में असली चरखे की सादगी नष्ट होने का पूरा खतरा है। जो मगन चरखे की कल्पना के

श्री प्रभुदास गांधी के बनाये इस चरखे में सुधार होता गया और फलस्वरूप आज उनके तीन प्रकार विशेष महत्त्व रखते हैं:—

१. एक तो अहमदाबाद में अखिल-भारत चरखा-संघ के प्रयोग-विभाग की तरफ से बनवाया गया है। यह चरखा साइकिल की तरह घुमाया जाता है। इसमें गतिचक्र भी बैठाया गया है। इसके मुख्य चक्र की गति का,तकुए की गति से अनुपात १ : २५० है। उसमें मृतविन्दु (Dead Point) नहीं है, यही उसका विशेष गुण है। काता हुआ पूरा धागा तकुए भरने के लिए उसे हम चाहें तब तुरन्त रोक सकते हैं।

२. दूसरा मूल में मध्यप्रांत-महाराष्ट्र चरखा-संघ ने तैयार करवाया है। इसके चक्र का व्यास ३० इंच है। यह चक्र कातनेवाले के सामने उसी की ओर घूमता है। इस चक्र के ऊपर दोनों तकुए खड़े घूमते हैं। इसका पैडल सीने के सिंगर मशीन के पैडल की तरह है। चक्र के एक फेरे में तकुए के फेरे करीब-करीब १२५ होते हैं। काता गया सूत भरने के लिए चक्र की ही धुरी पर दो परीते बैठाये गये हैं। कातनेवाला अपने स्थान पर बैठा हुआ पैडल के जरिए दोनों परीतों पर एक साथ परेत सके ऐसी व्यवस्था भी इसमें की गई है। यह इसमें एक विशेष गुण है।

३. तीसरे चरखे का प्रादुर्भाव नालवाड़ी में हुआ। इस चरखे की योजना पेटी-चरखा (यरवदा-चक्र) में ही की गई है। इसमें मृतविन्दु (Dead Point) तो नहीं है, लेकिन वह पैर से गोल घुमाना पड़ता है इसमें यही कुछ कठिनाई है। दोनों तकुओं से सूत एक साथ परेतने की भी व्यवस्था इसमें नहीं है।

इन तीनों चरखों पर फीघंटा १ गुण्डी से अधिक गति आई है।

रामगढ़ कांग्रेस के अवसर पर मगन चरखे की सूत-स्पर्धा में निम्न-प्रकार की गति रही थी—

अनुरूप नहीं है। मगन चरखे की योजना ही तब की गई जब स्वयं लपेटने वाले तकुवे की असफलता अन्वेषक की दृष्टि में आई।"

१. अहमदाबाद साइकिल पैडल चरखा घंटे ४, तार :७०१, कस ६५% नं०१६$\frac{१}{२}$

२. मूल सिंगर पैंडल चरखा घंटे ४, तार ३५९२, कस ४५%, नं० २३$\frac{१}{२}$। इसका मतलब यह है कि इसकी गति फी घंटा ९००गजों के आसपास पहुंच गई है। स्पर्धा में नालवाड़ी का चरखा नहीं था।

ग्राम-चक्र

यह भी श्री प्रभुदास गांधी ने ही बनाया था। यरवदा-चक्र में स्प्रिंग आदि की योजना होने के कारण उसे शहरी ही बना सकते हैं; ग्रामीण सुतारों के औजारों से उसका बन सकना संभव नहीं। ऐसी स्थिति में श्री प्रभुदास गांधी ने यरवदा-चक्र के तत्त्व कायम रखते हुए एक ऐसा ही चरखा बनाया है। इस चरखे में एक बड़ा पहिया और दूसरा गतिचक्र इस तरह दो पहियों का उपयोग किया गया है। सावली के चरखे और यरवदा-चक्र दोनों में ही गतिचक्र लगाया जाता है, लेकिन वहां वह एक ही आड़ी लाइन में रखे जाते हैं। इन दोनों चरखों में गतिचक्र और तकुए के बीच का अन्तर बहुत कम होने के कारण माल की पकड़ अच्छी नहीं रहती।

उपरोक्त दोष दूर करने के लिए ग्राम-चक्र का गतिचक्र मूल बड़े पहिये के पास आड़ा न रखकर उसके सिरे पर रखा गया है। इस व्यवस्था के कारण मूल पहिये से गतिचक्र की धुरी या लाट का अन्तर भी बढ़ गया है इस अन्तर के बढ़ने से धुरी या व्यास एक इंच के बजाय दो इंच का कर दिया गया है और यह व्यास लोहे के बजाय लकड़ी का बनाया गया है। इसके सिवा गतिचक्र में बांस की पंखुड़ियां काम में ली गई हैं, इसलिए वह मोटा हो गया है।

इस चरखे का उठाव तीन पायों पर किया गया है, अतः इसके लिए यरवदा-चक्र की तरह सपाट जमीन की आवश्यकता नहीं होती। नीचे की जमीन कितनी ही ऊबड़-खाबड़ होने पर भी वह चरखा हिलता अथवा डगमगाता नहीं है। इसके स्तम्भों के हिलने और ढीले होने का कोई प्रश्न पैदा ही नहीं होता। इस चरखे पर कातने बैठने के लिए चारपाई की जरूरत

होती है। चारपाई पर बैठकर पैर सिकोड़ने की जरूरत नहीं होती, पैर फैलाये हुए भी आसानी से काता जा सकता है। तीन पाये लगने पर भी पहले के दूसरे चरखों की अपेक्षा इसमें लकड़ी अधिक नहीं लगती। और यह इतना सरल है कि ग्रामीण सुतार भी इसे आसानी से बना सकते हैं।

एक लाख रुपये के इनाम के लिए बने हुए चरखे

सन् १९२९ में अखिल भारतीय चरखा-संघ ने यह घोषणा की थी कि जो व्यक्ति ऐसा चरखा तैयार करेगा, जिससे (१) एक घण्टे में २,००० गज अच्छा मजबूत, बलदार और एक-सा सूत कत सके; (२) जो गांवों में दुरुस्त हो सके और (३) जिसकी क़ीमत १५० रु० से अधिक न हो, उसे एक लाख रुपया इनाम दिया जायगा। इस इनाम के लिए (१) नासिक के श्री क्षीरसागर, (२) किर्लोसकरवाड़ी के श्री काले और (३) बंगलौर के श्री राजगोपालन् इत्यादि ने प्रयत्न किये; लेकिन चरखा-संघ की सूचनानुसार अभी तक एक भी चरखा पूरी कसौटी पर नहीं उतरा है।

(१) श्री क्षीरसागर के चरखे में एक दम चार तकुओं से सूत निकलने की व्यवस्था थी; लेकिन उनसे निकला हुआ सूत मोटा होता था। इसके सिवा उसकी बनावट बड़ी पेचीदा थी। वह गांवों में दुरुस्त नहीं हो सकता था।

(२) श्री काले के चरखे पर आठ तकुओं की व्यवस्था है; इससे दूसरे चरखों की अपेक्षा सूत अधिक निकलता था; लेकिन इसकी भी बनावट पेचीदा होने से गांववालों के लिए तो उस पर कात सकना बड़ा मुश्किल था। गांवों में दुरुस्त होने जैसा तो वह था ही नहीं। इस चरखे की एक विशेषता यह है कि इसमें धुनाई का यन्त्र साथ ही लगा हुआ है, जिससे रुई अच्छी धुनी जाती है और सूत एक समान निकलता है। सिर्फ पूनी हाथ से बनानी पड़ती है।

(३) श्री राजगोपालन् के चरखे में एक ही तकुआ है; यह सादा है और सुविधाजनक है और घण्टे में सिर्फ १,००० गज ही सूत दे सकता है। उस पर ग्रामीण लोगों से १००० गज भी कत सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह है।

इन तीनों चरखों में कातने के साथ ही सूत के अटेरने की व्यवस्था है।

तकली

जिस तरह हरेक प्रांत के चरखे का आकार-प्रकार जुदा-जुदा है, उसी तरह हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न तरह की तकलियों का प्रचार है। ठीकरी, ढब्बू पैसा, लकड़ी और पीतल आदि की वर्तुलाकार--गोल--चकई पर बांस, लकड़ी, लोहा, फौलाद और पीतल आदि की सलाई लगी हुई तकलियां बहुतों के देखने में आई होंगी। जिस तरह भिन्न-भिन्न प्रान्तों की तकलियों की चकई और सलाइयों में अन्तर है, उसी तरह उनके सिरों में भी काफी भिन्नता दिखाई देती है।

लेकिन बारडोली में जब सरजाम कार्यालय चलता था तब उसकी ओरसे एक समान माप की तकली तैयार की गई थी जिसकी चकई पीतल की और सलाई लोहे की थी। आज देश भर में यही तकली सर्वोत्तम मानी गई है। इन सबका श्रेय श्री लक्ष्मीदास पुरुषोत्तम को ही है।

सूत कातने के लिए चरखे की तरह तकली का भी असहयोग आंदोलन के बाद से ही नये सिरे से उपक्रम हुआ। सन् १९३० तक कुछ खास-खास आदमी ही तकली पर कातते थे। उस वर्ष सत्याग्रह-आंदोलन आरम्भ होने पर जगह-जगह पर यह जोरदार प्रचार हुआ कि 'अगर तुम्हारे लिए जेल जा सकना सम्भव न हो तो, कम-से-कम, सूत ही कातो, खादी पहनो और विदेशी कपड़े का बहिष्कार करो।' इससे प्रत्येक समझदार व्यक्ति ही नहीं, बल्कि १०-१२ वर्ष के बालक तकली पर सूत कातने लगे। जिन्होंने उस समय देश भर में घर-घर तकली फिरते हुए देखी है, उन्होंने उस दृश्य को अत्यन्त कौतूहलवर्द्धक और नयनमनोहर बतलाया है।

इस प्रकार उस समय लाखों तकलियों की खपत हुई। उसके इतना लोकप्रिय होने के कारण उसकी कार्यक्षमता की जांच के लिए उस पर तरह-तरह के प्रयोग शुरू हुए। इसमें विशेषतः वर्धा के सत्याग्रह-आश्रम ने विशेष परिश्रम करके तकली की गति में क्रान्ति उत्पन्न करदी है और कातने

की पद्धति में विलक्षण सुधार किये हैं । इस पद्धति में नीचे लिखी तीन विशेषतायें हैं—

(१) जांघ या पिंडली पर झटका देने से एक हाथ से खूब वेग दिया जा सकता है और इससे एक ही बार में लम्बा धागा निकल सकता है ।

(२) तकली को जमीन पर टिका कर एक झटके में चक्कर दिया जा सकता है ।

(३) उपरोक्त पद्धति से सिर्फ दाहिने ही नहीं, बल्कि बायें हाथ से भी काता जा सकता है ।

इस प्रकार तकली पर आधे घण्टे में ७ नम्बर के २३३ तार अथवा ३० नम्बर के १६० तार बिना सूत अरेते हुए निकाले गये हैं । यह गति 'असाधारण' समझनी चाहिए । आधे घण्टे में १२ नम्बर के १४० तार सूत कातना 'मध्यम' दर्जे की और १४ से १६ नम्बर तक के १६० तार कातना 'उत्तम' दर्जे की कताई मानी जाती है ।

'असाधारण' अथवा 'उत्तम' गति छोड़कर साधारण मनुष्य की मध्यम गति का विचार करने पर भी आधे घण्टे में १२ नम्बर के १०० तार अर्थात् एक घण्टे में २०० तार हुए । यह गति इतनी है कि चरखे के बजाय तकली को सार्वत्रिक बनाना सम्भव होगया है । वर्धा के सत्याग्रह-आश्रम ने अपने प्रयोगों द्वारा तकली की गति में जो इतनी वृद्धि और दाहिने-बायें हाथ से कातने की जो सुविधा की है; वह अत्यन्त उपकारक सिद्ध हुई है, क्योंकि तकली की इस प्रगति के कारण ही वर्धा-शिक्षा-योजना में उसे महत्त्व का स्थान प्राप्त हुआ है ।

वर्धा-शिक्षा-योजना में 'तकली' को सात वर्ष के छोटे बालक के चला सकने योग्य औजार माना गया है । यह औजार ऐसा है कि (१) उसके लिए कोई पूंजी खर्च नहीं करनी पड़ती; (२) वह जगह नहीं घेरता और (३) उत्पादक काम दे सकता है । इन तीनों गुणों से युक्त और कोई उपयुक्त औजार उपलब्ध न होने के कारण तकली का बड़ा महत्त्व है । यह

बात खास तौर पर ध्यान में रखने योग्य है कि सारे हिन्दुस्तान-भर में वर्धा-शिक्षा-योजना को अमल में लाने के लिए अगर अधिक अनुकूलता है, तो वह तकली के इन विशेष गुणों के ही कारण है।

तकली पर इन प्रयोगों के होने के पहले आम तौर पर लोगों की यह धारणा थी कि उसपर सूत कातना एक तरह बच्चों का खेल है। ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि उसपर कातने से कोई विशेष सूत निकल सकेगा। लेकिन ऊपर तकली के जिन प्रयोगों का उल्लेख किया गया है, उनके कारण लोगों की वह धारणा गलत सिद्ध हुई है। तकली पर सूत कातने की गति कितनी बढ़ गई है, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। इस गति के बढ़ाने से प्रयत्न करने पर किसी भी व्यक्ति के लिए उतनी कला साध्य कर सकना सर्वथा सम्भव है। कई लोगों का अनुभव है कि इस गति से उस तकली पर प्रतिदिन नियमित रूप से आध घण्टा सूत कातने पर उससे कातने वाले की अपनी वस्त्रों की आवश्यकता पूरी हो सकती है। इस अनुभव पर से श्री विनोबाजी ने उसका नाम 'वस्त्र-पूर्णा' रखा है।

चरखे और तकली में यह अन्तर है कि तकली पर निरन्तर आठ घंटे रोज कातना कदाचित कष्टदायक होगा, इसलिए आठ घण्टा रोज कातने की दृष्टि से चरखा ही उत्तम साधन है। लेकिन जिन्हें घण्टा डेढ़ घण्टा ही कातना हो उनके लिए तकली भी उतनी ही उपयुक्त सिद्ध हुई है। यह ठीक है कि यात्रा की दृष्टि से यरवदा-चक्र, घड़ी-चक्र उपयुक्त हैं, लेकिन तकली इनसे भी अधिक हलकी होने के कारण सफर ही क्या हमेशा जेब तक में रखकर ले जाने का उससे बढ़कर और साधन नहीं है। इसके सिवा चरखे के लिए आठ-नौ रुपये कीमत देनी पड़ती है, लेकिन तकली घर पर ही बिना किसी खास खर्च के तैयार की जा सकती है और अगर कुछ खर्च पड़ा भी तो तीन आने से अधिक नहीं पड़ता।

अखिल-भारतीय चरखा-संघ के ध्यान में यह बात जम गई है कि खादी की प्रगति करना हो तो उसके उपकरणों में उन्नति करनी ही चाहिए,

इसलिए उसने सेवाग्राम के अपने केन्द्रीय दफ्तर के साथ एक प्रयोग विभाग खोलकर उसमें कुछ अनुभवी कार्यकर्त्ता नियुक्त किये हैं। इन्हें मौजूदा व्यवहार में आनेवाले उपकरणों की कार्यक्षमता की परीक्षा कर उनमें क्या-क्या सुधार करने आवश्यक हैं, यह सूचित करने का काम सौंपा गया है। प्रान्तीय शाखायें तक इस दृष्टि से प्रयोग करती हैं।

: २० :

कार्यकर्त्ताओं को अनुभवजन्य सूचनायें

आज सारे हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सैकड़ों नवयुवक गांवों में आसन जमाकर लोकसेवा की दृष्टि से खादी का काम कर रहे हैं। इस बात में तिलभर भी सन्देह नहीं है कि इन नवयुवकों का उत्साह और सेवा की लगन अभिनन्दनीय है। किन्तु केवल उत्साह और लगन से ही काम पूरा नहीं हो जाता, उसके लिए और भी कई बातों के सहयोग की आवश्यकता होती है। इसलिए इस अध्याय में उनके लिए कुछ अनुभवजन्य सूचनायें दी जा रही हैं।

कई बार ऐसा होता है कि कार्यकर्त्ता उत्साह के आवेग में चाहे किसी एक गांव में जा बैठता है और उसके मन में कार्य की जो भव्य कल्पना होती है, उसके अनुसार एकदम काम शुरू कर देता है, और उसके लिए पांच-सात सौ रुपये खर्च भी कर डालता है। लेकिन एक-दो वर्ष बाद जब उसे प्रत्यक्ष फल कुछ भी दिखाई नहीं देता, तब उसे पश्चात्ताप होता है और मन में ऐसा होने लगता है कि 'मैंने ऐसा न किया होता तो अच्छा था।' ऐसे पश्चात्ताप का अवसर न आवे इसी दृष्टि से नीचे लिखी सूचनायें दी जाती हैं।

खादी-कार्यकर्त्ता को खादी-उत्पत्ति के लिए अपना कार्यक्षेत्र चुनते समय निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिएं—

(१) वहां किसानों को सहायक धन्धे की आवश्यकता प्रतीत होनी चाहिए।

(२) कातनेवालों के हाथों में कला-कुशलता होनी चाहिए, अथवा कम-से-कम कला की शिक्षा दी जाने पर उसके ग्रहण करने की जिज्ञासा, आतुरता और तत्परता होनी चाहिए।

(३) आस-पास हाथ-कता सूत बुननेवाले जुलाहे होने चाहिएं।

(४) आस-पास यातायात—आमद-रफ्त—के साधन, सड़कों आदि की सुविधा होनी चाहिए।

(५) आस-पास मिलें वगैरा न हों, और

(६) वह क्षेत्र स्वावलम्बी हो सकने-जितना बड़ा होना चाहिए। अर्थात् कार्यकर्त्ता पर होने वाला खर्च उस खादी में से निकलना चाहिए। क्षेत्र के आसपास के २-३ गांवों में ही कम-से-कम २५० चरखे चालू होने चाहिएं। ये चरखे हमेशा जारी रहने चाहिएं अर्थात् प्रत्येक चरखे पर महीने में कम-से-कम एक से लेकर १२ अंक तक का सूत कातना चाहिए।

प्रत्येक क्षेत्र में इतनी प्राथमिक बातें अवश्य ही होनी चाहिएं, इनके सिवा नीचे लिखे अनुसार परिस्थिति अनुकूल हो तो कार्य और भी सुगम होगा—

(१) उस भाग में कपास पैदा होती हो;

(२) चरखा चलाने की प्रथा हो;

(३) चरखे, धुनकी आदि बनाने के लिए आवश्यक लकड़ी और उनके बनाने वाले सुनार, लुहार आदि कारीगर वहां मिलते हों; और

(४) खादी की धुलाई आदि की सुविधा हो।

जिस क्षेत्र में ये सब बातें होंगी, वहां कार्य के उत्तम होने के विषय में किसी तरह की आशंका नहीं है। इनमें से जिन-जिन बातों की कमी होगी, उसी हिसाब से फल भी कम होगा। कार्यकर्त्ता को ये सब बातें मार्ग-दर्शक के रूप में समझनी चाहिएं। उसे बारीकी के साथ अपना क्षेत्र तलाश करना चाहिए और सारी परिस्थिति का विचार कर आगा-पीछा देखकर क्षेत्र चुनना चाहिए।

पहले क्षेत्र का चुनाव करने के बाद कार्यकर्त्ता को नीचे लिखी सूचनाओं पर अमल करने की कोशिश करनी चाहिए।

उसे खादी की विभिन्न क्रियाओं में पटु होना चाहिए। भिन्न-भिन्न क्रियाओं का कामचलाऊ अथवा टटपूंजिया ज्ञान उपयोगी न होगा। अगर वह

इन विषयों में कुशल न हुआ तो पग-पग पर उसका काम रुक जायगा। गांव में किसी के लोढ़न, किसी की धुनकी और किसी के चरखे में कोई टूट-फूट अथवा कुछ गड़बड़ हुई तो लोग उन उपकरणों को लेकर दुरुस्ती के लिए कार्यकर्त्ता के पास पहुंचते हैं। उस समय कार्यकर्ता को उन्हें बारीकी से देख कर स्वयं ही दुरुस्त कर देना चाहिए। इसके लिए सुतारी मे प्राथमिक औजारों के उपयोग की प्रत्यक्ष जानकारी होनी चाहिए। अगर टूट-फूट अधिक हो गई तो सुतार को बुलाकर उसे सब बातें समझा कर उससे दुरुस्त करवा लेनी चाहिए। अवश्य ही सुधराई की जो कुछ भी मजदूरी हो, वह मालिक से ही दिलवा देनी चाहिए।

उपकरणों के उपयोग और उनकी जानकारी के सम्बन्ध में कार्यकर्त्ता का बहुत सतर्क रहना चाहिए। जिस प्रकार होशियार वकील को हाईकोर्ट के ताजे-से-ताजे फैसलों की, अथवा कुशल डाक्टर के लिए भिन्न-भिन्न रोगों पर होने वाले आपरेशन अथवा औषधोपचार की नई-से-नई जानकारी होना आवश्यक है, उसी तरह इस कार्यकर्त्ता को खादी के भिन्न-भिन्न उपकरणों में होते रहने वाले भिन्न-भिन्न परिवर्त्तनों और सुधारों की जानकारी हासिल करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इतना ही नहीं स्वयं भी उस दिशा में प्रयोग करके तत्सम्बन्धी अपने ज्ञान में वृद्धि करनी चाहिए। राष्ट्र के सच्चे अर्थशास्त्र की दृष्टि से खादी चिरकाल तक टिकने वाली है, यह तत्त्व उसके हृदय में पैठा होना चाहिए।

कार्यकर्त्ता को अपने काम की शुरुआत 'पहले बुर्ज पीछे खम्भे' की तरह नहीं करनी चाहिए। बहुत बार ऐसा होता है कि गांवों में खादी के कार्य का श्रीगणेश चरखे से होता है; फिर धुनकी आती है और बाद को लोढ़न। यह क्रम सही नहीं है। खादी-कार्य का आरम्भ मूल पाये पर से होनी चाहिए। खेत में कपास के पककर तैयार होते ही उसमें से अच्छे-से-अच्छे पौधे चुन लेने चाहिएं और किसान को यह सावधानी रखना चाहिए कि इन पौधों पर से कपास उतारते समय उसमें किसी तरह का कूड़ा-करकट, पत्ती अथवा दीमक न लगने पावे। वर्ष-भर में अपने

परिवार के छोटे-बड़े सब स्त्री-पुरुषों के कपड़ों के लिए कितनी रुई की आवश्यकता होगी, प्रारम्भ में ही इसका हिसाब लगा कर, उसके अनुसार उसमें से अपने उपयोग के लिए सुरक्षित रख ली जाय। यह ठीक है कि इसके लिए कुछ समय अधिक लगेगा और परिश्रम भी कुछ अधिक करना पड़ेगा; किन्तु दूर-दृष्टि से सोचनेपर किसान को इस समझ और परिश्रम का फल मिले बिना रहेगा नहीं। क्योंकि इस कपास को लोढ़ने पर लोढ़ने के बाद जो बिनौले निकलेंगे, उनके नाके साबित रहने के कारण बीज के लिए उनका उपयोग होने पर अगले साल कपास की फसल भरपूर और अच्छी होगी। इस तरह कपास से बिनौले अलग करने के बाद रुई को शास्त्रीय-पद्धति से किस तरह पींजा जाय, इसकी पूनियां किस तरह बनाई जायं, उन्हें काता किस तरह जाय, उस सूत को अटेरन पर किस तरह उतारा जाय और उसकी लच्छी किस तरह बनाई जाय आदि सब बातें क्रमानुसार करने के लिए कहा जाय। किसान को यह सब बातें प्रयोग करके समझा देनी चाहिएं कि अगर कपास चुनने के समय से ही उपरोक्त प्रकार से सावधानी रखी जाय, तो उससे लोढ़ने, पींजने, कातने और बुनने की सब क्रियायें किस तरह सुलभ हो जाती हैं। इसी तरह उसे यह बता देना चाहिए कि अगर हमने कपास चुनने के सम्बंध में सावधानी नहीं रखी तो आगे की सब क्रियाओं में किस तरह कष्ट होता है। इस प्रकार दोनों की तुलना से उसके ध्यान में इस बात का महत्त्व अच्छी तरह आ जायगा। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि खादी का कार्य शुरू करना हो तो वह कातने से शुरू न करके आरंभ में कपास चुनने से शुरू करना चाहिए, बाद में लोढ़ने का उपयोग सिखाया जाय। देखने में यह बात बहुत छोटी अथवा तुच्छ-सी मालूम होती है, लेकिन है यह अत्यन्त महत्वपूर्ण। वास्तव में यही नींव है। इसके मजबूत होन पर ही इस पर खादी-कार्य की टिकाऊ इमारत खड़ी रहेगी, यह बात कार्यकर्त्ता को और इस कार्य के प्रत्यक्ष करने वाले किसान को भी ध्यान में रखनी चाहिए।

कार्यकर्त्ता को यह समझ कर कि खादी जीव-दया का कार्य है, पैसे

और अन्य व्यवहार के संबंध में गाफिल नहीं रहना चाहिए। उसे हिसाब और जमा-खर्च की तो अच्छी जानकारी होनी ही चाहिए, उसके साथ ही उसे उसके अनुसार अपने आर्थिक लेन-देन का प्रतिदिन मेल मिला लेना चाहिए। अगर वह इस बारे में बेपरवाह रहा तो लोग उसकी बेपरवाही का लाभ उठा कर उसे छलने का प्रयत्न किये बिना न रहेंगे; पैसे और बुद्धि में और शहरी लोगों की तरह नीति में भी दरिद्री होने के कारण, यह जानते हुए भी कि इस कार्यकर्त्ता के द्वारा अपने गांव के लोगों को चरखा और खादी का उद्योग मिल कर उसके जरिये दो पैसे मिले हैं वे उसे छले बिना नहीं रहते। ऐसी स्थिति में कार्यकर्त्ता को हिसाब-वृत्ति और व्यापारिक तन्त्र समझकर ही अपना सब कार-बार चलाना चाहिए। उसे यह सावधानी रखनी चाहिए कि न तो स्वयं दूसरों को छले और न खुद दूसरों से छला जाय।

कार्यकर्त्ता को जीव-दया से प्रेरित होकर किसी को भी खादी-कार्य के लिए आवश्यक वस्तु मुफ्त में नहीं देना चाहिए। उदाहरणार्थ, कोई जान-पहचानवाला व्यक्ति आपके पास आकर खुशामद अथवा गिड़गिड़ाहट कर आपके पास का चरखा, धुनकी अथवा लोढ़न मुफ्त में व्यवहार करने को कहे तो उसकी खुशामद का शिकार होकर उसे कोई भी चीज मुफ्त में दे नहीं देना चाहिए। यह समझ रखना चाहिए कि कोई भी वस्तु मुफ्त में लेजानेवाला यह समझ कर कि उसमें अपने पैसे तो लगे नहीं, उसका मन-चाहा उपयोग करेगा, 'अगर टूट गई तो खादी-कार्यालय की टूटेगी' यह मान-कर बेपरवाही से उसे काम में लावेगा अथवा घर लेजाकर उसे यों ही पटक देगा। ऐसे कई उदाहरण सामने आये हैं कि ऐसे लोग इस तरह ले जाई गई वस्तु का कुछ भी उपयोग न कर उसे बेकार पटक रखते हैं। इसके विपरीत अगर वह वस्तु दाम लेकर अथवा किराये से दी जाय तो ले जाने वाला यह समझ कर कि 'मुझे इसके इतने पैसे देने पड़े हैं अथवा इतना किराया देना पड़ेगा, अत्यन्त सावधानीपूर्वक उसे काम में लावेगा।

इस प्रकार कार्यकर्त्ता को अपने सब व्यवहार में हिसाबी, दक्ष और

व्यवहार-कुशल रहना चाहिए। शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक किसी भी विषय में लापरवाही नहीं रखनी चाहिए।

जिस तरह कार्यकर्त्ता को इतना व्यवहार-कुशल होना चाहिए, उसी तरह उसका चरित्र भी अत्यन्त शुद्ध रहना चाहिए। चरित्र की शुद्धता पर ही उसके सारे कार्य का दारोमदार है। उसका चरित्र शुद्ध होने पर ही लोग उसे आदर की दृष्टि से देखेंगे और उसके कथन की कद्र करेंगे। उसे बाहर और भीतर एक समान शुद्ध रहना चाहिए। अगर उसके हाथों कोई नैतिक दोष हो जाय तो उसका सार्वजनिक जीवन चौपट हुआ ही समझना चाहिए।

कार्यकर्त्ता का खादी का काम करते हुए लोगों को 'खादी व्यवहार में लाओ, चरखा चलाओ' का केवल जबानी उपदेश देना कुछ उपयोगी नहीं है। बल्कि उसे स्वयं नियमित रूप से चरखे पर कात कर लोगों के सामने सक्रिय उदाहरण पेश करना चाहिए और खादी के पीछे छिपा रहस्य समझाना चाहिए।

जैसा कि 'खादी और ग्रामोद्योग' शीर्षक अध्याय में बताया जा चुका है, खादी का अर्थ शुद्ध स्वदेशी, शुद्ध स्वावलम्बन; खादी का मतलब है उद्योग; अपने फुरसत के समय का सदुपयोग; उसका अर्थ है भूखे लोगों को काम देकर उन्हें खाने के लिए दो रोटी देना,—बेकारी नष्ट करना; उसका मतलब है सादा रहन-सहन और उच्च विचार। ये सब बातें किसानों के मन पर अच्छी तरह बिठा देनी चाहिएं। लोगों की वृत्ति और आचरण में इसके अनुसार परिवर्त्तन होने पर ही खादी-कार्य की सफलता और यशस्विता समझी जानी चाहिए। इस उद्देश्य को पूरा न कर केवल बाहरी दृष्टि से चरखे की संख्या खूब बढ़ा देने और प्रचुर परिमाण में खादी तैयार करने से जनता के आन्तरिक सुधार का जो महत्त्व है, वह नहीं सधेगा।

कार्यकर्त्ता को गांव में रहते हुए केवल खादी के कार्य पर ही ध्यान देकर संतोष नहीं मान लेना चाहिए। उसे अपनी दृष्टि को जरा व्यापक

बनाना चाहिए और खादी-कार्य के साथ-साथ नीचे लिखे अनुसार सेवा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(१) ग्रामविषयक—गांव में जनता द्वारा निर्वाचित ग्राम पंचायत स्थापित की जाय। गांव में होने वाले दावानी और फौजदारी के सब मामले इस पंचायत द्वारा गांव-के-गांव में ही निपटा लिये जायं। गांव में दो दल हों तो कार्यकर्त्ता को अपना व्यवहार दलगत भेद-भाव से अलग रखना चाहिए, वह किसी भी एक दल में शामिल न होकर, अपना व्यवहार निष्पक्ष रखे।

(२) आर्थिक—गांव की आर्थिक स्थिति की देख-रेख रखे। लोगों का जमा-खर्च रखना सिखावे। ग्रामोद्योग शुरू करे। लोगों को गोरक्षा का महत्त्व समझावे।

(३) आरोग्य-विषयक—लोगों को अपने खान-पान में ऐसी नियमितता रखना सिखावे कि जिससे उन्हें बीमारी होने का कोई कारण ही न रहे। स्त्रियों के लिए बन्द जगह में और पुरुषों के लिए उनसे अलग चलते-फिरते किसानी सण्डास—पाखाने—बनाने को कहे। खाद के लिए खड्डे खोदने और सोन-खाद का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहन दे। लोगों में शराब न पीने का प्रचार करे, शरीर-संवर्धन के लिए अखाड़े खोले। कुछ चुनी हुई दवाओं का औषधालय खोलने की व्यवस्था करे।

(४) सामाजिक—मन्दिर, कुए आदि स्थानों पर हरिजनों का प्रवेश करावे। अन्यायमूलक सामाजिक रूढ़ियों को मिटावे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए 'शान्ति दल' स्थापित करे।

(५) राजनैतिक—कांग्रेस की राजनीति का समर्थन करते हुए तत्त्व का प्रचार किया जाय। किसी भी व्यक्ति के बारे में वाद-विवाद अथवा निन्दा-स्तुति में न पड़ा जाय। खास-खास अखबार पढ़कर सुनाये जायं। राष्ट्रीय महत्त्व की चुनी-चुनी बातें बोर्ड पर लिखकर सार्वजनिक स्थानों पर रखी जावें। वाचनालय-पुस्तकालय खोले जायं।

(६) धार्मिक—सन्त महात्माओं के उत्सव मनाये जायं। धर्म के सच्चे रहस्य समझाकर कहे जायं। बाहरी या ऊपरी आचार-विचार की

अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर अधिक ध्यान देने को कहा जाय। तत्त्व-विहीन भजन-मण्डलियां तोड़ दी जाय।

(७) सार्वजनिक—गांवों के लोगों में स्वार्थ-वृत्ति बहुत फैली रहती है। उनके विचार से सार्वजनिक कार्य का मतलब किसीका भी काम नहीं है। उनकी यह वृत्ति घातक है। उनके हृदय में दीर्घं पश्य मा ह्रस्वम्—क्षुद्र अथवा संकुचित नहीं वरन् सुदूर अथवा उदार-दृष्टि से देखने का तत्व बैठाने का प्रयत्न करना चाहिए। नई-नई सार्वजनिक सड़कें, कुए, तालाब और खेल-कूद के स्थान बनाने अथवा इस प्रकार के पुराने स्थानों की मरम्मत करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय।

सारांश—कार्यकर्त्ता को सावधानी पूर्वक क्षेत्र चुन लेने के बाद—

(१) अपने खादी-कार्य के सम्बन्ध में विशेषज्ञ और अन्वेषक होना चाहिए।

(२) खादी-कार्य की जड़ से—स्वच्छ कपास चुनने से आरंभ करके क्रम-क्रम से अपनी इमारत खड़ी करनी चाहिए।

(३) अपने आर्थिक व्यवहार में हिसाबी और चुस्त होना चाहिए,

(४) अपना चरित्र शुद्ध रखना चाहिए।

(५) लोगों को खादी का रहस्य समझा कर उसका प्रचार करना चाहिए, और—

(६) गांव के लोगों की तरह-तरह से, जितनी भी सम्भव हो सके, सेवा करनी चाहिए।

खादी की उत्पत्ति और बिक्री के संगठन में सैकड़ों उच्च-आकांक्षी युवकों के लिए अपनी बुद्धि, व्यवस्था-शक्ति, व्यापारिक चतुरता और शास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शित करने का व्यापक क्षेत्र खुला हुआ है। इस एक ही काम को सुचारु रीति से सम्पन्न कर दिखाने से राष्ट्र अपनी स्वराज्य-संचालन शक्ति सिद्ध करता है।

: २१ :

खादी का भविष्य

"यूरोप पर उन्माद छाया है। उत्साह-जैसी चीज कहीं भी दिखाई नहीं देती।...सामाजिक अस्थिरता, धार्मिक असहिष्णुता, बेकारी और नवयुवकों में फैले हुए अस्वास्थ्य के कारण यूरोप की आपत्तियां बढ़ती जा रही हैं। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' और 'चोरी और सिरजोरी' अन्तर्राष्ट्रीय नियम बन गये हैं। ऐसे सघन अंधकार में यूरोप को एशिया से ही प्रकाश मिलेगा और पूर्वीय संस्कृति ही संसार के दुःखों का निवारण करनेवाली औषधि दे सकेगी।"[1] सर टी० विजयराघवाचार्य

"जो तत्त्वज्ञान 'सेवा' और 'श्रम' के आधार पर अधिष्ठित है, वही अंत तक टिक सकेगा। जिस तत्त्वज्ञान के पीछे दूसरों का भक्षण (अपहरण) करने की भावना लगी हुई है, वह नष्ट हो जायगा। मेरा तो यह निश्चय है कि 'हिंसा की भित्ती पर खड़ी की गई सब इमारतें कच्ची हैं, और इस हिंसा का एक दिन चकनाचूर हुए बिना नहीं रहेगा।"

"दूसरे देशों में बाजार ढूंढ़ने और उन बाजारों पर अपना अधिकार कायम रखने के लिए हमें इंग्लैण्ड, अमेरिका और रूस—जैसे देशों की सामुद्रिक और सैनिक शक्ति से टक्कर ले सकने जितनी सेना खड़ी करनी होगी, और उसी के बल पर हमें अपनी सब योजनायें कायम करनी होंगी। नहीं, हमें यह नहीं पुसायगा। यह युग मनुष्यों को यन्त्र-मशीन बनाने के लिए हाथ धोकर पीछे पड़ा है। मैं यन्त्रशीनम—बने हुए व्यक्तियों को मनुष्य बनाना चाहता हूं।"[2] —महात्मा गांधी

१. १९ अगस्त १९३८ को शिमला में दिये हुए भाषण से।

२. छ. न. जोशीकृत 'आपणा आर्थिक प्रश्नो' पृ० २१९-२१७

यहांतक खादी के सम्बन्ध में पैदा होनेवाले जुदा-जुदा विषयों का विवेचन किया गया। अब इस अध्याय में हमेशा पूछे जानेवाले इस प्रश्न का कि 'खादी का भविष्य क्या होने वाला है ?' उत्तर देना है।

प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है और उसपर अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। इस प्रश्न के करनेवालों के मानसिक चक्षुओं के सामने पश्चिमीय देश और उनकी चमक-दमक हमेशा चमकती रहती है, अतः उनका ऐसा प्रश्न करना अत्यन्त स्वाभाविक है। हम भी हिन्दुस्तान और उक्त देशों की स्थिति को ध्यान में रखकर ही इस प्रश्न का उत्तर देंगे अर्थात् इसका उत्तर देते समय हमें अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विचार करना होगा।

आमतौर पर कहा जाता है कि आधिभौतिक दृष्टि से पश्चिमीय राष्ट्र बहुत उन्नत हैं। यह ठीक है कि भौतिक विज्ञान ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर टेलीफोन, रेडियो, हवाई जहाज आदि अद्भुत और चमत्कारिक वस्तुओं का निर्माण किया है और इसलिए इन वैज्ञानिकों की शोधक-बुद्धि के लिए उनके प्रति हमारा सिर नम्रता से नीचे झुके और उन्हें धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या इन आविष्कारों से कुल मिलाकर मानव-जीवन सुखी हुआ है ? क्या लोगों में सात्त्विक गुणों की अभिवृद्धि होकर जिधर देखो उधर ही वे सुख, आनन्द और शान्ति का उपभोग करते हैं, ऐसे दृश्य दिखाई देते हैं ?

पहले महायुद्ध में भीषण मनुष्य-संहार हुआ। कितने ही मुल्क और भौतिक मिल्कियत धूल में मिल गईं। उसे बीते २४ वर्ष भी नहीं हुए कि उससे भी भयानक दूसरे विश्वयुद्ध का आघात संसार के सिर पर आ गिरा। इस दूसरे विश्वयुद्ध की ज्वाला में कहीं कुछ शांति होने को है। उसी वक्त तीसरे विश्वयुद्ध की बातें खुले आम लोगों में बोली जा रही हैं। इस परि-स्थिति पर गौर करने के बाद क्या यह कहना वाजिब होगा कि लड़नेवाले ये देश सभ्य हैं ? एक इन्सान ने दूसरे इन्सान का माल उसकी इजाजत के बिना, जबरदस्ती से अगर लूटा तो उसे हम डकैत या चोर कहते हैं; उसी

तरह भौतिक हथियारों और शस्त्रों से अपने को तैयार रखने वाले ताकतवर देश कमजोर-छोटे पड़ौसी मुल्कों पर बलात् धावा बोल कर उनको हड़प करें, यह बात हमारी समझ में निरी जंगलीपन ही हो सकती है। इन शब्दों में इस बीसवीं सदी मे ऐसा नंगा नाच चल रहा हो, उन्हें कौनसा विचारशील व्यक्ति सभ्य राष्ट्र कह सकेगा ?

यूरोप की इस स्थिति का बारीकी-से अध्ययन कर सर टी. विजयराघवाचार्य ने जो उद्गार प्रकट किये थे, वे इस अध्ययन के आरम्भ में दिये गये हैं। इन उद्गारों में उन्होंने यूरोपीय राष्ट्रों को जिस रोग ने जकड़ रक्खा है, उसका अचूक निदान किया है और औषधि कहां से मिलेगी, इस सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की है, वह सर्वथा ठीक है। वह कहते हैं— "यूरोप के सघन अन्धकार में उसे एशिया से प्रकाश मिलेगा और संसार के दुःखों का निवारण करनेवाली औषधि पूर्वीय संस्कृति ही दे सकेगी।" किसी भी दूरदर्शी मनुष्य के यह बात सहज ही ध्यान में आ जायगी कि यह प्रकाश पूर्व अर्थात् हिन्दुस्तान के महात्मा गांधी की ओर से मिलेगा और वह औषधि होगी 'अहिंसा।'

६. अपने नीच स्वार्थ साधने के लिए इन लोगों को करोड़ों रुपये की सम्पत्ति अथवा दूसरे देश के करोड़ों बेकारों के मुंह में न डालकर आग के मुंह में डालने में जरा भी संकोच नहीं होता। इससे पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि ये लोग कितने हृदयशून्य एवं उलटी खोपड़ी के हैं। अमेरिका में यह व्यवहार किस तरह चल रहा है, एक लेखक ने उसका चित्र खींचते हुए लिखा था :

"अपने जीवन-कलह के नीच स्वार्थ की कोई सीमा बाकी नहीं रही। अमेरिका में अनेकों ऐसे करोड़पति पड़े हुए हैं जो यह नहीं जानते कि अपनी अपार सम्पत्ति का उपभोग किस तरह किया जाय; तिस पर भी वे लाखों बेकारों को अपनी नजरों के सामने भूख से तड़पते देखते रहते हैं! एक तेरहसौ फुट ऊंची इमारत में ऊपर जाने के लिए ७५ लिफ्ट्स (बिजली के;जोर से ऊपर चढ़नेवाले पालने) का उपयोग होता है और लोगों को

११५ वीं मंजिल पर पहुंचाया जाता है, जबकि दूसरी तरफ बहुतसों को रहने के लिए झोंपड़ी तक नहीं मिलती !

"कनसारा परगने में मेरी आंखों के सामने लाखों टन गेहूं नष्ट हो गये और 'टेक्सस' परगने में लाखों टन वजन की कपास की गांठें 'अग्नये स्वाहा' की गईं। ऐसा करने का उद्देश्य यही था कि गेहूं और कपास के भाव में गड़बड़ न हो और धनवान् लोग कम धनवान न हों । एक तरफ यह हो रहा था और दूसरी तरफ अनेक लोग फटे कपड़े पहने फिरते दिखाई देते थे। केवल अमेरिका में ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान और चीन में अनेक लोग बुभुक्षित और नग्नस्थिति में फिरते थे । ऐसी दशा में उसे संस्कृति कहा जाय अथवा कि जंगलीपन ?"[1]

यह हृदय-विदारक वर्णन पढ़ कर किसी भी विवेकशील व्यक्ति के हृदय में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति चिढ़ और सात्त्विक संताप हुए बिना न रहेगा। पाश्चात्य राष्ट्र इतने उन्मत्त—आक्रमणशील—बन गये हैं, इसका कारण यह है कि इनके सामने कोई उच्च ध्येय ही नही है । कम-से-कम, पूर्वीय संस्कृति इतनी नीच नहीं है कि करोड़ों लोगों को अपनी नजरों के सामने भूख से विह्वल और अर्द्धनग्न स्थिति में देखते हुए भी उन्हें अन्न और वस्त्र न देकर इन वस्तुओं को अग्नि के समर्पित कर दिया जाता।

१०. जिस समय ये राष्ट्र 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की आध्यात्मिक अहिंसक दृष्टि रखकर शासनकार्य चलावेंगे तभी उन्हें सच्ची शान्ति और सुख प्राप्त होगा। जबतक यह दृष्टि इन सब प्रमुख राष्ट्रों को हृदयगम नहीं होती और जबतक उनकी ओर से उसके अनुसार आचरण नहीं होता, तबतक यह निश्चित बात है कि वे कितने ही अद्भुत आविष्कार क्यों न करें उनसे अखिल मानव-समुदाय का कल्याण हो ही नहीं सकता।

११. इन राष्ट्रों को अगर आगे जीवित रहना है तो उन्हें अहिंसा की उपासना करनी ही होगी। आधुनिक आधिभौतिक आविष्कारों ने यातायात के साधन खूब बढ़ा दिये हैं और इससे राष्ट्र-राष्ट्र के बीच का अन्तर बहुत

१. कालेर हुयेर कृत "हमारा आर्थिक प्रश्न" पृष्ठ २२०

कम हो गया है । इससे स्थिति इतनी नाजुक होगई है कि एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करने पर संसार के सब राष्ट्रों पर उसका असर हुए बिना नहीं रहता।

अगर ये महायुद्ध टालने हों तो आज जो प्रबल राष्ट्र अपने लिए आवश्यक कच्चे माल के लिए दुर्बल राष्ट्रों पर अपने आक्रमण—हिंसा—करते हैं, वे आक्रमण—वह हिंसा—रुकने चाहिएं। प्रबल राष्ट्रों को अपने में ऐसी उदार अहिंसक-वृत्ति जाग्रत करनी चाहिए कि वे यह अनुभव करें कि दुर्बल राष्ट्रों को भी जीवित रहने का, अपने सद्गुणों का विकास कर सुख, सुविधा और शान्ति का उपभोग करने का स्वाभाविक अधिकार है। ऐसी वृत्ति उत्पन्न होने पर आज प्रबल राष्ट्रों को कच्चे माल के लिए जो दुर्बल राष्ट्रों पर अवलम्बित रहना पड़ता है, वह बन्द हो जायगा । यह निश्चय करना चाहिए कि कम-से-कम अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक राष्ट्र को स्वावलम्बी बनना चाहिए। क्योंकि अगर हम स्वावलम्बी नहीं बने तो हमें दूसरे पर अवलम्बित रहना पड़ेगा, अर्थात् उन बातों में दूसरे पर आक्रमण और हिंसा होगी ही । प्राथमिक आवश्यकताओं के सिवा बाकी दूसरी आवश्यकताओं में जो राष्ट्र जो वस्तु उत्पन्न नहीं कर सका, वह उसे दूसरे राष्ट्र से अवश्य लेनी चाहिए। मतलब यह है कि अहिंसा को अपनाये बिना सुख और शांति का लाभ हमें प्राप्त नहीं हो सकेगा।

इतने विस्तारपूर्वक विवेचन का कारण यह है कि आगे हम यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि खादी का भविष्य अहिंसा पर अवलम्बित है। क्योंकि पीछे इस सम्बन्ध में काफी विवेचन हो चुका है कि नीतिमूलक अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से खादी स्थायी रहने वाली है । अब अगर हिन्दुस्तान में अहिंसा टिकी—यदि हम अहिंसा के द्वारा स्वराज्य प्राप्त कर सके—तब खादी का भविष्य उज्ज्वल है, यह निःसंशय है। और हिन्दुस्तान की राज-नीति में अभीतक अहिंसा ने जो काम किया है उसे देखते हुए हमें इस बात में जरा भी सन्देह नहीं कि हम अहिंसा के जरिये स्वराज्य अवश्य प्राप्त

करेंगे। और अहिंसा से स्वराज्य मिलने के बाद अहिंसा के मार्ग से ही हम अपनी अन्य समस्या भी हल करेंगे। अहिंसा के इस मार्ग का ही अर्थ सच्चा खादी का मार्ग है। संक्षेप में कहा जाय तो अहिंसा की जो शक्ति है, वही खादी की शक्ति है; अहिंसा का भविष्य ही खादी का भविष्य है।

संसार में सुख, शान्ति और समृद्धि प्रस्थापित करनी हो तो उसके लिए 'हिंसा' नही, 'अहिंसा' ही उपयोगी सिद्ध होगी। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि संसार में 'अहिंसा' का प्रसार हो सकना असम्भव बात है; लेकिन महायुद्ध में हुए भयंकर मानव-संहार को देखकर जिन लोगों ने उसकी भीषणता को अनुभव किया है, वे यह मानने लगे हैं कि अहिंसा का प्रचार किये बिना संसार के उद्धार का और कोई उपाय नहीं है। इसके सिवा हमारा भी विश्वास है कि इस विचार-सरणी का अब तेजी से प्रचार होगा।

हिन्दुस्तान-मजदूर-सेवा-संघ के मंत्री तथा अहमदाबाद के मिल-मजदूरों के नेता श्री गुलजारीलाल नन्दा ने मजदूर-सम्मेलन में भाषण करते हुए निम्नलिखित मननीय उद्‌गार प्रकट किये थे—

"संसार के अनेक देशों में हिंसक साधनों द्वारा शान्ति और सुख प्राप्त करने के निष्फल प्रयास में जा मानव-संहार और सम्पत्ति का विनाश हुआ, उसके बजाय अगर उन देशों ने गांधीजी के सिद्धान्त और कार्य-पद्धति का अनुसरण कर कार्य किया होता तो आज यूरोप और दूसरी जगह जो गम्भीर स्थिति उत्पन्न होगई है, और भयंकर परिमाण में जो हानि हुई है, वह रोकी जा सकती थी। इतना ही नहीं, प्रत्युत संसार की अधिक प्रगति हुई होती और मानव-समाज का—सर्वसाधारण जनता का—कल्याण करना सम्भव होता। संसार में जो उथल-पुथल होती है, उस पर आज अपना नियन्त्रण नहीं है। किन्तु यदि गांधीजी के सिद्धान्त और कार्य-पद्धति को अमल में लाकर उसकी यथार्थता सिद्ध करने का अवसर हमें मिला तो हम केवल हिन्दुस्तान के ही प्रश्न को सफलतापूर्वक हल नहीं कर सकेंगे, बल्कि

दूसरे राष्ट्रों और वहां की जनता का भी इस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन कर सकेंगे।"

जिस समय संसार के प्रमुख राष्ट्रों को अहिंसा की कार्यक्षमता का अनुभव होगा तब ही वे उसकी दीक्षा लेंगे और फिर सचमुच 'विश्व-राष्ट्र-संघ' का निर्माण होगा। इस संघ में प्रत्येक राष्ट्र उसकी एक इकाई के रूप में सम्मिलित होगा। सारी सत्ता पहले विश्व-संघ में केन्द्रीभूत होगी और फिर वह प्रत्येक राष्ट्र में विभाजित की जायगी। प्रत्येक राष्ट्र की आन्तरिक, राजनैतिक, सामाजिक, औद्योगिक, आर्थिक और शैक्षणिक व्यवस्था उस राष्ट्र के केन्द्रीय संघ के पास ही रहेगी। यदि किन्हीं दो राष्ट्रों में कोई विवाद अथवा झगड़ा खड़ा हुआ तो उस अन्तर्राष्ट्रीय विवाद को फैसले के लिए विश्व-संघ के पास भेजा जायगा, और उसका फैसला इन युयुक्त राष्ट्र को मानना पड़ेगा। जो राष्ट्र विश्व-संघ के अनुशासन में नहीं रहेगा, विश्व-संघ उसका बहिष्कार करेगा और कोई भी राष्ट्र उसके साथ किसी तरह का सम्पर्क न रखे, यह आदेश जारी करेगा। ऐसा होने पर बहिष्कृत राष्ट्र विश्व-राष्ट्र-संघ से छिटक पड़ेगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक राष्ट्र की आन्तरिक व्यवस्था राष्ट्र के केन्द्रीय संघ के पास रहेगी। इस संघ में शामिल होने वाले भिन्न-भिन्न प्रान्त इसकी इकाइयां होंगी। यदि इन प्रान्तों में किसी एक-दूसरे प्रान्त में आपस में कोई झगड़ा हुआ तो वह राष्ट्र के इस केन्द्रीय संघ के पास भेजा जायगा और उसका फैसला इन दोनों झगड़ने वाले प्रान्तों को मानना होगा। राष्ट्र-संघ के आधार पर प्रान्तीय संघ, जिलासंघ, ताल्लुकासंघ, ग्रामसंघ आदि भिन्न-भिन्न संघ स्थापित होंगे और अन्तिम इकाई गांव होंगे। विश्व-राष्ट्र-संघ की केन्द्रीभूत सत्ता के विभाजन की क्रिया को यदि निर्दोष रखना हो तो अपना एक समुदाय बना कर रहने वाले छोटे समाज तक अर्थात् गांव तक वह पहुंचनी चाहिए।

नीचे दिये गये क्रम के अनुसार भिन्न-भिन्न इकाइयों की कल्पना स्पष्ट होगी—

विश्व-राष्ट्रसंघ

राष्ट्रसंघ

प्रान्तसंघ

जिलासंघ

ताल्लुकासंघ

ग्रामसंघ

ग्राम

प्रत्येक गांव अपने आन्तरिक व्यवहारों में पूर्णरूप से स्वतन्त्र होगा, अर्थात् ऊपर बताये गये राष्ट्र की तरह राजनैतिक, सामाजिक, औद्योगिक, आरोग्य और शैक्षणिक विषयों में अपनी स्थानीय परिस्थिति के अनुसार सब समस्याओं का हल करेगा। इस प्रकार प्रत्येक गांव स्वयं पूर्ण स्वायत्त और स्वावलम्बी होगा। केवल वस्त्र के ही सम्बन्ध में कहना हो तो प्रत्येक गांव ही क्या प्रत्येक घर वस्त्र-स्वावलम्बी होगा। उस समय हरेक घर में चरखे चलते दिखाई देंगे। किसी भी गांव में एक इंच-भर भी कपड़ा नहीं आयेगा। यह सब व्यवस्था अहिंसक आर्थिक-विधान (Planned Economy) के द्वारा पूरी की जा सकेगी।

प्रत्येक गांव दूसरे गांव के साथ हिल-मिल कर रहेगा। उनके आपस में पूरा सहयोग रहेगा। इसी कल्पना को अगर सूत्ररूप में व्यक्त करना हो तो यों कहा जा सकेगा कि "मानव्यनिष्ठ अन्योन्य सहकारी, स्वावलम्बी और स्वायत्त गांवों का निर्माण ही अहिंसा का राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतिसूत्र है।"

प्रत्येक गांव अगर इस तरह अहिंसामय, स्वायत्त और स्वावलम्बी हो जाय तो खादी का भविष्य उज्ज्वल होने में कोई सन्देह नहीं है। इस तरह अगर घर-घर और गांव-गांव चरखे चलने लगें तो सात लाख गांवों का संगठन होने में बहुत अधिक समय नहीं लगेगा। उस दिशा में स्वराज्य तो दूर रहेगा ही नहीं, साथ ही घर-घर 'समृद्धि, सुख और शान्ति' का साम्राज्य फैला हुआ दिखाई देगा।

गांधीजी की उत्कट इच्छा है कि सत्य और अहिंसा के मार्ग से स्वराज्य प्राप्त करने के विषय में हिंदुस्तान आगे बढ़े और संसार के सामने एक मिसाल पेश कर दे और इसीलिए इस दृष्टि से वे जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं। यदि हिन्दुस्तान ने इस विषय में दाग बेल डाल दी तो फिर दूसरे देश भी उसका अनुकरण करेंगे। आजकल जिस प्रकार 'सोशलिज्म' और 'कम्यूनिज़्म' का प्रचार संसार के सब देशों में होरहा है। उसी प्रकार अहिंसक समाज की रचना करके संसार में शान्ति किस प्रकार स्थापित की जाय इसका प्रचार भी सब देशों में अपने-आप होने लगेगा।

८ अगस्त १९४२ को बम्बई कांग्रेस महासमिति की सभा में जो प्रस्ताव पास हुआ वह संसार के अहिंसात्मक संगठन की दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है और स्वर्ण अक्षरों में लिखे जाने योग्य है। उसमें यह कहा गया है कि हिन्दुस्तान अहिंसात्मक साधनों से स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा। स्वतन्त्रता मिलने पर हिन्दुस्तान शस्त्र छोड़ देगा। इसके बाद हिन्दुस्तान की तरह जो देश निःशस्त्रीकरण कर देंगे, उनका एक संघ बनेगा। इस राष्ट्रसंघ के निर्माण हो जाने पर कोई प्रबल राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्र पर आक्रमण करेगा तो यह राष्ट्रसंघ अहिंसात्मक सत्याग्रह करके प्रबल राष्ट्र के आक्र-मण से दुर्बल राष्ट्र को मुक्त करेगा, इस प्रकार संसार में शान्ति स्थापित होगी।

इस प्रस्ताव की भाषा इस प्रकार है:—

"भारत की आजादी विदेशी गुलामी में पड़े हुए तमाम एशियाई राष्ट्रों की आजादी का चिन्ह और पूर्व की भूमिका होगी। बर्मा, मलाया हिन्दचीन, डच इण्डीज, ईरान और इराक आदि देशों को भी उनकी मुक-म्मिल आजादी मिलनी चाहिए। यह साफ समझ लिया जाना चाहिए कि इनमें से जो देश इस समय जापान के अधीन हैं, उन्हें बाद मे किसी दूसरी औपनिवेशिक ताकत के शासन या नियंत्रण में नहीं रखा जायगा।

"........अ० भा० कांग्रेस कमेटी की राय है कि भावी शांति, सुरक्षा और संसार की व्यवस्थित तरक्की के लिए आजाद राष्ट्रों का विश्व संघ

कायम होना चाहिए। अन्य और किसी आधार पर आधुनिक दुनिया की समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का विश्वसंघ उसके अंगभूत राष्ट्रों की आजादी को सुरक्षित कर दगा, एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण और आक्रमण को रोकेगा, राष्ट्रीय अल्प-संख्यकों को संरक्षण देगा, पिछड़े हुए इलाकों और लोगों की तरक्की करेगा और सबके समान हित के लिए दुनिया के साधनों का संग्रह संभव बना देगा। इस प्रकार के विश्व संघ की स्थापना के बाद सब देशों में निःशस्त्रीकरण संभव हो जायगा और विश्व-संघ की रक्षा-सेना विश्व-शांति की रक्षा करेगी और आक्रमण को राकेगी।"

परिशिष्ट

: १ :

अमेरिका के स्वतन्त्रता-युद्ध में खादी का महत्त्व

पश्चिमी उन्नति की चकाचौंध से चौंधियाये हुए लोगों को खादी का आन्दोलन राष्ट्र को पीछे ढकेलनेवाला, बीसवीं सदी के लोगों को सत्रहवीं सदी में ले जानेवाला, और मोटर में बैठनेवाले लोगों को बैलगाड़ी में बैठानेवाला आन्दोलन प्रतीत होता है,[1] लेकिन दूर-दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि वास्तव में यह आन्दोलन सर्वथा बे सिरपैर का नहीं है, बल्कि उसके पीछे ऐतिहासिक आधार है।

इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। यह स्पष्ट दिखाई देता है कि आज जो राष्ट्र आधिभौतिक उन्नति के उत्तुंग शिखर पर चढ़े दिखाई देते हैं, उनमें के कुछ पश्चिमी राष्ट्रों को जब हिन्दुस्तान की-सी वर्त्तमान विशिष्ट परिस्थिति में गुजरना पड़ा था, तब उन्होंने भी हाथ के कते सूत और हाथ-करघे का अवलम्बन किया था। उनके इस आन्दोलन का इतिहास मनोरंजक होने के साथ ही बोधप्रद है। महात्माजी के खादी के आंदोलन पर उससे प्रकाश पड़ता है, अतः यहां उसपर एक सरसरी नजर डाली जाती है।

इंग्लैण्ड एक अत्यंत स्वार्थी और साहसी व्यापारी राष्ट्र है। कई सदियों से उसकी यह व्यापारिक नीति चली आ रही है कि संसार के दूसरे राष्ट्र "यावच्चन्द्र दिवाकरौ" हमारी अन्न-वस्त्र की आवश्यकता-पूर्ति के लिए आवश्यक कच्चा माल पहुंचाते रहें और केवल हम ही उस कच्चे माल का पक्का माल बनाकर देनेवाले कारखानेदार राष्ट्र रहें।

अपने कपड़े के कारखाने जीवित रखने के लिए इंग्लैण्ड ने हिन्दुस्तान के साथ जो व्यवहार रखा, ठीक उसी तरह का व्यवहार उसने अपने अमेरिकन उपनिवेश तक के साथ रक्खा।

१. 'यंग इण्डिया' भाग १, पृष्ठ ५०३

मि० जे० आर० मेक्कुवाक नामक एक अंग्रेज लेखक ने उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में 'व्यापारिक कोष' नामक एक ग्रंथ लिखा है। उसके पृष्ठ ३१९ पर उन्होंने लिखा है—

"सन् १७७६ में अमेरिका में जो भयंकर विद्रोह हुआ, उसका मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार का उस उपनिवेश की व्यापारिक स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेना था।"

"ब्रिटिश सरकार ने उन लोगों पर यह पाबंदी लगाई कि उपनिवेश वासी अपना कच्चा माल सिर्फ ब्रिटिश बाजार में ही बेचें और अपनी आवश्यकता का माल इंग्लैण्ड के व्यापारियों और कारखानेदारों से ही खरीदें![1] इसके लिए सन् १६६३ ई० में इस आशय का कानून बनाया कि ब्रिटिश उपनिवेश में इंग्लैण्ड के सिवा यूरोप के किसी भी दूसरे राष्ट्र के खेतों में पैदा हुआ और कारखाने में तैयार हुआ माल न आने पावे। सिर्फ इंग्लैण्ड, वेल्स, अथवा बरविक-अपॉन-ट्वाइन पर चढ़ा हुआ माल ही उन उपनिवेशों में जाने पावे और वह भी ऐसे जहाज पर लदा हुआ जो इंग्लैण्ड में ही तैयार हुआ हो और जिसका मालिक और कुल खलासियों का तीन-चौथाई खलासी अंग्रेज हों।"[2]

अपने उद्योग धन्धों को उत्तेजन देने का इंग्लैण्ड का यह कैसा अट्टहास और अपने माल को दूसरों के सिर पर थोपने की कितनी जबरदस्ती है यह! उपनिवेश में प्रवेश करने वाला सारा का सारा माल इंग्लैण्ड का ही हो, और वह भी इंग्लैण्ड में तैयार हुए जहाज पर लदकर आना चाहिए और उस जहाज के मालिक और खलासी भी अंग्रेज ही होने चाहिएँ! अवश्य ही इंग्लैण्ड का स्वदेशाभिमान कौतूहलपूर्ण और अनुकरणीय है, लेकिन साथ ही अपना माल दूसरे राष्ट्रों पर लादने की उसकी जबरदस्ती अत्यन्त निन्द्य और तिरस्करणीय है।

१. श्री जी० ए० नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित 'Swadeshi Movement' नामक पुस्तक के पृष्ठ १४८ पर मि० फेल्स द्वारा उद्धृत।

२. पिछली बार का 'ओटावा पेक्ट' देखिए।

मेक्कुलाक साहब आगे कहते हैं—"उपनिवेशों के साथ व्यवहार करने की हमारी (अंग्रेजों की) इस नीति के उदाहरणों से इतिहास के पन्ने भरे हुए हैं। उपनिवेशों के साथ बर्ताव करने में इस तत्त्व को इतने महत्त्व का माना जाता था कि लार्ड चोथेम-जैसे राजनीतिज्ञ भरी पार्लमेण्ट में यह कहने से नहीं हिचकिचाये कि उत्तरी अमेरिका के ब्रिटिश उपनिवेशवालों को एक कील अथवा घोड़े की नाल तक तैयार करने का अधिकार नहीं है! जब कि कानून बनानेवाली पार्लमेण्ट के कानून इस तरह के हों और उपनिवेशों के मित्र कहलानेवाले पार्लमेण्ट के बड़े-बड़े अगुआओं के ऐसे निश्चयात्मक उद्गार हों, तब पहले लार्ड शेफील्ड ने अपने सार्वजनिक भाषण में जो उद्गार प्रकट किये, उन्हें सुनकर किसी प्रकार का आश्चर्य होने का कोई कारण नहीं है। उनके इन उद्गारों को उनके समकालीन व्यापारियों के ही उद्गार समझना चाहिए। उन्होंने कहा था—"अमेरिकन उपनिवेश और वेस्ट इण्डिया बन्दर का मुख्य उपयोग यही है कि वे अपना कच्चा माल हमारे हाथों बेचें और खुद अपने लिए हमारे यहां का पक्का माल खरीदें।"[1]

कितने स्पष्ट उद्गार हैं ये?

इससे भी अधिक स्पष्ट और कठोर व्यवस्था लार्ड कार्नबरी की दी हुई है। उन्होंने कहा था—

"इन उपनिवेशों को अपने को मुख्य वृक्ष (इंग्लैण्ड) की शाखायें मानकर पूर्णतया इंग्लैण्ड पर अवलम्बित रहकर उसी का पल्ला पकड़कर रहना चाहिए" और "उपनिवेशवासियों की जो यह धारणा है कि हम रक्त-मांस से अंग्रेज हैं, इसलिए हमें भी इंग्लैण्डवासियों की तरह अपने यहां कारखाने स्थापित करने चाहिएं, उसे जरा भी उत्तेजन नहीं मिलने देना चाहिए।"

उपनिवेश इंग्लैण्ड की तरह ही अपने यहां कारखाने स्थापित क्यों न करें, इसके लिए जो कारण दिये गये हैं वे अत्यन्त मार्मिक हैं। लार्ड कॉर्नबरी आगे कहते हैं—

१. जी. ए. नटेसन कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित "Swadeshi movement' नामक पुस्तक के पृष्ठ १४९ से उद्धृत।

"अगर उनका उक्त धारणा को उत्तेजन मिला तो उसका परिणाम यह होगा कि जिन लोगों को इंग्लैण्ड का पल्ला पकड़कर रहना पसन्द नहीं है, अगर उन्होंने एक बार इंग्लैण्ड की मदद के बिना ही सुखकर और सुन्दर वस्त्र अपने आप तैयार करने की शुरुआत कर दी, तो उनके अन्तःकरण में स्वतन्त्रता प्राप्त करने की जो इच्छा घर किये हुए है उसे जल्दी ही मूर्त्त रूप मिले बिना रह न सकेगा।"

इन उद्‌गारों से यह स्पष्ट है कि दूसरे राष्ट्रों को अपने ताबे में रखने की सत्ता-लोलुपता इंग्लैण्ड के रोम-रोम में भरी हुई है !

इंग्लैण्ड के जिन अमीर-उमरावों के हाथ में इंग्लैण्ड के व्यापार के सूत्र थे, उन्होंने लार्ड कॉर्नबरी की इस इच्छा का अनुसरण कर उपनिवेशों के सन और ऊन के कारखानों को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया।

सन् १६४१ में ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने यह निश्चय किया कि उपनिवेशों के माल से भरे हुए वर्जीनिया के बन्दरगाह से रवाना होने वाले कोई भी जहाज इंग्लैण्ड के सिवा और किसी भी दूसरे राष्ट्र के बन्दरगाह पर न जाने पावें।

इसके बाद एक ऐसा कानून बनाया गया कि १ दिसम्बर सन् १६९९ के बाद से अमेरिका के किसी भी ब्रिटिश उपनिवेश का ऊनी अथवा ऊन-मिश्रित माल किसी भी कारण से तथा जहाज, घोड़े अथवा गाड़ी आदि किसी भी सवारी के जरिये इन उपनिवेशों के बाहर न जाने पावे।

साथ ही यह भी कि इंग्लैण्ड में तैयार होनेवाले माल का सा माल तैयार करना ब्रिटिश सिक्के की नकल करने के सामान अपराध समझा जाता था और वैसा माल तैयार करने वाले को तदनुसार सजा दी जाती थी।

इंग्लैण्ड के ये और इस तरह के दूसरे कानून अमेरिका पर लादने पर अमेरिका ने भी उतने ही जोरों से उनका प्रतिकार शुरू किया। अमेरिका और हिन्दुस्तान इन दो राष्ट्रों पर इंग्लैण्ड द्वारा किये गये अत्याचारों में जैसा ऐतिहासिक साम्य दिखाई देता है, वही साम्य इन दोनों राष्ट्रों द्वारा किये गये प्रतिकारों में भी व्यक्त होता है। इन दोनों ही राष्ट्रों ने

इंग्लैण्ड का जो प्रतिकार किया, उसका इतिहास अत्यन्त बोधप्रद और मनोरञ्जक है। अमेरिका द्वारा किये गये प्रतिकारों का हाल पढ़ते समय यही प्रतीत होता है, मानों हम हिन्दुस्तान की वर्तमान स्थिति का हाल पढ़ रहे हों। इतिहास की पुनरावृत्ति किस तरह होती है, उसका यह एक मजेदार उदाहरण है।

अमेरिका ने वैधानिक ढंग से किस तरह इंग्लैण्ड का प्रतिकार किया, इस पर संक्षेप में एक नजर डालिए।

आयात-प्रतिबन्धक प्रस्ताव

भिन्न-भिन्न उपनिवेशों ने पहले नीचे लिखे अनुसार एक प्रस्ताव किया—"सामान्यत: सब विदेशी माल और विशेषकर अमेरिका से उत्पन्न अथवा तैयार हुई चाय और शराब-जैसे अनावश्यक पदार्थ अमेरिका के तट पर न आने दिये जायं, न खरीद किये जायं, न उनका उपयोग किया जाय।"[१]

ऐसे प्रस्ताव पर प्रमुख नागरिकों के हस्ताक्षर कराने का काम जोरों से शुरू हुआ।

पत्र व्यवहार-समितियां—विदेशी माल की आमद रोकनेवाले इस प्रस्ताव का महत्त्व जनता के हृदय में बिठाने के लिए 'पत्रव्यवहार-समितियां' स्थापित की गईं और उक्त प्रस्ताव को जगह-जगह भेजने का काम इनके सुपुर्द किया गया।

निरीक्षण-समितियां—सारे देश-भर में दक्ष और विवेकशील पुरुषों की 'निरीक्षक समितियां' चुनी गईं। इनके जिम्मे "माल का लेन-देन करनेवाले दूकानदारों और ग्राहकों के व्यवहार पर सूक्ष्म देख-रेख रखने और उपरोक्त प्रस्ताव को अमल में न लानेवालों के नाम प्रकाशित कर उन्हें 'जनता का उपहासपात्र और कोप-भाजन बनाने' की व्यवस्था" का काम दिया गया।

उपनिवेशवाले केवल प्रस्ताव पास करके और समितियां स्थापित करके ही चुप नहीं बैठ गये, बल्कि देशा उद्योग-धंधों को उत्तेजन देने और

१. 'Swadeshi Movement' पृष्ठ १५१

विदेशी माल के त्याग के साथ-साथ रचनात्मक कार्य भी करने लगे।

चरखे का संगीत —हाथ-कते सूत के कपड़ों का व्यवहार करने वाले मण्डल—विवाह समारंभों पर खादी का उपयोग

"जगह-जगह पर लोग कहने लगे चरखे का संगीत वीणा अथवा सितार से भी अधिक मधुर और श्रवणीय है। हाथ-कते सूत के कपड़े पहननेवालों के मण्डल स्थापित किये गये। इन मण्डलों के सदस्य के स्वागत-समारम्भ अथवा उत्सव आदि के मौकों पर इनके शरीर अथवा टेबल पर हाथ-कते सूत के कपड़े के सिवा और कोई दूसरा वस्त्र काम में नहीं लाया जाता था। विवाह-समारम्भ भी स्वदेशाभिमान के सिद्धान्त पर होने लगे। दिसम्बर सन् १७६७ में 'फ्लिण्ट' नामक कुमारी के विवाह प्रसंग पर आये हुए बहुत से मेहमान घर में तैयार हुए कपड़े ही पहनकर आये थे। स्त्रियों तक ने रेशमी वस्त्र, विभिन्न प्रकार के फीतों और पट्टों का व्यवहार छोड़ दिया था। मेहमानी के पदार्थ विपुल और नाना प्रकार के होने पर भी सब स्वदेशी ही थे। देशी वनस्पति-जन्य 'लेब्राडर चाय' लोकप्रिय पेय था।"[१]

"ब्रिटिश वस्त्रों का बहिष्कार सफल करने के लिए अमेरिका के प्रेसीडण्ट स्वयं जार्ज वाशिंगटन और उनका सारा कुटम्ब कातने-बुनने के काम में निमग्न हो गया था। जहां राष्ट्र का प्रधान स्वयं कातता हो वहां 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः' के न्याय से दूसरे सामान्य लोग भी कातने-बुनने में लग जायं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? बहिष्कार को सफल बनाने के लिए उन लोगों ने अपने माल की महंगाई अथवा मोटे-झोटेपन पर कुछ ध्यान नहीं दिया।"[२]

"अमेरिकन उपनिवेशों की अपने घरेलू उद्योग-धंधों को उत्तेजन देने की भावना इतनी तीव्र थी कि वहां अपने यहां तैयार होनेवाले मोटे-झोटे कपड़े का पहनना ही आदरणीय समझा जाता था। ऊन के बारीक और लम्बे अर्ज के कपड़े करघों पर बुने नहीं जा सकते थे, इसलिए छोटे

१. श्री फेल्प्स 'Swadeshi Movement' पृष्ठ १५३ में
२. 'बम्बई क्रॉनिकल' के ६ दिसम्बर १९२८ के अंक के अग्रलेख से

ऊर्ज के मोटे झोटे कोट समाज में विशेषरूप से प्रचलित होगये और उन का पहनना अधिक सम्मान का लक्षण समझा जाने लगा। अपने वस्त्रों के लिए भेड़ों से अधिक-से-अधिक ऊन प्राप्त हो सके, इस खयाल से बॉस्टन के लोगों ने 'खाने के लिए' भेड़ों का उपयोग ही न करने का प्रस्ताव पास किया।"[1]

अपने राष्ट्र के स्वाभिमान की रक्षा के लिए अमेरिकन लोगों ने कातने-बुनने का काम जोरों से शुरू किया। स्वयं राष्ट्रपति और उनके सब कुटुम्बी-जन कातने-बुनने लगे, खादी-मण्डल स्थापित किये गये, विवाह संस्कार भी खादी के वस्त्रों में होने लगे, खादी का व्यवहार सम्माननीय लक्षण समझा जाने लगा। इतना ही नहीं प्रत्युत खादी के लिए ऊन की पूर्ति करने के उद्देश्य से लोग अपनी जिह्वा-लोलुपता पर भी अंकुश रखने के लिए तैयार हो गये और सुस्वादु ब्रिटिश चाय छोड़ कर देशी वनस्पतिजन्य लेब्राडर चाय पीने लगे।[2]

क्या ये सब बातें भारतवर्ष के लिए—भारत के सुशिक्षित नवयुवकों के लिए—शिक्षाप्रद नहीं है? १५० वर्ष पूर्व अमेरिका पर जो संकट था वही,—प्रत्युत उससे भी कई गुना भयंकर संकट—आज हिन्दुस्तान पर आया हुआ है और इसीलिए अगर उसने आत्यन्तिक स्वावलम्बन का तत्त्व सिखाने वाली खादी का अवलम्बन किया तो इसमें उपहास करने जैसी कौनसी बात है? अमेरिका में कातने-बुनने की पुरानी प्रथा न होने पर भी उसने इतना कमाल का प्रयत्न किया, सचमुच यह बात उसके लिए अत्यन्त प्रशंसा की है।

१. श्री फेल्प्स की 'Swadeshi Movement' के पृष्ठ १६२ में तथा पृ. ३०७ में लेकी का वक्तव्य भी देखिये।

२. अमेरिका का ऐसा उज्ज्वल उदाहरण नजरों के सामने मौजूद होते हुए भी जो भारतीय नेता स्वयं सूत कातकर अपने उदाहरण से लोगों के मनों पर स्वयं सूत कातने और खादी पहनने की छाप डालना चाहते हैं, उनका मजाक उड़ाने अथवा टीका करने वाले देशभक्त हिन्दुस्तान में मौजूद हैं ही।

इस प्रकार हमने देखा कि इंग्लैण्ड के अमेरिका की व्यापार-विषयक स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने का प्रयत्न करने पर किस प्रकार अमेरिका ने स्वावलम्बन के तत्त्व का अवलम्बन कर हाथ-कते सूत और हाथ-बुने कपड़े को स्वीकार कर उसका प्रसार किया।

: २ :

संसार में हाथ के व्यवसाय का स्थान

पाठकों को याद होगा कि 'कपड़े के धंधे की हत्या' शीर्षक अध्याय में हम देख आये हैं कि अठारहवीं सदी के द्वितीयार्द्ध में जब हिन्दुस्तान की रंगबिरंगी छींटों, बारीक मलमल और रेशमी माल ने इंग्लैण्ड की महारानी अमीर-उमराव और दूसरे बड़े-बड़े लोगों के घरानों में प्रवेश किया तो स्वयं ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने सन् १७७४ में इस आशय का एक अत्यन्त महत्त्व का कानून बनाया कि "इंग्लैण्ड में बिक्री के लिए आने वाला माल इंग्लैण्ड में ही कता-बुना होना चाहिए।" यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि मुक्त वाणिज्य या खुले व्यापार की डींग हांकने वाले इंग्लैण्ड तक ने अपने उद्योग-धंधों की रक्षा करने के लिए हाथ-कते सूत का और हाथ की बुनाई का अवलम्बन किया था।

इस पर कुछ लोग यह आपत्ति करेंगे कि यह ठीक है कि राजनैतिक अथवा औद्योगिक संकट आने पर अमेरिका और इंग्लैण्ड ने हाथ के सूत और हाथ की बुनी ऊन की खादी का अवलम्बन किया, लेकिन यह तो सत्रहवीं और अठारहवीं सदी की बात हुई। उस समय 'मशीन युग' स्थापित नहीं हुआ था, अथवा वह पूरी तरह जम नहीं सका था, इसलिए उन्हें (इंग्लैण्ड और अमेरिका को) ऐसा करना उचित प्रतीत हुआ और उन्होंने ऐसा किया इसमें आश्चर्य होने जैसी कोई बात नहीं है। लेकिन आज जब कि पश्चिमी देशों में जहां-तहां मशीनों की भरमार हो रही है, उस दशा में रखे और हाथ के करघे—जैसे घरेलू धंधों का चल सकना सम्भव नहीं है।

इस आपत्ति पर सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी लेखक प्रिंस कोपाटकिन कहते हैं:—छोटे-छोटे धंधों का क्षेत्र सर्वथा स्वतन्त्र है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि बड़े-बड़े औद्योगिक शहरों में भी छोटे-छोटे धन्धे अभी तक जारी हैं।"[१]

"संसार के प्रत्येक देश में बड़े-बड़े कारखानों के साथ-साथ बहुत से छोट-छोटे धन्धे चलते रहते हैं। विचित्र-विचित्र तरह का माल तैयार करने और फैशन की चमक-दमक पैदा करने में ही इन धन्धों की सफलता की कुञ्जी है। ऊना और ऊन तथा सूत-मिश्रित माल के सम्बन्ध में तो हमारा यह कथन और भी विशेष रूप से लागू होता है।"[२]

'ज्यों-ज्यों अधिकाधिक खोज एवं आविष्कार होते जाते हैं, त्यों-त्यों ऐसे छोटे-छोटे धन्धों की हमें विशेष आवश्यकता होगी।"[३]

अस्तु, संक्षेप में कहा जाय तो यों कहना चाहिए कि यूरोप के कितने ही राष्ट्रों में आधुनिक मशीन-युग में भी चरखे, तकली और खादी का स्थान और आवश्यकता अभी तक मौजूद है। यूरोपीय राष्ट्रों के गांवों में आज क्या दिखाई देता है, वह नीचे देखिए[४]—

इंग्लैण्ड

कुमारी एलिसन मेकारा नाम की लेखिका इंग्लैण्ड में चरखे के प्रचार के सम्बन्ध में लिखती हैं—"इस समय भी स्वयं हमारे इंग्लैण्ड में भी चरखे चलते हैं और उनके सूत से कुछ तरह का माल तैयार होता है। उनके कभी नष्ट होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अनेक मनोहर कथानकों में चरखे का वर्णन दिखाई देता है। अपने साहित्य में भी समय-समय पर उसका उल्लेख आता है। काम करनेवालों को चरखा विश्राम देता है

१. प्रिंस क्रोपाटकिन कृत 'Field, Factories and Workshops पृ० २४८.

२. प्रिंस क्रोपाटकिन कृत " " " " पृ० २६१.

३. " " " " " "

४. ग्रेग कृत 'Economics of Khaddar' पृष्ठ ५०,

ग्रौर ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके साथ ही साथ ग्रादर्श गृह-व्यवस्था होती दिखाई देती है। बाद में ग्राविष्कृत हुई ग्रनेक कल्पनाग्रों के बीज इस चरखे में ही छिपे हुए थे।"[1]

श्री ग्रेग ने भी ग्रपनी पुस्तक 'खद्दर का सम्पत्ति शास्त्र' (Economics of Khaddar) में भी इंग्लैण्ड ग्रौर ग्रमेरिका में ग्रभी तक चरखे चलने का उल्लेख किया है।[2]

स्काटलैण्ड

"हिंदुस्तान के तामिल प्रान्त में तिरुपुर नामक स्थान पर ग्रखिल-भारतीय चरखा-संघ का एक बड़ा भारी खादी वस्त्रालय है। यहां प्रति वर्ष लाखों रुपये की खादी तैयार होती है। गांवों में सूत कतवाने, वस्त्र बुनवाने, रंगवाने ग्रादि सब काम इस वस्त्रालय के जरिये ही होते हैं।

इस वस्त्रालय के ग्राधार पर ही स्काटलैण्ड के एडिनबरा नामक स्थान पर 'हेरिस ट्वीड ट्रेडिंग कम्पनी' नामक संस्था है। इस कम्पनी का सब माल हाथ का कता, हाथ का बुना, ग्रौर रंगा होता है। यहां के माल की मुलायमियत ग्रौर टिकाऊपन की संसार-भर में प्रसिद्ध है। गांव के लोगों के लिए यह कम्पनी या कारखाना एक ग्रत्यन्त हितकारक संस्था प्रतीत होती है। टारबर्ट के लोगों को काम देने के लिए वहां ऊन की धुनाई के दो कारखाने स्थापित किये गये हैं ग्रौर एक भण्डार भी खोला गया है। इस भण्डार में वहां के लोग ग्रपने घर पर बुना ग्रौर रंगा हुग्रा माल बिक्री के लिए लाते हैं।

शेटलैण्ड टापू में रहने वाली शान्त स्वभाव की महिला लता बेल से ग्राच्छादित पर्णकुटीमें बैठकर मुलायम ग्रौर बढ़िया ऊन धुनती ग्रौर कातती है। इस ऊन के कारण ही यह टापू प्रसिद्ध है।[3]

इटली

इटली के खेतिहरों—किसानों की स्त्रियां हमेशा ग्रपनी फुरसत के

१. श्री सी. बालाजीराव कृत Khaddar Titbits से

२. पृष्ठ १०६ पर

३. सी. बालाजीराव —'चर्खा और तकली' से

समय—और सर्दी के दिनों में शाम को—अपनी पशुशालाओं के पास बैठकर अपने हस्त-कौशल के ऐसे काम किया करती हैं। वे यह काम किसी तरह का मुआवजा या पुरस्कार पाने अथवा द्रव्योपार्जन के लिए नहीं, बल्कि अपने खुद के और अपने कुटुम्बीजनों के वस्त्र तैयार करने के लिए करती हैं।

जिलों के गांवों में कातने-बुनने का काम साधारणतया हम जितना समझते हैं उसकी अपेक्षा कहीं अधिक परिमाणमें जारी है। अर्वाचीन कारखानों की बेसुर और कर्कश आवाज की तुलना में कहीं अधिक सौम्य और शान्त प्रतीत होनेवाला यह काम किसानों की झोंपड़ियों में प्रच्छन्न, किन्तु अस्खलित रूप में अभीतक भी जारी है।

बुनाई का काम इटली के खेतिहरों का एक मुख्य और सामान्य काम हो गया है। अपने बोये-निराये और काटे हुए सन और अम्बाड़ी से सूत निकालकर और उसका कपड़ा बुनकर उस कपड़े के लम्बे-के-लम्बे थान की घड़ी करने या लपेटने में किसान-स्त्रियों को बड़ा स्वाभिमान अनुभव होता है।

जिस प्रकार दक्षिण इटली में स्त्रियां रामबास या सन का काम करती हैं, उसी तरह एवजी भाग में और उस प्रदेश की कक्षा के पशुओं की चराई के लिए सुरक्षित जिलों में स्त्रियां ऊन का काम करती हैं। वहां पर ताजी कटी ऊन को साफ करने और जंगली फूलों और वनस्पतियों से अथवा पेड़ों पर लगे हुए फूलों और छाल से रंग तैयार कर उस रंग से उक्त ऊन को रँगने का काम स्त्रियों को सौंपा जाता है।

इन मोटी-झोटी और रुएंदार ऊन से स्त्रियों के झगे, पुरुषों के चमचमाते झगे और अनेक प्रकार के सुन्दर वेल-बूटों की दरियां और कालीन अब भी तैयार होते हैं।

यान्त्रिक—मशीन की—प्रगति लगातार जारी होते हुए भी और विषयों की तरह तकलियां अपना पहले का सम्माननीय स्थान फिर प्राप्त करती जा रही हैं।

सरकार अथवा सरकारी अधिकारियों की सहायता के बिना ही राम-इटली में स्त्रियों के अपने निजी और व्यक्तिगत प्रयत्नों से ही 'स्त्री-उद्योग-

मण्डल' नाम की एक संस्था स्थापित हुई है[1]।

पोलैण्ड

वारसा जिले के खेतिहरों की झोंपड़ियों में चरखा और हाथ के करघे का सम्मानीय स्थानीय स्थान अभी भी कायम है। अपने ही घरों में कते हुए सूत का माल पहनने का उनका दृढ़ निश्चय होने के कारण वे अपनी पोशाक में कदाचित ही परिवर्त्तन करते हैं।

हंगरी

हंगरी के पहाड़ और घाटियों पर और हरियाले ठंडे मैदानों में नंग पैर ही स्वच्छंदता से घूमती हुई स्त्रियां तकली पर सूत कातने के काम में इतनी निमग्न रहती हैं कि उनकी अंगुलियां विश्राम लेना जानती ही नहीं। इस तरह के साधारण ढंगों से हंगरी ने अपने बहुत से प्राचीन धंधे कायम कर रखे हैं।

रूमानिया

रूमानिया की डेरियों या पशुशालाओं में काम करने वाली कुमारियां दोनों काम करती हैं। जंगल में अपने हाथों से तकली पर सूत कातने में मग्न रहती हैं और शाम को पशुओं को अपने घर वापस ले आती हैं। तकली का उपयोग सब जगह होता है,

रूमानिया की किसान-स्त्री परम्परा से चली आने वाली रूढ़ियों का अत्यन्त आदर करती हैं। आज भी कातना उसका एक विशिष्ट धंधा है।

ऐसा शायद कभी होता हो जब कि अपने फुरसत के समय में रूमानियन स्त्री के हाथ में तकली न हो।

सर्बिया

युगोस्लाविया में खासकर सर्दी के दिनों में स्त्रियों के पास काम नहीं रहता, तब वहां कातने, बुनने के और दूसरे घरेलू उद्योग चलते हैं। ऑक्स्फ़ोर्ड में बहुत से पुराने धन्धे जोरों पर पहुंच गये हैं, लेकिन

१. १ नवम्बर सन् १६२८ के 'यंग इण्डिया' में Elisu Ricei की "Women's Crafts" नामक पुस्तक से श्री सी. बालाजीराव द्वारा संग्रहीत उद्धरण।

स्त्रियों को कातने से बढ़कर और कोई दूसरा धन्धा पसन्द नहीं आता।

ग्रीस (यूनान)

डेल्फी के पास एक पहाड़ी पर यह दृश्य दिखाई दिया कि एक ग्रीक कुमारी घोड़े पर सवार होकर पहाड़ी रास्ता पार करते समय हाथ से तकली पर सूत कातती जाती है। यह एक अजीब दृश्य है और दूसरी जगह शायद ही दिखाई दे। यह प्रसिद्ध है कि अपने घोड़े की चाल के सम्बन्ध में उसका आत्म-विश्वास होने और घोड़े के अपने हुक्म में होने के कारण वह पहाड़ी रास्ता पार करते समय भी अपने कातने के काम में निमग्न रहती थी और अपना दुपहरी का समय भी कातने के काम में ही बिताती थी।

ग्रीक स्त्रियों में कातने का काम बहुत पुराने समय से होता आया है और ग्रीक देश का प्रत्येक घर एक तरह का कारखाना ही मालूम होता है। वहां का खेतिहर—किसान—करघे पर काम करता है। जगह-जगह लंकाशायर का माल उपलब्ध होते हुए भी किसी भी मनुष्य का ताना-बाना बुनने का काम सीखने और उसके करने में अपना बहुत-सा समय बिताना कदाचित् आश्चर्यजनक प्रतीत होगा; लेकिन ग्रीस देश के कुछ भागों में यह धन्धा काफी जीवित है और वहां तैयार हुआ माल हम जितना सम्भव समझते हैं इससे भी अधिक उपयुक्त ठहरता है।

पेरू

पेरू देश की चोला स्त्री अपने बच्चे का लालन-पालन अथवा अपनी भेड़ बकरियों की साल-सम्हाल करते समय भी हमेशा कातती हुई दिखाई देती है। उसके हाथ की तकली हमेशा फिरती ही रहती है। उस पर वह कच्ची ऊन के गेंद से मोटा सूत कातती है। आवश्यक पदार्थ मिलने के ठिकानों से दूर पहाड़ियों एवं घाटियों के निवासी होने के कारण वहां की स्त्रियां इस प्रकार ऊन कातकर अपने लिए आवश्यक अधिकांश वस्त्र तैयार करती हैं।[1]

१. श्री सी. बालाजीराव की अंग्रेजी पुस्तिका 'Charkha and Takli'

इस प्रकार यन्त्रों—मशीनों—के पीहर बने हुए यूरोप, अमेरिका तक में अभी तक चरखे, तकली और खादी का स्थान है, तब क्या हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान राष्ट्र में इनका जोरों से प्रसार करना लाभप्रद नहीं है ?

: ३ :

पारिभाषिक शब्दों की अर्थ-सहित सूची

अटेरन--तकुए अथवा तकले पर से जिस पर सूत लपेटा जाता है वह स्वस्तिक अर्थात् सतिये की आकृति का चौखटा।

कणा (चरखी या लोढ़न का)--चरखी या लोढ़न पर कपास में से बिनोला अलग करने के लिए जो दो शलाखें होती हैं, उनमें से लाट को घुमानेवाला रूल।

काकर या कुंच—धुनकी अथवा पींजन के कुन्दे पर जिस स्थान में तांत का आघात होता है, उस स्थान में लकड़ी की रक्षा करने और तांत से निकलनेवाली आवाज को मधुर बनाने के लिए लगाई जानेवाली बकरी के कच्चे चमड़े की पट्टी।

कुन्दा, पटड़ा या पंखा--धुनकी का तोल समान रहने और तांत का काम काफी समय तक टिकाने के लिए पंखे के आकार का पटड़ा।

गराडी या गिर्री—तकुवे पर माल फिराने के लिए लगी हुई लोहे की गिर्री।

चकरी या दिमरका--तकुवे पर धागा लपेटते समय धागा कुकड़ी के पीछे न जाने पावे, इसलिए चरखे के तकुए में लगाई जानेवाली लोहे या टीन की गोल पैसे-नुमा चकरी।

चमरखा—वह चमड़े का टुकड़ा जिसके आधार पर तकुवा घूमता है।

चर्खी—कपास में से रुई और बिनौले अलग करने का साधन।

जोत या अधवाइन--चक्रदार चरखे के पहिये की पंखड़ियों के सिरे पर बांधी जानेवाली रस्सी या डोरी।

तकुवा--लोहे की नुकीली सलाई जिस पर सूत काता जाता है।

तांत--धुनकी या पींजन से रुई पींजते समय रुई गांठ तोड़कर उसके तंतु अलग करने के लिए बकरी की आंत या पुट्ठे में से बटकर तैयार की गई मजबूत डोरी।

मूठ या मुठिया—धुनने के लिए धुनकी की तांत पर जिससे आघात किया जाता है वह मुगदर।

पीढ़ा--सूत कातने के समय बैठने के लिए काम में लाई जानेवाली चौकी।

परेता या फालका—तकली या तकुवे पर की कुकड़ी का सूत उतार कर लटी बनाने का साधन।

बेअरिंग—चक्र फिराने के लिए सहारा देने वाला दो स्थानों का आधार।

भेलनी, पींद या मूडी—चरखे के पहिये के बीच का मोटा लट्टू।

माल--चरखे के चक्कर पर से घूमते हुए तकुवे को घुमाने वाली बारीक डोरी।

मोढ़िया या मोहरा--चमरख धरने के खूंटे उसके आधार सहित।

लाट--चर्खी पर कपास में से बिनौले अलग करने के लिए जो दो शलाखें लगी होती हैं, उनमें की घूमती हुई शलाख।

साडी या गाभा--कातते समय तकुवा घुमाने के लिए उस पर जिस स्थान में माल की रगड़ बैठती है, उसका मोटापन बढ़ाने के लिए उस पर सूत, गोंद आदि लगाकर बनाया गया जमाया लपेटा।